भारतीय संस्कृति

ऐतिहासिक अवलोकन

(भारत की प्राचीन, मध्यकालीन एवं अर्वाचीन संस्कृति का
आलोचनात्मक इतिहास)

‑‑तीय भाग

(मध्य‑ एवं अर्वाचीन संस्कृति)

लेखक :

श्री मोहनलाल विद्यार्थी, एम० ए०,

‑ध्यक्ष इतिहास विभाग, डी० ए० वी० कालेज, कानपुर

प्रकाशक :

मोतीलाल सुकुल

नयागंज, कानपुर।

१९५४

प्रथम संस्करण

विषय-सूची

ग्यारहवाँ अध्याय

मध्यकाल की भूमिका

मध्यकाल में भारत का साँस्कृतिक इतिहास सम्राट हर्ष की मृत्यु (ईसवी सन् ६४७ में) के बाद से प्रारम्भ होता है और १८वीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के पतन के साथ समाप्त होता है। इस भूमिका के अन्तर्गत अपने साँस्कृतिक इतिहास की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने के लिए हम संक्षेप में इस काल के राजनीतिक इतिहास पर प्रकाश डाल रहे हैं।

हर्ष के साथ-साथ भारतीय इतिहास की आंशिक एकता का अन्त हो जाता है और १२वी शताब्दी के अन्तिम वर्षों तक यह एकता किसी भी मात्रा में पुनः नहीं आती। इस काल में भारत में कई स्वतन्त्र राजवंशों के राज्य हो गए थे। उत्तर भारत में ये राजवंश मुख्यत: राजपूत थे। हर्ष से लेकर राजपूतों के उदय तक के समय में ईसवी सन् की पाँचवीं तथा छठवीं शताब्दी में भारत में आए हुए भिन्न-भिन्न विदेशी जातियों के दल हिन्दुओं में विलीन हो गए थे। राजपूत वंशों में मे अनेक इन्हीं विदेशी जातियों की सन्तति थे।

हर्ष की मृत्यु के बाद से लेकर भारत मे मुसलमानों के आगमन के बीच के ५५ वर्षों में भारत अनेक बड़े-बड़े राज्यों में विभाजित हो गया था। इस बीच इनमें इतने अधिक उथल-पुथल और युद्ध होते रहे कि उन सबका वर्णन करना सम्भव नहीं है। इसलिए हम यहाँ पर केवल भारत के कुछ अधिक प्रसिद्ध राज्यों के इतिहास की कुछ मुख्य-मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डाल रहे हैं।

उत्तर में काश्मीर, कन्नौज, बंगाल और बिहार के पाल तथा सेन, बुन्देलखण्ड के चन्देल, गुजरात, मालवा, दिल्ली और अजमेर मुख्य राजपूत राज्य थे।

(१) काश्मीर :— सबसे पहले काश्मीर कर्कोट राजवंश का राज्य था और उसके बाद यहाँ उत्पल राजवंश का राज्य आया। इस वंश में अवन्तिवर्मन नामक सबसे प्रमुख राजा हुए थे जिन्होंने ईसवी सन् ८५५ से

८८३ तक राज्य किया था। उनके मन्त्री सुइया के अधीन इंजीनियरिंग के बड़े-बड़े काम किए गए थे। चौदहवीं शताब्दी तक यहाँ हिन्दू राजाओं का राज्य था और इसी शताब्दी में इसे मुसलमानों ने विजय किया। बारहवीं शताब्दी में कल्हण ने प्रसिद्ध ग्रन्थ "राजतरंगिणी" में इसका इतिहास लिखा। काश्मीर में मध्यकाल का इतिहास बहुत भ्रमपूर्ण है और इस काल में यहाँ के राजाओं को प्रजा के साथ दुर्व्यवहार करते हुए और किसानों को लूटते हुए दिखाया गया है।

(२) कन्नौज:—हर्ष की मृत्यु के बाद कन्नौज राज्य यशोवर्मन के आधीन आता है। कहा जाता है कि यशोवर्मन ने ईसवी सन् ७३१ में चीन में अपना एक राजदूत भेजा था। काश्मीर के राजा ललितादित्य और उसके पुत्र तथा बंगाल के पाल राजा ने भी यशोवर्मन तथा उसके वंशजों को हराया। अन्ततः नवीं शताब्दी में प्रतिहारों या परिहारों ने इसको विजय किया। प्रतिहार दक्षिणी राजपूताना से आए थे। प्रतिहार राजाओं में राजा भोज (ईसवी सन् ८४०-८९०) सबसे प्रसिद्ध हुए। इन्होंने आधी शताब्दी तक राज्य किया और सौराष्ट्र, अवध तथा मगध का एक सम्मिलित साम्राज्य बनाया। इनके आधीन कन्नौज में बहुत सुचारु शासन रहा और बड़ी साँस्कृतिक जागृति हुई। इनके पुत्र ने भी प्रगतिशील परम्परा को क़ायम रखा तथा प्रसिद्ध कवि और नाट्यकार राजशेखर को संरक्षण दिया।

बाद में, १०९० ई० में कन्नौज पर गहरवारों का अधिकार हो गया। बारहवीं शताब्दी में कन्नौज के प्रसिद्ध राजा जयचन्द थे जिनकी पुत्री को पृथ्वीराज उसके साथ विवाह करने के लिए बलात ले गए थे। जयचन्द को मुहम्मद गोरी ने हराया और कन्नौज मुस्लिम साम्राज्य में शामिल कर लिया गया।

(३) बंगाल:—हर्ष के बाद के बंगाल का इतिहास छिपा हुआ है। कहा जाता है कि इसके कुछ भागों में गुप्तों तथा मौखरियों का राज्य था। कहा जाता है कि प्रजा अराजकता से ऊब गई थी और ईसवी सन् ७५० में उसने गोपाल को अपना राजा निर्वाचित किया था। इस राजा से पाल राजवंश प्रारम्भ हुआ। इस वंश का अन्त १३वीं शताब्दी में हुआ जब कि मुसलमानों ने बंगाल को विजय किया। ११वीं शताब्दी में बंगाल के एक भाग में सेन नामक नये राजवंश का राज्य हो गया था। मुसलमानों ने

इसको भी नष्ट कर दिया। पाल लोग बौद्ध और सेन लोग ब्राह्मण-धर्म के संरक्षक थे।

(४) बुन्देलखंड:—बुन्देलखंड में चन्देलों का राज्य था जो नवीं शताब्दी में प्रख्यात हुए थे और जिन्होंने अपने पड़ोसी प्रतिहार राज्य को हराकर बुन्देलखंड में यमुना नदी तक अपना अधिकार स्थापित किया था। इनका राज्य 'जाजकभुक्ति' या 'जिभोति' कहा जाता था और खजुराहो, महोबा और कालिंजर इस राज्य के मुख्य नगर थे। खजुराहो के मन्दिर उत्कृष्ट ढंग के बने हुए हैं। दसवीं शताब्दी के चन्देल नरेश राजा ढांगा तथा राजा परमाल इतिहास में बहुत प्रसिद्ध हैं। पृथ्वीराज द्वारा राजा परमाल के हराए जाने के बाद इस राज्य का पतन हो गया।

(५) गुजरात व मालवा:—गुजरात पर सोलंकी राजवंश और मालवा पर परमारों का अधिकार था। ईसवी सन् की दसवीं शताब्दी में मूलराज ने सोलंकी राजवंश की स्थापना की थी। परमार राजाओं में राजा भोज (इनको कन्नौज का भोज न समझा जाय) सबसे प्रसिद्ध हुए। इन्होंने सन् १०१८ से १०६० ई० तक राज्य किया। वे बड़े विद्वान और संस्कृत विद्या के उदार संरक्षक थे। इनका नाम आदर्श हिन्दू राजा के रूप में लिया जाता है। इनके बाद इनके राज्य का लोप हो गया।

(६) अजमेर:—अजमेर और साँभर में शताब्दियों तक चौहानों का राज्य रहा। इनके राजाओं में विग्रहराज सबसे प्रसिद्ध हुए जो संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध संरक्षक थे। इनके भाई के पुत्र पृथ्वीराज थे जो भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध हो गए हैं। इनकी वीरता की कथाओं पर चन्दवरदाई ने 'चन्द रायसो' नामक वीरगाथा लिखी थी। कुछ समय पश्चात् दसवीं शताब्दी में दिल्ली भी अजमेर का एक भाग हो गया था और मुहम्मद गोरी के समय में पृथ्वीराज यहाँ के राजा थे। मुहम्मद गोरी द्वारा पृथ्वीराज के हराए जाने के बाद उनका साम्राज्य भी मुस्लिम साम्राज्य में सम्मिलित हो गया।

जिस समय उत्तर भारत में राजपूतों का राज्य था उस समय दक्षिणी भारत में कई अन्य लोगों के राज्य थे। दक्षिणी प्रायद्वीप का मध्यकालीन इतिहास मुख्यतः दो राज्य-समूहों से सम्बन्धित है। एक राज्य-समूह उत्तर में नर्बदा और कृष्णा के बीच के 'दक्षिण' दोआब में था और दूसरा राज्य-समूह दक्षिण में तुंगभद्रा में था। इसमें इन नदियों के उस पार के

राज्य शामिल थे। ये राज्य दुनियाँ से इतने अलग थे कि इनके इतिहास में स्थानीय महत्व से अधिक के विवरण नहीं हैं। अस्तु, हम संक्षेप में यहाँ के कुछ मुख्य राज्यों तथा व्यक्तियों का वर्णन कर रहे हैं।

(१) मैसूर:—मैसूर में सर्वप्रथम ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी से छठवीं शताब्दी तक 'कादम्बों' का और बाद मे दसवीं शताब्दी तक 'गंगा' राजवंश का राज्य रहा। गंगा राजवंश के राजा बाद में कलिंग गए और इन लोगों ने वहाँ ईसवी सन् की १५वीं शताब्दी तक राज्य किया। उनके राज्य काल मे गोमाता की ५६॥ फीट ऊँची बृहत् मूर्ति का निर्माण हुआ जो भारतवर्ष में अद्वितीय है।

(२) चालुक्य:—दक्षिण में प्रारम्भिक मध्यकालीन राजवंश में "चालुक्य" सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। इनके राजा पुलकेशिन (प्रथम) ने बम्बई के वर्तमान बीजापुर जिले में स्थित बदामी में 'चालुक्य' राजवंश की स्थापना की थी। इनके पौत्र पुलकेशिन (द्वितीय) हर्ष के समकालीन थे और उन्हीं के समान दक्षिण में अद्वितीय राजा थे। इन्होंने हर्ष को भी हराया था यद्यपि पल्लवों ने, जो ईसवी सन् ६४२ में दक्षिण में बहुत शक्तिशाली हो गए थे, पुलकेशिन द्वितीय को हराया था। परन्तु पल्लवों और चालुक्यों में निरन्तर युद्ध होता रहा और अन्तत: आठवीं शताब्दी में "राष्ट्रकूटों" ने चालुक्य वंश को छिन्न–विच्छिन्न कर दिया।

"राष्ट्रकूटों" का राज्य दो शताब्दियों से अधिक समय तक जारी रहा और कहा जाता है कि इस वंश का अरबों से भी व्यापारिक सम्बन्ध था। चालुक्य और राष्ट्रकूट दोनों वंशों के राज्यकाल में दक्षिण में अनेकानेक मन्दिर बने जिनको चट्टानों को काटकर बनाया गया। कैलाश मन्दिर बहुत प्रसिद्ध है। मुख्य चालुक्यवंश की हार के बाद ईसवी सन् ९७३ में इस वंश की एक अन्य शाखा कल्याणी मे स्थापित हुई। इसके सबसे प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य हुए। इन्होंने युद्ध में जो साहसपूर्ण कार्य किए थे उनका वर्णन बिल्हण ने किया है। इनके दरबार में बंगाल के बाहर प्रचलित हिन्दू कानून के प्रमुख ग्रन्थ मिताक्षरा के लेखक विगानेश्वर भी रहते थे। ११ वीं और १२ वीं शताब्दी में चालुक्य वंश की इस शाखा का अन्त हो गया और देवगिरि के यादवों तथा द्वारसमुद्र के होयसला राजवंशों ने इस शाखा को हरा दिया।

मैसूर का होयसला राजवंश बारहवीं शताब्दी (ईसवी सन् ११३० के

निकट) में प्रसिद्ध हुआ। इस राजवंश के राजा रामानुज के अनुयायी थे। इन्होंने अपने राज्य में १२ वीं और १३ वीं शताब्दियों में अनेक मन्दिर बनवाए थे। निर्माण-कला के दृष्टिकोण से हालेबिड का मन्दिर इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध है। अलाउद्दीन खिलजी ने इनको तथा देवगिरि के यादवों को, जो चालुक्य राज्य के सामंतों के वंशज थे और १२ वीं शताब्दी में प्रसिद्ध हुए थे, हरा दिया।

(३) पल्लव—सुदूर दक्षिण के राज्यों में पल्लवों का राज्य सबसे प्रमुख था। यद्यपि पल्लव राजवंश ईसवी सन् की चौथी शताब्दी में ही प्रारंभ हो गया था, फिर भी यह वंश छठवीं शताब्दी में विख्यात हुआ। इनकी राजधानी कांची या कांञ्चीवरम् थी। ये लोग छटवीं शताब्दी के मध्य से लेकर आठवीं शताब्दी के मध्य तक दक्षिण में सबसे अधिक शक्तिशाली थे। इनका राज्य नर्मदा तक फैला हुआ था। इन्होंने अनेक शानदार स्मारकों तथा इमारतों का निर्माण कराया था जिनमें मम्लापुरम स्थित सात रथ या मन्दिर बहुत प्रसिद्ध हैं। नवीं शताब्दी में चोलों के द्वारा हरा दिए जाने पर इस राजवंश का पतन हो गया।

चोल, पाँड्य और चेर राजवंश अस्मरणीय अतीत काल से ही अत्यंत प्रसिद्ध रहे हैं। ये राजवंश मौर्यकाल में भी थे। मध्यकाल में भी १३ वीं शताब्दी तक इनके सुव्यवस्थित राज्य क़ायम रहे। चोलवंश का राज्य उस प्रदेश में था जिसमें अब मद्रास, उसके कुछ पड़ोसी जिले और मैसूर के कुछ भाग, नेल्लोर से पुदूकोट्टई तक पड़ते हैं। पाँड्य राज्य उस प्रदेश में था जो इस समय मदुरा जिले में है और इसमें तिन्नेवेली तथा ट्रावण-कोर के कुछ भाग शामिल थे। चेर या केरल मुख्यत: पश्चिमी घाटों के पहाड़ी प्रदेश में चन्द्रगिरि नदी के दक्षिण तक थे। इन राज्यों में चोल राज्य अधिक प्रभुत्वपूर्ण था। मध्यकाल में दसवीं शताब्दी और ११ वीं शताब्दी के पहले २५ वर्षों में राजाराम महान् और उनके पुत्र के आधीन चोल सर्वोच्च शक्ति थे और उन्होंने चालुक्य, पाँडव तथा लंका, बंगाल पेगू और अन्डमान के राजाओं को हराया था। १३ वीं शताब्दी में विजय-नगर राज्य (पाँड्यवंश की महान्शक्ति) की स्थापना और मुसलमानों के आक्रमण से चोलवंश की सत्ता समाप्त हो गई। चोलवंश के राजा कला एवं साहित्य के संरक्षण के लिए प्रसिद्ध थे। उन्होंने स्वायत्त शासन अथवा पंचायत व्यवस्था का सफल प्रयोग भी किया था। तंजोर, चिदाम्बरम् तथा अन्य स्थानों में उनके प्रसिद्ध मन्दिर पाये जाते हैं। चोल राजागण शैव थे।

पाँड्य राजवंश चोल, पल्लव या लंका से सदैव लड़ाई लड़ता रहा था। १३ वीं शताब्दी में पाँड्य वंश प्रमुख शक्ति थे और मार्कोपोलो ने, जिसने ईसवी सन् १२८८ और १२९३ में पाँड्य राजाओं से मुलाकात की थी, उनकी संस्कृति का वर्णन किया है। मार्कोपोलो ने उस वृहत् व्यावसायिक गतिविधि का विशद् वर्णन किया है जिसके लिए उस समय पाँड्यवंश प्रसिद्ध था। इसने यह भी बताया है कि उस समय भारत में अरब और चीन से जहाज आया करते थे।

चेर राजवंश चोल या पाँड्य के मित्र रहा करते थे। उनका कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं था।

भारत में मुसलमानों की सत्ता के उदय के पूर्व मध्य काल में हिन्दुओं द्वारा शासित उक्त प्रमुख राज्य थे। भारत का यह संक्षिप्त राजनीतिक इतिहास इस महत्वपूर्ण बात को सिद्ध करता है कि उक्त राज्यों में राजनीतिक एकता की भावना नहीं थी, यह चेतना नहीं थी कि एकता में ही शक्ति रहती है, और इसीलिए वे मुस्लिम आक्रमणों का मुकाबला न कर सके। परन्तु यह सोचना भारी भूल है कि मुसलमानों ने पूरे भारतवर्ष को विजय किया था। उस समय भी हिमाचल में स्थित राज्य स्वतंत्र थे। इसकाल में भी राजपूताना, आसाम, उड़ीसा और सुदूर दक्षिण के राज्य (भारत के अन्दरूनी भाग के राज्य) किसी-किसी समय तक स्वतंत्र थे।

अब हम भारत में मुस्लिम शासन के विषय पर आते हैं। मुसलमानों का प्रथम आक्रमण सिन्ध में हुआ था। मुसलमानों के महान् पैगम्बर मुहम्मद की मृत्यु के बाद खलीफाओं का युग प्रारम्भ हो गया था। आठवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में खलीफा उमर के आधीन अरबों ने सिन्ध पर आक्रमण किया। हिन्दू राजवंश पराजित हो गया था। पंरतु शीघ्र ही मुस्लिम जगत में उपद्रव हुए और इसलिए सिन्ध में अरब शासन का अन्त हो गया। दसवीं और ११ वीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में मुसलमानों का भारत पर दूसरा आक्रमण हुआ। इस बार महमूद गजनवी ने आक्रमण किया था और वह उत्तरी भारत के विस्तृत भाग में सक्रिय रहा। इसका आक्रमण केवल धन के लिए हुआ था। उसने यहाँ आकर कई हिन्दू राज्यों और अनेक मन्दिरों को लूटा और लूट-पाट करने के बाद वह यहाँ से वापस चला गया। उसने इस प्रकार के कई आक्रमण किये परन्तु इसके आक्रमणों का कोई स्थायी प्रभाव नहीं

हुआ। इन हमलों का केवल यही प्रभाव हुआ कि उत्तरी भारत की स्थिति और भी बिगड़ गई और अनक्य बढ़ गया। बारहवीं शताब्दी (ईसवी सन् ११९३) के अन्त में भारत में मुस्लिम शासन स्थायी रूप में स्थापित हुआ। सन् ११७५-७६ ई० में अफगानिस्तान के मुहम्मद ग़ोरी ने भारत पर आक्रमण किया और विभिन्न राजपूत राजाओं को पराजित किया जिनमें पृथ्वीराज तथा और राजा लोग भी शामिल थे। मुहम्मद ग़ोरी भारत में अपने मुख्य सेनापति को छोड़ गया था जिसने मुहम्मद ग़ोरी की मृत्यु के बाद ग़ुलाम राजवंश चलाया।

सन् ११९३ ई० से सन् १७०७ ई० तक भारत में मुसलमानों का शासन रहा। उनके शासन के कुछ सिद्धान्त अब भी यहाँ मौजूद हैं। मुसलमानों के शासनकाल में भारत में विभिन्न मुस्लिम राजवंश हुए जिनकी राजधानी दिल्ली या आगरा रही।

प्रथम मुस्लिम राजवंश तथा कथित ग़ुलामों का था जो सन् १२०६ ई० से सन् १२९० ई० तक चला। इसके संस्थापक के अतिरिक्त इस वंश में इल्तुत्मिश और बलबन सर्वाधिक प्रसिद्ध राजा हुए। जिस समय इनकी सत्ता अपनी पराकाष्ठा पर थी उस समय सम्पूर्ण उत्तरी भारत उनके आधीन हो गया था।

सन् १२९० ई० में ग़ुलामवंश के स्थान पर खिल्जी वंश आया। सन् १३२५ ई० तक भारत में खिलजीवंश का शासन रहा। इस वंश में सबसे प्रसिद्ध राजा अलाउद्दीन खिलजी हुआ। भारत के मुस्लिम राजाओं में यह पहला राजा था जिसने पहली बार दक्षिण पर भी चढ़ाई की और इसके सेनापति ने मदुरा तक के सुदूर दक्षिण के राज्यों को विजय किया था।

अलाउद्दीन के बाद खिलजियों का पतन हो गया और तुग़लकों ने (सन् १३२१-१३९८ ई० तक) इनका स्थान लिया। इनमें मुहम्मद तुग़लक और फिरोज तुग़लक नामक दो सबसे प्रसिद्ध राजा हुए। अलाउद्दीन की भांति मुहम्मद तुग़लक ने भी दक्षिण को विजय किया था। मुगलों के पूर्व के राजाओं में यह सबसे विद्वान राजा था। तुग़लकों के शासनकाल में भारत की मध्यवर्ती शक्तियाँ पुनः जोर मारने लगीं और मुहम्मद तुग़लक की मृत्यु के बाद भारत के सभी भागों में कई स्वतंत्र हिन्दू तथा मुस्लिम राज्य क़ायम हो गए। इन राज्यों में मेवाड़, विजयनगर, बहमनी, बंगाल,

काश्मीर, गुजरात और सिन्ध प्रमुख थे। बाद में मालवा और जौनपुर नामक स्वतंत्र राज्य भी हो गए। बंगाल सन् १३४० से १५४० तक स्वतंत्र रहा। मालवा सन् १३९८ से सन् १५३१ ई० तक, गुजरात सन् १४०१ से १५७२ ई० तक, काश्मीर चौदहवीं शताब्दी से सन् १५८६ ई० तक तथा बहमनी सन् १३४७ से १५८० ई० तक स्वतंत्र राज्य रहे। सन् १५८० ई० में बहमनी राज्य के बरार, अहमदनगर, बीजापुर, बीदर और गोलकुण्डा नामक ५ टुकड़े (राज्य) हो गए। मुगलकाल में इन सब राज्यों की भी स्वतंत्रता का अन्त हो गया और ये भी मुगलों के आधीन हो गए। विजयनगर सन् १३३६ से १५६५ ई० तक स्वतंत्र राज्य रहा और सन् १५६५ में बहमनी राज्य के वंशजों ने इसे पराजित कर दिया। इसी समय में सन् १३९८ ई० में भारत पर तैमूर का आक्रमण हुआ। इसने दिल्ली, मेरठ और हरद्वार तक पूरे उत्तर भारत को नष्ट कर दिया था। तैमूर के आक्रमण के फल-स्वरूप सम्पूर्ण भारत में अराजकता फैल गई थी। सन् १४१४ से १४५० ई० तक दिल्ली के आस-पास सैयदों ने राज्य किया। वे महत्वपूर्ण नहीं थे और इसलिए उनके कार्य उल्लेखनीय नहीं हैं। कुछ समय बाद पंजाब के बहलोल लोदी ने दिल्ली के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया और इसने लोदी वंश चलाया जो सन् १५२६ ई० तक चला और इसी सन् से मुगलों ने इसका स्थान ले लिया।

सन् १५२६ में बाबर के आधीन मुगल लोग, कुछ लोदी तथा राजपूत राजाओं के निमंत्रण पर, भारत में आए। लोदी राजा इब्राहीम की निरंकुशता से बचाने के लिए कुछ लोदी तथा राजपूत राजाओं ने बाबर को बुलाया था। इब्राहीम हार गया और बाबर ने भारत में स्थायी रूप से रहने का निर्णय किया और इस प्रकार उसने मुगल राजवंश की स्थापना की। मुगल राजवंश वास्तव में सन् १५२६ ई० से सन् १७०७ ई० तक चला यद्यपि इसवंश के कुछ कमजोर राजा इसके बाद तक छोटे क्षेत्र में राज्य करते रहे। मुगल राजवंश के सबसे प्रसिद्ध राजा अकबर (सन् १५५६-१६०५ ई०), जहाँगीर (१६०५-१६२७ ई०), शाहजहाँ (१६२७-१६५८ ई०) तथा औरंगज़ेब (१६५९-१७०७ ई०) हुए। सन् १६६६ ई० में शाहजहाँ की मृत्यु हो गई। मुगलों के आधीन भारतवर्ष पुनः राजनीतिक रूप में एक हो गया था। ये लोग हिन्दुओं के भी संरक्षक थे और विशेषतः अकबर के समय में हिन्दू-मुस्लिम एकता उच्चतम सीमा पर पहुँच गई थी। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अकबर के पिता हुमायूं

को बिहार के अफगान राजा शेरशाह के कड़े विरोध का मुकाबला करना पड़ा था। सन् १५४२ से १५४५ के बीच शेरशाह उत्तर भारत का राजा हो गया था और वह हुमायूं को भारत से भगाने की चेष्टा में सफल हुआ। हिन्दुओं के प्रति शेरशाह की नीति बहुत उदार थी और इसका शासन सुव्यवस्थित और सुसंगठित था। इसने बहुत से शासन-सुधार किए थे और नए-नए कानून प्रचलित किए थे। अकबर ने इसका बहुत हद तक अनुकरण किया है।

जिस प्रकार सुल्तानों के काल में केन्द्रीय सत्ता के पतन ने तैमूर के आक्रमण को आमंत्रित किया था उसी प्रकार मुगलों के पतन के फलस्वरूप नादिरशाह का आक्रमण हुआ और भारतवर्ष कई स्वतन्त्र राज्यों में पुनः विभाजित हो गया। इन नवीन शक्तियों में मराठा बहुत वीर और शक्तिशाली थे तथा उन्होंने भारत के उत्तर और दक्षिण दोनों में अपने राज्य क़ायम कर लिए थे। किन्तु विभिन्न भारतीय शक्तियाँ (राज्य) आपस में ही लड़ती रहीं और वे आसानी से अंग्रेजों की शिकार हो गईं। भारतीय इतिहास के मुगलों के पूर्व के समय को सुल्तानों का काल कहा जाता है। सुल्तानों और मुगलों दोनों के समय में भारत की सांस्कृतिक प्रगति जारी रही। विशेषतः सुल्तानों के काल में दिल्ली की केन्द्रीय सत्ता के समाप्त होने के बाद जो विभिन्न प्रान्त स्वतन्त्र हो गए थे उनको भी हम भारतीय कला और संस्कृति की मुख्य-मुख्य विशेषताओं का संरक्षण करते हुए पाते हैं और केन्द्र एवं भिन्न-भिन्न प्रान्तों के राजाओं के प्रयास के फलस्वरूप एक सामान्य हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का जन्म होता है। इस नयी संस्कृति का वर्णन हम आगामी पृष्ठों में कर रहे हैं।

बारहवाँ अध्याय

राजपूतों का युग

अभी तक हमने वैदिक काल से लेकर हर्ष-काल तक के भारतीय संस्कृति के विकास का अध्ययन किया है। इस काल को हमने "प्राचीन काल" कहा है। अब हम मध्यकाल में आते हैं। किन्तु पूर्वकाल और मध्यकाल की संस्कृति के बीच में कोई मौलिक रुकावट नहीं आई और इस काल में भी वही संस्कृति जारी रही। सुविधा के लिए "राजपूतों का काल", "भारतीय मुस्लिम राजाओं का काल" तथा "हिन्दू-मुस्लिम संयोग" के शीर्षकों के अन्तर्गत हम इस काल की संस्कृति का अध्ययन कर रहे हैं। "राजपूत-काल" के अन्तर्गत हम ईसवी सन् ७०० से १८०० तक भारतीय संस्कृति में हिन्दुओं द्वारा किए गए योगदानों का वर्णन करेंगे। "भारतीय-मुस्लिम राजाओं के काल" के अन्तर्गत हम मुसलमानों द्वारा भारतीय संस्कृति में किए गए योगदानों का वर्णन कर रहे हैं। हमारी संस्कृति में हिन्दुओं और मुसलमानों ने जो संयुक्त योगदान किए हैं उनका वर्णन "हिन्दू-मुस्लिम संयोग" के अन्तर्गत किया जा रहा है।

अब हर्षोत्तर काल में हम मध्यकाल के मौलिक सिद्धान्तों एवं विशेषताओं पर विचार करते हैं। यह पहले ही बताया जा चुका है कि मध्यकाल में विशेष बात यह हुई कि अनेक रूढ़ियां और नियमादि बन गए। जहाँ तक हिन्दुओं का सम्बन्ध है हिन्दू जीवन के आधार वैसे ही बने रहे जैसे प्राचीन काल में स्थापित हुए थे। परिवर्तन भी विस्तारपूर्वक किए गए। धार्मिक, कलात्मक, वैज्ञानिक तथा अन्य प्राचीन साहित्यों पर टिप्पणियाँ एवं समालोचनाएँ लिखी गईं। कुछ लोगों का मत है कि इन रूढ़ियों, नियमों, कानूनों आदि के कारण मध्यकाल के अन्त तक हिन्दुओं की साँस्कृतिक प्रतिभा का पतन हो गया। हम लोगों ने अपना सब कुछ खो दिया। पशु-पिशाच-पूजा, जादू-टोना, अन्धविश्वास, पूजा-पाठ, उत्सव-समारोह आदि ने मानव-जीवन के विभिन्न चरणों में सक्रिय साहसिक कार्यों का स्थान ले लिया और हमारी संस्कृति के पतन के साथ-साथ हमारी राजनीतिक स्थिति भी दुर्बल हो गई थी जिसके कारण हम उत्तर-पश्चिमी दर्रों के उस पार से

आने वाले विजेताओं के अधीन हो गए। सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में हमारी रूढ़िवादिता ने अनैक्य (फूट) फैला दिया। इसलिए, कुछ लोग इस बात पर जोर देते हैं कि भारत का पतन उस समय हुआ जब कि वह जीवन के पूर्ण सिद्धान्त या रचनात्मक आध्यात्मिकता, जो भौतिकवाद की अच्छाइयों और आध्यात्मिकता का समन्वय है, के मार्ग से हट गया।

अब हम साहित्य, धर्म, कला और अर्थशास्त्र के क्षेत्रों में अपनी संस्कृति की मुख्य-मुख्य विशेषताओं का वर्णन कर रहे हैं।

साहित्य के क्षेत्र में इस काल में अनेक देशीय भाषाएँ विकसित होती हैं। उदाहरणार्थ, विभिन्न "अपभ्रंशों" का विकास हो जाता है और वृहत् साहित्य तैयार हो जाता है। इस क्षेत्र में जैनियों तथा बौद्धों ने जो योगदान किए हैं उनका भी बहुत महत्त्व है।

जिन कवियों ने हिन्दी से मिलती-जुलती और उस समय हिमालय से गोदावरी तक और सिन्ध से बंगाल तक बोली जाने वाली भाषा साहित्यिक "अपभ्रंश" में कविताएँ लिखी हैं उनमें "सरहय" (सन् ७६० ई०) "स्वयंभुदेव" (सन् ७९० ई०) तथा "पुष्पदन्त" (सन् ९५९-७२ ई०) सबसे प्रमुख हैं। "सरहय" का उल्लेख हमने इसलिए किया क्योंकि वे साहित्यिक अपभ्रंश में काव्य लिखने वाले प्रथम परिचित लेखक हैं। किन्तु स्वयंभुदेव तथा पुष्पदन्त ये दो कवि बहुत प्रसिद्ध थे। स्वयंभुदेव ने रामायण तथा महा-भारत दोनों का सम्पादन किया था जिसके फलस्वरूप वे "वीरगाथा के महान् कवि" के नाम से प्रसिद्ध हो गए हैं। उनकी भाषा मधुर एवं ताजगीपूर्ण थी और उसका प्रवाह सरल था। उनका प्रकृति-वर्णन और स्त्रियों के सौन्दर्य का वर्णन उनके अध्ययन एवं ज्ञान की गहराई का द्योतक है। उनका हर्ष और शोक का वर्णन भी बहुत हृदय-स्पर्शी है। पुष्पदन्त विरह-यन्त्रणा के वर्णन में विशेषज्ञ थे और दरिद्रता के प्रति उनकी भावना बहुत प्रभावोत्पादक है। सन् १०१० ई० में इसी भाषा में लिखने वाले प्रथम प्रसिद्ध मुस्लिम लेखक मुल्तान के अब्दुल रहमान हुए।

अन्य 'अपभ्रंश' भी विकसित हो रहे थे। उदाहरणार्थ अवधी में तुलसीदास हिन्दी के महान् कवि हुए। तुलसीदास (सन् १५३२-१६२३ ई०) बनारस के प्रसिद्ध मन्दिर की एक कुटी में अकेले रहा करते थे। उनके पास तक कोई नहीं पहुँच पाता था। तुलसी न केवल हिन्दी के महानतम कवि

थे अपितु वे हिन्दुस्तान की जनता के आध्यात्मिक गुरु थे। भारत के घर-घर में उनका नाम लिया जाता है और करोड़ों लोग घर-घर में उनकी पूजा करते हैं। उनके ग्रन्थों मे सबसे प्रसिद्ध रामचरितमानस है जिसे "हिन्दुस्तान की करोड़ों जनता का बाइबिल" कहा जाता है। हिन्दू समाज के घर-घर में रामचरितमानस मिलता है और धनी-गरीब सभी वर्ग के लोग इसका पाठ करते हैं और इसको सुनते हैं। उन्होंने अन्य कई पुस्तकें लिखी थीं जिनमें से १२ इस समय अधिकारपूर्ण मानी जाती हैं। तुलसीदास राम को ईश्वर का अवतार मानते। उनके इस विश्वास ने उनको इतना उच्च बना दिया और इसी विश्वास ने उनको ईश्वर के विषय में इतना महान विचार प्रस्तुत करने के योग्य बना दिया। रामायण में अपने भक्तों के प्रति ईश्वर के प्रेम, अपने भक्तों के लिए उसके अवतरित होने, अपने भक्तों की यन्त्रणा के लिए उसकी सहानुभूति और क्षमा करने के लिए उसकी तत्परता को बड़ी मर्यादा के साथ प्रकट किया गया है। रामायण में आदि से अन्त तक कहीं भी कोई अपवित्र विचार या शब्द नहीं है। यह देशी भाषा की गीता है। तुलसी जनता के लिए जीवित रहे और उनमें जनता के प्रति अगाध प्रेम था। उन्होंने जो कुछ सोचा उसे जनता की भाषा में प्रस्तुत किया और उनका काव्य हृदयस्पर्शी है। वे सचमुच हिन्दी साहित्य के "वाल्मीकि" थे।

हिन्दुओं में एक अन्य महान कवि सूरदास थे। इन्होंने अपनी कविताएँ वृजभाषा में लिखीं। ये हिन्दी जगत में गीत-काव्य लिखने वाले सम्भवत: सबसे महान कवि हैं। इनकी जन्मतिथि अब तक अनिश्चित है परन्तु ये अकबर के समकालीन थे और आइने अकबरी में इनका वर्णन किया गया है। इनका मुख्य ग्रन्थ सूरसागर है जिसमें ६०,००० गीत (कविताएँ) हैं। इनके अन्य ११ ग्रन्थों का भी पता लगाया गया है। इनके विषय भक्ति सम्बन्धी हैं और वल्लभाचार्य द्वारा चित्रित कृष्ण के जीवन-चरित्र पर केन्द्रित हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थों में कृष्ण की बाल्यावस्था तथा उनको पालनेवाली उनकी धर्म की माँ यशोदा से उनके सम्बन्ध को इतने आश्चर्य-पूर्ण ढंग से चित्रित किया है कि इसका जगतव्यापी प्रभाव कभी क्षीण नहीं होगा। इनकी मनोवैज्ञानिक गहराई अद्वितीय है। इन्होंने नए-नए स्वरूप एवं मूर्तियाँ प्रचलित कीं। इन्होंने वृजभाषा को आधुनिक रूप देकर इसे महान साहित्यिक भाषा बना दिया। हिन्दी काव्य-जगत में इनको "भारत का मिल्टन" कहा जा सकता है।

इस काल में, काव्य के क्षेत्र में, बँगला भाषा की भी बड़ी प्रगति हुई। दसवीं शताब्दी में पाल वंश के राजाओं की प्रशंसा में चारण गीतों की रचना की गई। कृत्तिवास ने सन १३७० में रामायण का बँगला भाषा में अनुवाद किया। सन १४७३ तथा सन १४८० के बीच मालाधार वसु ने भागवत पुराण का बँगला भाषा में अनुवाद किया। संजय तथा काशीराम जैसे महान कवियों ने धार्मिक ग्रन्थों की रचना की। किन्तु प्रारम्भिक मध्य-काल के महानतम कवियों में सबसे प्रसिद्ध जयदेव थे जो राजा लक्ष्मण सेन के दरबारी कवि थे। इनका 'गीतगोविन्द' धार्मिक तथा कुछ विद्वानों के मतानुसार दाहक है। यह काव्य नाट्य–गीत है जिसमें यह वर्णन किया गया है किस प्रकार राधा ईर्ष्यावश अपने अविश्वासी प्रेमी कृष्ण को छोड़कर चली गई किन्तु एकाकीपन में उसका कृष्ण–चिन्तन नहीं बन्द हुआ और अन्त में किस प्रकार इन दोनों का मिलन हुआ। इस काव्य की रचना नृत्य के योग्य गीतों (प्रबन्ध) में की गई है और इसमें नृत्य की गति और ताल हैं। इस काव्य की गूढ़ व्याख्या की गई है। राधा "माया" के जाल में फँसी हुई आत्मा है और ज्यों ही आत्मा परमात्मा से अलग होती है उसे कष्ट उठाना पड़ता है। आत्मा का पुनः परमात्मा में जा कर मिल जाना सर्वोपरि सुख है। अस्तु, यह काव्य कृष्ण–भक्ति से प्रेरित है। कवि की वर्णन–शक्ति तथा निर्दोष रूप में वासना को चित्रित करने का ढंग अनुपम है। इसमें छोटे–छोटे शब्द हैं और फिर संयुक्त शब्दों की परिमिति गति है। अनुप्रास, अलंकार तथा ताल ने इस काव्य की मनोहरता को और बढ़ा दिया है। गीतगोविन्द में कालिदास के गीतकाव्य की महानता पूर्णतः पल्लवित हो गई है। अन्य प्रसिद्ध बंगाली कवियों में चन्डीदास थे जिन्होंने राधा तथा कृष्ण से सम्बन्धित लगभग १,००० प्रणय–गीतों की रचना की थी। चन्डी-दास ईसवी सन् की १५वीं शताब्दी के प्रारम्भ में विद्यापति के समकालीन थे। बंगाल के महान्तम कवियों में मुकन्दराम कविकंकण ने सन् १५८९ में चन्डी देवी का स्तुति–ग्रन्थ पूरा किया था, वृन्दावनदास ने "चैतन्य भागवत्" की रचना की थी, कृष्णदास ने "चैतन्य चरितामृत" लिखा था और रामप्रसाद के धार्मिक भजन प्रसिद्ध हैं और उनमें से कई दुर्गा की स्तुति में गाए जाते हैं।

इसी काल में मराठी भाषा का भी विकास हुआ। इस भाषा के सबसे पुराने लेखक ज्ञानेश्वर हैं जिन्होंने सन् १२९० में "ज्ञानेश्वरी" लिखा था। मराठी भाषा में यह पुस्तक गीता पर टिप्पणी है और विचारों में अद्वितीय

है। मराठी की कोई पुस्तक इसकी समानता नहीं कर सकती। उनके बाद (सन १२७०–१३५०) नामदेव हुए जो जाति के दर्जी थे। वे ज्ञानेश्वर के समान विष्णु के भक्त थे। इनके आराध्य विष्णु की मूर्ति "विठोबा" के नाम से पंढारपुर स्थित मन्दिर में स्थापित है। उन्होंने भक्ति सम्बन्धी गीतों (अभंग) की रचना की थी। उनके एक गीत का अर्थ निम्न-लिखित है :—

"जहाँ कहीं भी हमारी दृष्टि जाती है, हम वास्तव में "एक" ही को सब पदार्थों में प्रविष्ट पाते हैं; किन्तु वह "माया" के जादू के पर्दे में छिपा हुआ है और मुश्किल से कोई उसे समझ पाता है, गोविन्द ही सब कुछ है, उसके बिना कुछ नहीं है, वही "एक" है, वह एक ऐसे धागे के समान है जिसमें सहस्त्रों जीव बँधे हुए हैं, जैसे समुद्र और लहरें, फेना और बुदबुदा पानी के कई स्वरूपों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, उसी प्रकार यह जगत "ब्रह्म" के खेल के विभिन्न रूपों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

एक दूसरी महान् साधु "जानबाई" थीं जो स्त्री थीं। ये भी परमात्मा की बड़ी भक्ति थीं। इनके बाद सन् १६०८–१६४९ में तुकाराम हुए। कहा जाता है कि इन्होंने भक्तिपूर्ण ४६२१ गीतों (अभंगों) की रचना की थी। सभी जाति एवं वर्ग के लोगों द्वारा घर-घर में इनके गीत गाए जाते हैं। सन् १६०८ ई० में रामदास का जन्म हुआ जो उक्त कवियों की पंक्ति में आते हैं। इन्होंने शिवाजी को भी प्रभावित किया था और पूरे महाराष्ट्र में अपने मठ स्थापित किये थे। ये मठ बाद में औरंगजेब के आधीन मुगलों के विरुद्ध जनता में विद्रोह फैलाने के क्रान्ति-कारी केन्द्र बन गए। इनका चिरस्मरणीय ग्रन्थ "दासबोध" है जिसमें विभिन्न विज्ञानों तथा कलाओं को आध्यात्मिक जीवन के साथ मिला दिया गया है। रामदास ने ही मराठा राष्ट्रीय चेतना को जागृत किया था। मध्य-काल में मराठी साहित्य के क्षेत्र में उपर्युक्त बड़े-बड़े विद्वानों के नाम आते हैं।

राजस्थान में भी वहाँ की देशी भाषा विकसित हुई। कहा जाता है कि उत्तर भारत के प्रारंभिक साहित्य राजपूताना के काव्यमय इतिहास हैं। इन इतिहासों में उस काल के राजपूत योद्धाओं द्वारा किए गए वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन है। चन्दरवरदाई द्वारा लिखित "पृथ्वीराज रासो" सबसे प्रसिद्ध है। "विशालदेव रासो" नामक एक अन्य प्रसिद्ध वीरगाथा-काव्य है।

पंजाबी साहित्य का भी विकास हुआ और इसमें तत्कालीन लोकप्रिय कविताओं का कोष है। इन कविताओं में प्राचीन वीरों की कथाएँ हैं। उदाहरणार्थ, एक कविता में नल की कथा का वर्णन है। पंजाबी का एक स्वरूप गुरुमुखी था जो नानक तथा अन्य गुरुओं के अधीनस्थ सिखों द्वारा निकाली गई थी।

बिहार में वहाँ देशी भाषा की उल्लेखनीय प्रगति हुई। विशेषतः विद्यापति ठाकुर ने सन् १४०० ई० में मैथिली भाषा में अपने काव्यों की रचना की। इनके गीतों में राधा और कृष्ण के प्रेम की कथा के रूप में ईश्वर के लिए आत्मा की उत्सुकता भरी हुई है। गुजराती भाषा भी विकसित हुई और इसमें जैनियों ने नेतृत्व किया। इन भक्तों में नरसी मेहता प्रसिद्ध हैं जिनके भक्ति संबंधी गीत अब तक खूब प्रचलित हैं।

अस्तु, मध्यकाल ने भारत की आधुनिक देशी भाषाओं के जन्म तथा विकास को देखा है। विशेषतः काव्य के क्षेत्र में जो विकास हुआ वह उल्लेखनीय है। गद्य साहित्य का विकास आधुनिक काल में होने को था। इस काल में इन भाषाओं के व्याकरण एवं शब्दकोष भी बने। इस क्षेत्र में महान् जैन मुनि नेमचन्द्र सूरी का नाम चिरस्मरणीय है।

संस्कृत साहित्य की भी बड़ी प्रगति होती रही। व्याकरण के विषय पर अनेक टिप्पणियाँ लिखी गईं। इनमें पाणिनि के सूत्रों को नया रूप दिया गया। इनमें बनारस की टिप्पणी "कसिकवृत्त" सबसे स्पष्ट है। सातवीं शताब्दी में जयादित तथा यमन ने इस टिप्पणी को लिखा था। भर्तृहरि ने पातञ्जलि के महाभाष्य पर एक टिप्पणी लिखी थी। एक अन्य प्रसिद्ध व्याकरण सर्ववर्मन द्वारा लिखित "कातन्त्र" है जो मध्य एशिया तक प्रचलित है। दक्षिण में इसको द्रविड़ भाषाओं के व्याकरण से संबंधित आदर्श ग्रन्थ माना जाता है। अनेक शब्दकोषों की भी रचना की गई थी जिनमें पुराने तथा नये शब्दों की व्याख्या थी। इन शब्दकोषों में हेमचन्द्र, भत्तच्छीर–स्वामी, पुरुषोत्तमदेव, यादवभट्ठ तथा अन्य लोगों के शब्दकोष सबसे प्रसिद्ध हैं। दर्शन के विषय पर भी कई ग्रन्थ लिखे गए। उदाहरणार्थ 'न्याय' पर उद्दोत्कर, वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य तथा अन्य लोगों की टिप्पणियाँ प्रसिद्ध हैं। हेमचन्द्र ने जैनधर्म विषयक "प्रमाण मीमाँसा", धर्मकीर्त ने बौद्ध धर्म विषयक "न्यायविन्दु", तथा बंगाल में 'गणेश' ने "तत्वचिन्तामणि" नामक ग्रन्थ लिखे। इनके अतिरिक्त श्रीधर

ने वैशेषिक दर्शन पर, वाचस्पति ने सांख्य, योग और पूर्वमीनांसा पर तथा शंकराचार्य ने वेदान्त दर्शन पर ग्रन्थ लिखे।

काव्य–क्षेत्र में भी कई ग्रन्थ लिखे गए। उदाहरणार्थ "कल्हण" का "राजतरंगिणी" एक इसी कोटि का ग्रन्थ है। राजतरंगिणी का शाब्दिक अर्थ "राजाओं की नदी" है। यह काव्य अंशतः वीरगाथा और अंशतः इतिहास है। लेखक १२ वीं शताब्दी में जीवित थे और काश्मीर दरबार के एक मंत्री के पुत्र थे। इन्होने अपने इस काव्य–ग्रन्थ में सन् ११४० तक के काश्मीर के राज्य के इतिहास को लिखा है। इन्होंने बड़ा सुन्दर चरित्र–चित्रण किया है। उच्चतम नैतिकता से प्रेरित होकर इन्होंने बुराई पर अच्छाई की विजय को प्रकट करने का प्रयास किया। वे बहुत हद तक ११ वीं शताब्दी के अन्त और १२ वीं शताब्दी के प्रारंभ में काश्मीर के इतिहास के विश्वनीय मार्गदर्शक हैं। सादगी की कमी ओर रचना की विद्वता के कारण उनका "राजतरंगिणी" ग्रन्थ वास्तविक वीरगाथा नहीं हो सका। कल्हण में काव्य है किंतु वे कवि नहीं थे। इस काल के अन्त में वीरगाथाओं में "आमृतशक", "भक्तिकाव्य", "शिशुपालवध", "नलोदय" तथा राघवपाँडवीय और जैन आचार्य जिनसेन द्वारा लिखित "पार्श्वभुदय" उल्लेखनीय हैं। राघव पाँड्वीय में रामायण और महाभारत की कथाएँ साथ–साथ दी गई हैं ; प्रत्येक छन्द के दो अर्थ हैं जिनमें एक रामायण और दूसरा महा- भारत से सम्बन्धित हैं।

इस समय गीत–काव्य की बहुत प्रगति हो गई थी परन्तु ताजगी का स्थान क्लिष्टता ने ले लिया था। सभी रूप लेखकों के उपयोग के लिए रूपक अलंकारों से वर्गीकृत हो गये। इन महान् कवियों में प्रेम–दार्शनिक भर्तृहरि प्रसिद्ध हैं जिन्होंने शृंगारशतक, नीतिशतक तथा वैराग्यशतक जैसे ग्रन्थ लिखे। इन ग्रन्थों में कवि के लिए मुक्ति के मार्ग में मुख्य बाधा स्त्री है। स्वयं असंतुष्ट होते हुए कवि स्त्री में दोष ढूंढ़ता है। वह कहता है, "इस गन्दी छोटी बालिका में, जो मूर्ख और मिथ्याभाषिणी है, वह कौन सी वस्तु है जिसकी मैंने उपासना की है ?" इनकी रचनाएँ कहावतों से पूर्ण हैं। एक अन्य प्रसिद्ध कवि काश्मीर के "बिल्हण" थे। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ "चौरिसूरतपंचासिका" है। इन्होंने चालुक्य राजवंश के राजाओं की प्रशंसा में एक ऐतिहासिक काव्य–ग्रन्थ भी लिखा था जिसके फलस्व- रूप चालुक्य राजा विक्रमादित्य (सन् १०७६–११२७) ने उनको "विद्यापति" की उपाधि दी थी। इस काल के अल्प कवियों में दामोदर

गुप्त, रामायण मञ्जरी, भारत मञ्जरी, और दशावतार के लेखक "क्षमेन्द्र", कुमारदास तथा हेमचन्द्र हैं। दामोदर गुप्त काश्मीर के राजा जयपीड़ के मंत्री थे और इन्होंने आठवीं शताब्दी में "कुट्टनिमाता" नामक काव्य लिखा था। इस काव्य में प्रेम की कला के विषय में एक वेश्या को दिया गया उपदेश है।

नाट्य-कला की भी प्रगति उच्च स्तर पर थी। छठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में 'हर्ष' स्वयं नाट्यकार थे। रत्नावली, प्रियदर्शिका तथा नागानन नामक उनके नाटक प्रसिद्ध हैं। परन्तु इस शताब्दी के सबसे बड़े नाट्यकार भवभूति थे जो कालिदास के बाद सबसे बड़े कवि माने जाते हैं। संस्कृत भाषा की विद्वत्ता में उनकी बराबरी करने वाला कोई भी नहीं था। वे कन्नौज के राजा यशोवर्मन, जो इस शताब्दी के अन्त में राज्य कर रहे थे, के दरबार में रहते थे। महावीर चरित्र, उत्तर रामचरित्र तथा मालती माधव नामक इनके तीन नाटक बहुत प्रसिद्ध हैं। प्रथम दो नाटक के विषय रामायण के हैं और अन्तिम नाटक हास्यरस का है। इसका विषय कई कथाओं के संग्रह से लिया गया है। अपने रूपकों में भवभूति ने ज्योति, छाया तथा भय का सुन्दर तुलनात्मक चित्रण किया किया है। उनके पास शब्दों का अपरिमित कोष था, उनके उद्गारों में शक्ति है और जटिल छन्दों तक में एकरूपता है। कहा जाता है कि इनके बाद नाटक में ताजगी का अन्त हो गया और नाटक गद्यात्मक हो गया। अन्य नाट्यकारों में कन्नौज के राजशेखर, राजाभोज के समय के आनन्दवर्द्धन ("प्रबोधचन्द्र" के रचयिता), "वेणिसंहार" के लेखक भट्ट-नारायण, "मुद्राराक्षस" के लेखक विशाखदत्त, प्रबोधचन्द्रोदय के लेखक कृष्णमिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं। इस समय तक भांड, प्रहसन आदि नाटक के अगंभीर रूपों का भी प्रचलन हो गया था।

इस काल में कथा-साहित्य की भी बड़ी प्रगति हुई। नारायण ने "हितोपदेश" नामक एक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी थी। इसी काल की एक प्रसिद्ध पुस्तक "वृहत्कथा" है जिसकी रचना "गुणाढ्य" ने की थी। इस पुस्तक ने आठवीं शताब्दी में लिखित बुद्धस्वामिन् के "नैपाली" वृहत्कथा-श्लोक-संग्रह, क्षमेन्द्र के "वृहतकथा मंजरी" सोमदेव के "कथा-सरित-सागर" जैसे अन्य कथा-ग्रन्थों के लिए आदर्श प्रस्तुत किए। कथा-सरित-सागर की मुख्य कथा तथा इससे सम्बन्धित ३५० कथाएँ अत्यधिक प्रसिद्ध हो गईं। इसको ११ वीं शताब्दी में प्रचलित सामाजिक

आचार-व्यवहारों, रस्म-रिवाज़ों का कोष कहा जा सकता है। इसमें शिक्षा युक्त नीतियाँ, अनोखी घटनाएं, नाविकों की कहानियाँ तथा डाकुओं एवं प्रेतों की कथाएं (वैतालपंच विंशतिक की २५ कथाएं) हैं। इसमें पौराणिक एवं रहस्यपूर्ण कथाएं भी हैं। सोमदेव शिव तथा दुर्गाभक्त थे इसलिए इन कथाओं में शक्ति की आराधना का अत्यन्त सुन्दर वर्णन मिलता है। पश्चिम में इनमें से कई कथाओं की नक़ल की गई है। उदाहरणार्थ, सूक-सप्तति (तोते की ७० कहानी) की कहानी की पश्चिम में नक़ल हुई है। अन्य कहानी लेखकों में "दशकुमार चरित्र" के लेखक "दंडिन" बहुत प्रसिद्ध थे। ये लेखक सातवीं शताब्दी में जीवित थे। इस पुस्तक में उस काल के राजाओं, रईसों तथा नगरों के आन्तरिक भाग के निवासियों के जीवन का सुन्दर चित्रण किया गया है। दंडिन बहुत बड़े यथार्थवादी तथा संस्कृत के महान विद्वान थे। 'वासवदत्ता' के लेखक "सुबंधु" भी प्रसिद्ध लेखक थे। यह पुस्तक एक ऐसे राजकुमार की कहानी है जो काफी वेदना सहन करने के पश्चात् दयालु पक्षियों की सहायता से अन्ततोगत्वा अपनी प्रेयसी से मिल जाता है। इस कहानी में बात करने वाले पक्षियों तथा जादू के घोड़ों का सुन्दर वर्णन है। "बाण" भी एक विख्यात कथाकार थे जो अपनी वर्णन-शक्ति, तुलना करने की कला तथा अलंकार के लिए प्रसिद्ध हैं। "हर्षचरित्र" तथा "कादम्बरी" इनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। धनपाल नामक एक अन्य प्रसिद्ध लेखक भी थे जिन्होंने "तिलक मंजरी" नामक उपन्यास लिखा था।

इस काल में विज्ञानों पर भी कई पुस्तकें लिखी गई थीं। उदाहरणार्थ, भाष्कराचार्य ने खगोल विद्या पर "सिद्धान्त शिरोमणि" नामक अति प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा था जिसका "सूर्य सिद्धान्त" के बाद द्वितीय स्थान है। इस पुस्तक में आकर्षण शक्ति, ग्रहण तथा पृथ्वी की गोलाई के सिद्धान्त दिए गए हैं। ब्रम्हगुप्त, लल्ला, श्रीधर, ब्रम्हदेव तथा उत्पल नामक अन्य महान् लेखक प्रसिद्ध थे। गणितशास्त्र में आर्यभट्ट, भाष्कराचार्य तथा वाचस्पति प्रसिद्ध लेखक थे। आयुर्वेद में वागभट्ट का "अष्टाँग-संग्रह", माधवकर का "माधव-निदान", चक्रपाणिदत्त का "चिकित्सा-सार-सँग्रह" तथा शाँगधर का "शाँगधर सँहिता" आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। शल्य-चिकित्सा, प्रेम, भाषा-विज्ञान (शब्द प्रदीप) पर भी पुस्तकें थीं। अन्य ग्रन्थों में कृषि सम्बन्धी "कृष्ण-संग्रह", बररुचि का "प्राकृत प्रकाश" (प्राकृत भाषा का व्याकरण), मौगलायन तथा धनपाल के क्रमशः पाली एवं प्राकृत शब्दकोष उल्लेखनीय

हैं। दक्षिण भारत में भी कई बड़े–बड़े ग्रन्थों के सम्पादन हुए थे और कई लिखे गए थे। इन ग्रन्थों में "चिन्तामणि", रामायणम्, कलवल्लिनादपटु तथा विक्रमशोलनूल प्रसिद्ध हैं। इनमें से अन्तिम दो ऐतिहासिक काव्य हैं। ये सभी ग्रन्थ तामिल भाषा में हैं। इस क्षेत्र में जैन लोग अग्रदूत थे। इन्होंने कन्नड़ साहित्य को विकसित किया और "कविराज मार्ग", "बासव पुराण", "शतक" तथा "पम्प–भारत" इस भाषा के मुख्य ग्रन्थ हैं। तेलगू भाषा में नानिया भट्ट तथा अन्य लोगों द्वारा किया गया महाभारत का अनुवाद प्रसिद्ध है।

अस्तु, मध्यकाल में भारतीयों ने साहित्य के क्षेत्र में जो योगदान किए हैं वे महत्वपूर्ण तथा प्रशंसनीय हैं। प्राचीन साहित्य के खो जाने का खतरा उपस्थित हो गया था परन्तु इन्हीं लेखकों को हमारे साहित्य को सुरक्षित रखने का श्रेय है। यह भी उल्लेखनीय है कि इस काल में मौलिक ग्रन्थों का अभाव सा हो गया था। शैली में तथा बहुशब्दों में क्लिष्टता पर बहुत जोर दिया जाता था।

यह काल हिन्दू दर्शन के विकास के लिए भी प्रसिद्ध है। प्राचीन दर्शन साहित्य पर कई टीका–टिप्पणियाँ लिखी गईं। कुमारिल भट्ट, शंकर, रामानुज तथा निम्बार्क सबसे प्रसिद्ध दार्शनिकों में से थे। इस काल के प्रारम्भ में बौद्धधर्म तथा हिन्दू धर्म के अनुयाइयों मे दर्शन सम्बन्धी संघर्ष भी हुए जिसमें कुमारिल भट्ट तथा शंकर ने नेतृत्व किया। इस संघर्ष के फलस्वरूप इस भूमि में बौद्ध धर्म का अन्त हो गया और नवीन हिन्दू धर्म का जन्म हुआ।

इस नवीन हिन्दू धर्म के उपदेशकों में कुमारिल भट्ट बहुत प्रसिद्ध हैं। बौद्ध धर्म के अनुयायियों से इनका भयंकर और अनन्त संघर्ष चलता रहा था। वे कर्म मार्ग में विश्वास करते थे। इनका विश्वास था कि मुक्ति का एकमात्र मार्ग 'कर्मों' (वेदों या स्मृतियों के दैनिक या सामजिक कर्मकाँडों) का सम्पन्न करना है। इस प्रकार वैदिक दर्शन से लिए गए शास्त्रों से बौद्ध धर्म के विरुद्ध संघर्ष करते हुए कुमारिल भट्ट ने वैदिक पूजा–पाठों, उत्सव–समारोह को पुनर्जीवित किया।

इस युग के सबसे बड़े दार्शनिक शंकर थे। कोचीन–शोरनपुर रेलवे लाइन पर स्थित "अलवई" नामक स्टेशन से ६ मील पूर्व स्थित कलादी नामक गाँव को उनका जन्मस्थान बताया जाता है। ये मालाबार के

नाम्बूद्री ब्राह्मण थे। इनके माता-माता ने सन्तान प्राप्ति के लिए शिव की आराधना की थी इसलिए इनका नाम 'शंकर' रखा गया। इनकी जन्म-तिथि निश्चित नहीं है परन्तु कुछ लोगों के अनुसार इनका जन्म सन् ७८८ ई० में हुआ था। कहा जाता है कि आठ वर्ष की आयु में ही इन्होंने सब वेदों तथा वेदाँगों का का पूर्ण अध्ययन कर लिया था। इन्होंने विवाह करने से इन्कार कर दिया था और ये सन्यासी हो गए थे। बौद्ध धर्म के विरुद्ध संघर्ष करते हुए इन्होंने पूरे भारत का पर्यटन किया था और देश भर में वेदान्त का प्रचार किया था। इन्होंने कई मठों की भी स्थापना की थी। इन्होंने कुमारिल भट्ट के महान शिष्य मन्डन मिश्र के कई तर्कों का खंडन भी किया था। मन्डन मिश्र की पत्नी 'भारती' से द्वैतवाद पर इनका वाद-विवाद भी चला था। इन्होंने तुंगभद्रा नदी के मुहाने पर विद्या का प्रधान केन्द्र स्थापित किया था जो 'श्रृंगेरी मठ' के नाम से प्रसिद्ध है। सम्भवतः सन् ८२८ ई० में केदारनाथ में ३२ या ३३ वर्ष की आयु में ही उनका देहान्त हो गया।

भारत में मध्यकाल में जितने दार्शनिक हुए उन सब में शंकर श्रेष्ठ हैं। इनके दर्शन ने नवीन हिन्दूधर्म की आधार शिला मजबूत करने का काम किया। इन्होंने तत्कालीन समस्तवैदिक धर्मों का एक विचारधारा में समन्वय करने का प्रयास किया था। इनके वेदान्तवाद ने यह समन्वयात्मक दर्शन दिया और बाद के लेखकों ने उसी विषय को भिन्न-भिन्न रूपों में लिखने का प्रयास किया। शंकर का वेदान्त दर्शन माया या अविद्या के अनुभव (कल्पना) से प्रारम्भ हुआ। इस संसार में वास्तव में "ब्रह्म" के अतिरिक्त कुछ नहीं है; इसलिए जिसे प्रकृति कहा जाता है वह अज्ञानता से उत्पन्न माया तथा स्वप्न है जो उस "ब्रह्म" को छिपाये है। आग से उत्पन्न होने वाला धुआँ कुछ समय के लिए लपट को छिपा लेता है। रस्सी को भ्रम से साँप समझा जाता है। इसलिए जीवन हमें उन समस्त वाह्यावरणों को उतार फेंकना चाहिए जो हमारी अन्तरात्मा को छिपाये हुए हैं और हमको अपने अन्तर में स्थित आत्मा की उस ब्रह्म से एकरूपता को पहचानना चाहिए। इस लक्ष्य को प्राप्त करने का मुख्य साधन सच्चा ज्ञान प्राप्त करना अर्थात् वेदान्त का अध्ययन करना और इसमें दिए गए उपदेशों पर चलना है। अस्तु, शंकर ने मुक्ति-प्राप्ति के लिए ज्ञान-मार्ग और सन्यास पर जोर दिया। शंकर ने कर्म और भक्ति के मार्ग पर भी जोर दिया था, यद्यपि अन्तिम मुक्ति के लिए तपस्या

और ज्ञान के मार्ग के प्रति भक्ति आवश्यक थी ताकि मनुष्य यह अनुभव कर सके कि "मैं ब्रह्म हूँ।" शंकर ने अनेक प्राचीन वैदिक ग्रन्थों पर टिप्पणियाँ लिखी थीं।

किसी सीमा तक शंकर की एक भारी कमजोरी मुक्ति के साधन के रूप में भक्ति या उपासना की उपेक्षा थी। इस कमजोरी को दूर करने के लिए रामानुजाचार्य, माधव तथा निम्बार्क अन्य प्रसिद्ध दार्शनिक हुए। दक्षिण के "अलवरों" ने पहले ही मुक्ति–प्राप्ति के साधन के रूप में भक्ति के सिद्धांत पर जोर दिया था। रामानुज तथा अन्य दार्शनिकों ने उन्हीं के सिद्धान्तों को दार्शनिक स्वरूप दिया।

कहा जाता है कि रामानुज का जन्म सन् १०१७ ई० में हुआ था। श्रीपेरुम्बुतूर के "असुरी केशव भट्टार" उनके पिता थे। युवावस्था में रामानुज काँजीवरम में थे। वहाँ अद्वैत दार्शनिक गुरु यादवप्रकाश के पास रह कर इन्होंने अध्ययन किया था। रामानुज शंकर के अद्वैत दर्शन से सन्तुष्ट नहीं थे। विवाहित जीवन का त्याग करके वे सन्यासी बन गए और उन्होंने अपने उन उपदेशों का प्रचार किया जो आगे चलकर भारत के नवीन वैष्णवधर्म के आधार बने। शंकर की भाँति इन्होंने भी भारत-पर्यटन किया। कहा जाता है इनका देहावसान १२० वर्ष की आयु में (सन् ११३७) हो गया। विद्या एवं भक्ति का इनका प्रधान केन्द्र श्रीरंगम है।

इनका दर्शन "विशिष्टाद्वैतवाद" या संशोधित अद्वैतवाद कहा जाता है। इनका दर्शन शंकर के अद्वैतवाद का व्यावहारिक संशोधन है। ऐसा इसलिए कहा जाता है क्योंकि इनका दर्शन "अद्वैत" को "विशेष" के साथ लेकर चलता है। ईश्वर अकेला है, जो सब दिखाई पड़ता है वह उसके प्रकाश या शक्तियाँ हैं। ये शक्तियाँ "चित्", आत्माएँ और "अचित्" हैं। शंकर किसी शक्ति को नहीं मानते थे और संसार को अयथार्थ (अवास्तविक) मानते थे। रामानुज संसार को यथार्थ तथा स्थायी परंतु एक ब्रह्म के नियंत्रण के आधीन मानते थे। ये शक्तियाँ ब्रह्म से पृथक होकर स्वतंत्र रूप में नहीं रह सकतीं। इसलिए ईश्वर का एकत्व उसके अस्तित्व के अनुकूल है। रामानुज ने अनुभव किया था कि हिन्दुओं की वृहत् संख्या शंकर के वेदान्त दर्शन को सरलता से नहीं समझ सकती थी क्योंकि शंकर का उक्त दर्शन बहुत ही दार्शनिक था सामान्य हिन्दू मस्तिष्क के लिए उसको समझ सकना कठिन था। उसको एक ऐसे साकार

ईश्वर की आवश्यकता थी जिसके पास वह अपने कष्ट के समय पहुँच सके। इसलिए रामानुज ने भागवत की पुरानी धार्मिक विचारधाराओं तथा शंकर वेदाँती विचारधाराओं का समन्वय किया और भक्ति तथा सेवा एवं ईश्वर के समक्ष आत्मसमर्पण के धार्मिक मूल्य पर जोर दिया। अस्तु, उनके लिए जीवन में पवित्रता, पापरहितता तथा स्वार्थरहितता लाने का सर्वोत्तम साधन "भक्ति-मार्ग" था। अस्तु, मोक्ष या मुक्ति-प्राप्ति का भी यही सबसे सच्चा मार्ग था। रामानुज आधुनिक श्री-वैष्णव सम्प्रदाय के सबसे महत्वपूर्ण संस्थापक थे।

वैष्णवधर्म के एक महान् दूत माधव थे जिन्होंने द्वैतवाद का दर्शन प्रस्तुत किया है। इनका जन्म सन् १२३८ ई० में हुआ था। भंडारकर के अनुसार इनका जन्म शक सम्वत् ११११ में तथा देहान्त शक सम्वत् ११९८ में हुआ। ये तुलुभ (जो अब मद्रास का कनारा है) प्रदेश के थे। युवावस्था में इन्होंने खेल-कूद के क्षेत्र में बड़ा सम्मान पाया और लोग इनको भीम कहते थे। उचित समय पर ये सन्यासी हो गए। वेदों तथा वेदाँगों के अध्ययन के पश्चात् इनके गुरु ने इनको "आनन्दतीर्थ" की उपाधि प्रदान की और इनको अपने मठ का प्रधान बना दिया। इसके उपरान्त इन्होंने देशभ्रमण शुरू कर दिया और अपने विरोधियों से द्वैत-वाद विषयक वाद-विवाद करने लगे। इनके वैष्णवधर्म को उदास वैष्णव धर्म कहा जाता है। अपने द्वैत दर्शन में इन्होंने शंकर के अद्वैतवाद तथा रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद दोनों का खंडन किया है। इनके मतानुसार यह संसार "यथार्थ" और अनन्त है तथा अयथार्थ या एक मात्र ब्रह्म के अधीन नहीं है। सही दृष्टिकोण तभी प्राप्त होता है जबकि चाँदी को चाँदी के रूप मे देखा जाय और सीप को भ्रमवश चाँदी न समझा जाय। विष्णु या नारायण परमात्मा हैं और उनकी पत्नी लक्ष्मी भी "यथार्थ" हैं। ब्रह्मा और वायु उनके दो पुत्र हैं। आत्माओं के स्वरूप इस जगत के जीव-प्रकृति के स्वरूपों से मिलते-जुलते हैं और इनकी तीन श्रेणियाँ हैं: प्रथम श्रेणी में पितृ, ऋषि तथा राजागण आते हैं जिनको नारायण के प्रदेश में अनन्त निवास-स्थान मिला है। द्वितीय श्रेणी में वे मनुष्य (अधिकाँश) आते हैं जो इस संसार के उलट-फेर अर्थात् जन्म-मृत्यु की बुराइयों के अधीन हैं। तृतीय श्रेणी में वे आत्माएँ हैं जिनको विष्णु के शत्रुओं के समान नरक में जाना है। माधव वैष्णव धर्म के व्याख्याता भी थे और इन्होंने गुरुको विशेष स्थान दिया है जिसके द्वारा मुक्ति-प्राप्ति

संभव है। ये शंकर और उनके अनुयायियों के प्रति बहुत कटु थे। इसलिए, अपने समकालीन दार्शनिकों में यही एक ऐसे थे जिनमें असहिष्णुता की भावना थी। माधव–मत में वर्ष में विभिन्न प्रकार के उत्सव–समारोह आदि भी पाये जाते हैं।

इसकाल में, उत्तर भारत में, वैष्णव मत के सर्वप्रथम महान् दार्शनिक निम्बार्क थे। भंडारकर के अनुसार इनकी मृत्यु लगभग सन् ११६२ ई० में अर्थात् रामानुज के कुछ समय बाद हुई थी। इनका जन्म मद्रास के बेलारी जिले के निम्ब गाँव में हुआ था परन्तु बाद में वे यहाँ से जाकर मथुरा के निकट रहने लगे थे। इनके वेदान्त सिद्धान्त को "द्वैताद्वैतवाद" कहा जाता है। वे द्वैत तथा अद्वैत दोनों वादों को मानते थे। अर्थात इन्होंने द्वैत तथा अद्वैत दोनों वादों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया था। उनके अनुसार यह निर्जीव संसार, वैयक्तिक आत्मा तथा ईश्वर एक दूसरे से भिन्न (द्वैतवाद) तथा एकरूपी (अद्वैतवाद) हैं। ये तीनों इस अर्थ में एकरूपी हैं कि प्रथम दो का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है और ये दोनों अपने अस्तित्व एवं कार्यगति के लिए ईश्वर के अधीन हैं। परन्तु वैयक्तिक आत्मा शंकर के मतानुसार केवल मात्र ज्ञान का प्रकाश ही नहो है, यह सार है और इसका अस्तित्व है, यद्यपि इसका रूप माया के सम्पर्क मे बिगड़ जाता है। इसकी सही प्रकृति को ईश्वर की दया से जाना जाता है। इनके सिद्धान्तों में मुक्ति का प्रथम उपाय ईश्वर के समक्ष आत्मसमर्पण को बताया गया है। इन्होंने कृष्ण तथा राधा को महत्व दिया है।

मध्यकालीन भारत के ये मुख्य दर्शन थे। ये समस्त दर्शन वैदिक तथा वेदोत्तरकालीन दार्शनिक ग्रन्थों पर आधारित थे। इन्होंने उन ग्रन्थों की व्याख्या करने की चेष्टा की ओर शंकर के अतिरिक्त अन्य सब लोगों ने अतीत के वेदों में भक्ति या उपासना को ग्रहण करने का प्रयास किया। अस्तु, इन लोंगों ने सबसे अधिक जोर ज्ञान या कर्म पर नहीं वरन् ईश्वर-प्रेम तथा ईश्वर के समक्ष आत्मसमर्पण पर डाला था। इसमें वे लोग सच्ची आध्यात्मिकता से, जो एक और पूर्ण है तथा तीनों मार्गों का समन्वय है, हट गए थे। सच्ची आध्यात्मिकता मनुष्य के मस्तिष्क संबंधी, जीवन संबंधी तथा भौतिक तत्वों में से किसी की भी उपेक्षा नहीं करती प्रत्युत् वह मस्तिष्क से परे पहुँचने के लिए इन सबसे ऊपर उठ जाती है जब कि इन दर्शनों ने मनुष्य के जीवन सम्बन्धी या भाव सम्बन्धी तत्वों पर अधिक जोर दिया है।

अब, हम इस काल के धार्मिक जीवन की मुख्य विशेषताओं का अध्ययन कर सकते हैं। इस काल में प्रचलित हिन्दू धर्म, उसके प्रतीकों तथा पौराणिक कथाओं का, जो आज तक प्रचलित हैं, विकास हुआ। इस हिन्दू धर्म में भक्ति का बहुत महत्व था। इसके अनुसार किसी साकार ईश्वर की उपासना को ही मुक्ति-प्राप्ति का मार्ग माना जाता था। इन साकार ईश्वरों में शिव, विष्णु राम तथा कृष्ण अत्यधिक लोकप्रिय थे। काली, उमा, दुर्गा, चन्डी, लक्ष्मी, अष्टभुजा आदि विभिन्न देवियों के रूपों में ईश्वर के नारी-रूप या मातृशक्ति की भी आराधना प्रचलित थी। यहां यह भी बता देना आवश्यक है कि इस सिद्धान्त के विकास के साथ अन्धविश्वास भी चल रहा था जिसके कारण एक इतिहासविद ने लिखा है कि "अलबरूनी के भारत का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर मस्तिष्क पर यह छाप पड़ती है कि अलबरूनी के भारत की अधिकाँश जनता पाप के पंक में डूबी हुई थी और धर्म की प्रतिष्ठा पर सबसे अधिक गन्दगी फैला रही थी।" परन्तु साथ ही अलबरूनी ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उस समय के शिक्षित वर्ग की दार्शनिक, धार्मिक तथा वैज्ञानिक विचारधाराएं अत्यधिक विकसित एवं समुन्नत थीं। उदाहरणार्थ, ईश्वर के विषय में हिन्दुओं का विश्वास है कि वह एक है और अनन्त है, वह अनादि है, वह स्वेच्छा से स्वतंत्र रूप में कार्य करता है, वह सर्वशक्तिमान् जीवित एवं जीवनदायक तथा सर्वबुद्धिमान है, वह शासन करता है और रक्षा करता है, उसकी सार्वभौमिकता अद्भुत है वह इच्छा तथा अनिच्छा से परे है, वह किसी वस्तु से मिलता-जुलता नहीं और न कोई वस्तु उससे मिलती-जुलती है। नागरिकता के दृष्टिकोण से नहीं वरन् मोक्ष के दृष्टिकोण से हिन्दुओं का मानव-समानता के सिद्धान्त में भी विश्वास चला आ रहा है। हिन्दू दार्शनिकों के अनुसार मोक्ष सब वर्गों तथा सम्पूर्ण मानव जाति के लिए सामान्य है, यदि उसे प्राप्त करने की उनकी इच्छा पूर्ण है। अलबरूनी ने यह मत भी प्रकट किया था कि मूर्तियाँ केवल अशिक्षित लोगों के लिए बनाई गई थीं; शिक्षित हिन्दुओं ने कभी भी प्राकृतिकता से परे की किसी वस्तु या जीव (ईश्वर) की मूर्ति नहीं बनाई थी। मध्यकाल तक में धार्मिक मतभेदों पर बहुत कम विवाद होते थे। "उनकी सारी कट्टरता केवल उन लोगों के लिए थी जो उनकी जाति या देश के लोग नहीं थे। अर्थात् वे समस्त विदेशियों के प्रति कट्टर थे। वे उन्हें "म्लेक्ष" अर्थात अपवित्र कहते थे और उनसे किसी प्रकार का भी सम्पर्क रखना वर्जित था। उनको हिन्दू धर्म में सम्मिलित करने की आज्ञा

नहीं थी।" ¹ ११ वीं शताब्दी में "छूत" या अस्पृश्यता का सिद्धान्त अपनी सीमा पर था। प्रचलित धर्म पर ब्राह्मणों का प्रभुत्व हो गया था तथा निम्न जाति के लोगों के लिए वेदों का अध्ययन निषिद्ध कर दिया गया था। किन्तु इन मतभेदों के बावजूद भी हिन्दू समाज भक्ति के प्रभाव के अन्तर्गत एकता के सूत्र में बंधा चला आ रहा था। इस समय शैव तथा वैष्णव नामक दो सबसे मुख्य मत प्रचलित थे। हम यहाँ पर संक्षेप में इन दोनों मतों के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं।

शैव धर्म कई शाखाओं की व्यवस्था है और इसमें शैव धर्म, शक्ति धर्म तथा अन्यान्य गौण व्यवस्थाएं भी सम्मिलत हैं। इसे कभी--कभी 'वृत्य' या द्रविड़ व्यवस्था भी कहा जाता है। "रिलीजन्स आफ इंडिया (वाल्यूम १)" नामक अपनी पुस्तक में ए० पी० कर्मकार ने कहा है कि शैवधर्म भारत में सबसे प्राचीन धर्म है। सिन्धु–घाटी–सभ्यता में यह अपने प्रारंभिक रूप में पाया जाता है। वेदों में भी अनार्यों को "शिश्न–देवा:" कहा गया है जो कर्मकार के अनुसार सिंधु–घाटी–सभ्यता में नग्न रूप में दिखाए गए "शिव" से संबंधित है। इस मत को पहले "वृत्य" कहा जाता था जिसे अथर्ववेद में महादेव के रूप में दिखाया गया है। मोहेन्जोदड़ों के लेखों की हेरास ने जो व्याख्या की है उसके अनुसार इनमें शिव, मुरुग (पार्वती), अम्मा (कार्तिकेय) की दैवी त्रिमूर्ति का उल्लेख है। यह शिव केवल विध्वंसक ही नहीं अपितु सृष्टिकर्ता एवं रक्षक भी थे। अस्तु शिव तीन मुख के या त्रिमूर्ति थे। ब्राह्मणों ने इस विचारधारा को बाद में अपनाया है।

प्रारंभिक काल में गणपति या गणेश का उल्लेख नहीं है। उनका उल्लेख हरिवंश के काल के अन्त तक किया गया है। पातन्जलि तक ने इनका उल्लेख नहीं किया है। वैदिक देवता "रुद्र" नए व्यक्तित्व को प्रस्तुत करने के प्रयास मात्र थे। बाद में शिव और रुद्र मिला दिए गए और अंततोगत्वा इनको "ब्रह्मा, विष्णु, शिव" की त्रिमूर्ति में स्थान दे दिया गया। आगे चल कर, इसी काल में शिव को पशुपति कहा गया। वीरगाथाओं तथा पुराणों में सिन्धु–घाटी के लोगों के शिव तथा वैदिक काल के रुद्र का अंतिम रूप में विलयन हो गया। महाभारत तथा कुछ पुराणों में शिव के १००८ नामों की लम्बी सूची प्रस्तुत की गयी है। शिव के साथ ही लिंग-पूजा का सिद्धान्त और देवी अम्मा की पूजा भी प्रचलित है। बाद में देवी अम्मा (मातृदेवी) की पूजा तांत्रिक धर्म का आधार बन गई। उड्रोफ ने कहा है कि "जब हम इस मातृपूजा के इतिहास पर अपनी दृष्टि डालते

हैं तब हम धुंधले अतीत में प्रकृति–माता का फैला हुआ रूप देखते हैं। यह प्रकृति–माता प्राचीनों में सबसे प्राचीन, आद्यशक्ति, अनेक वक्षस्थलों वाली इथिस्, काली, हाथोर, सिबिली, गोमाता देवी इड़ा, त्रिपुरा–सुन्दरी कुन्डलिनी, गुह्य–महा–भैरवी तथा समस्तरूपों में दिखाई देती है।"[२] पुरातत्व सम्बन्धी प्रमाण मातृपूजा को न केवल सिन्धु–घाटी सभ्यता में अपितु मौर्य एवं सुन्ग कालों में भी प्रचलित बताते हैं। बाद में, इस विषय के प्रमाण अत्यधिक हो गए। पुराण–काल में शक्ति धर्म (शाक्तधर्म) नामक एक प्रथक मत का मातृ–पूजा पर एकाधिपत्य हो गया। शाक्तधर्म में ईश्वर को सर्व शक्तिवान माता माना जाता है और उन्हें महादेवी (शिव की पत्नी) कहा जाता है। कभी–कभी इनको शिव से बड़ा और उनकी रचयित्री भी माना जाता है। आद्यशक्ति, महाशक्ति, जगदम्बा, ललिता, महात्रिपुरा–सुन्दरी, महाकुन्डलिनी आदि इनके विभिन्न नाम हैं। कहा जाता है कि सम्राट हर्ष शक्ति धर्म या तांत्रिकधर्म पर चलता था। हमारे काल में शाक्तधर्म के तत्त्व वैष्णव तथा अन्य मतों में फैले हुए मिलते हैं।

वैदिककाल के बाद भारत के भिन्न–भिन्न स्थानों एवं प्रान्तों में शक्ति-धर्म के भिन्न–भिन्न रूप हो गए। इन रूपों के दो मुख्य मतों–दक्षिणा-चार तथा वामाचार–में बाँटा जाता है। वामाचार को घृणित माना जाता है क्योंकि इसमें चक्र–पूजा जैसे अनैतिक एवं अश्लील कर्मकाण्ड (पूजा–पाठ की विधियाँ) हैं। दक्षिणाचार में देवी की आराधना की जाती है। रात्रि में कुछ कर्मकाण्ड किए जाते हैं। मनुष्य की हड्डियों की माला के उपयोग के द्वारा मायावी (जादू की) शक्तियों को प्राप्त किया जाता है। "कमला" या "दिव्य" का स्तर सबसे ऊँचा है जो सभी वस्तुओं में अनश्वर को तथा अपने में सब वस्तुओं को देखता है। शाक्तधर्म को तान्त्रिक धर्म भी कहा जाता है तथा इनके साहित्य "अगम" कहे जाते हैं। शैव धर्म या शाक्तधर्म के अध्ययन के बाद यह कथन सत्य सिद्ध होता है कि उधर द्रविड़ लोग भाषा के मामले में आर्य बन रहे थे और इधर आर्य लोग संस्कृति में द्रविड़ होते जा रहे थे।" कहा जाता है कि इन मतों की उपासना का द्रविड़ों के साथ, जो सम्भवतः सिन्धु-घाटी में पाये जाते हैं, जन्म हुआ था। यती, अरहत, गणगिर, पाशुपत, लकुलिश, कापालिक, कालमुख, नाथ, रसेश्वर आदि शैवधर्म के मुख्य सम्प्रदाय हैं। शैवधर्म में लिंगायत, अघोरी आदि छोटे–छोटे अन्य मत भी हैं।

हमारे काल में, चार आचार्यों तथा वैष्णव मत के अलवरों के समान ६३ पर्यटक साधुओं के प्रयत्न से मुख्यतः दक्षिण में शैव दर्शन तथा भक्ति की पूर्ण उपासना का दृढ़ रूप में प्रचलन हुआ। उक्त पर्यटक साधु "नयनार" कहे जाते थे। शैव दर्शन यह है कि शिव अनादि हैं, उनमें कोई त्रुटियाँ नहीं हैं और वे सर्वज्ञाता हैं। उनका शरीर सर्व शक्ति है और वह ५ मंत्रों से बना है। पति, पशु (आत्मा) तथा पाश (संसार) ये तीन शैवधर्म के मौलिक सिद्धांत हैं।

शिव-शक्ति शिव (जो शुद्ध चेतना है) तथा भूत (जो अचेतन है) के बीच की श्रेणी है। यह सभी प्राणियों के बन्धन तथा उनकी मुक्ति का भी कारण है। मनुष्य अज्ञानता, माया (जिसे अनुग्रह में परिवर्तित होने वाली शक्ति भंग करती है) तथा कर्म (जो ईश्वर की दया से धीरे-धीरे मोक्ष तक ले जाता है या शिव के समान बना देता है) नामक कई जंजीरों में बँधा हुआ है। विभिन्न शैव मतों में अन्तर हैं तथा उत्तरी या काश्मीर सम्प्रदायों तथा दक्षिणी तामिल सम्प्रदायों में विभाजन है। एक लिंगायत सम्प्रदाय भी है जो अकेले शिव की आराधना करता है और सभी वर्गों को समान घोषित करता है।

शैवधर्म के समान वैष्णव धर्म का भी इतिहास अत्यधिक प्राचीन है। यह सच है कि ऋग्वेद के प्रारंभिक काल में वैष्णवों के परमेश्वर विष्णु कोई पृथक देवता नहीं थे। वे अनवरत कार्यगति के भगवान के रूप में सूर्य थे। वरुण आदित्यों के प्रधान थे। चूंकि विष्णु वरुण और "भाग" (दानशीलता के देवता) दोनों के साथ थे, इसलिए यह समझना सरल है कि आगे चलकर वरुण और 'भाग' के गुण विष्णु में स्थानान्तरित हो गए। यह भी कहा जाता है कि विष्णु ने तीन डगों में इस संसार को पार किया था। उपर्युक्त व्याख्याओं में हम उन बीजों को पाते हैं जिनसे आगे चलकर पौराणिक हिन्दूधर्म का जन्म हुआ। तीन डगों की विचारधारा से बलि, वामन, त्रिविक्रम अवतारों के विचार सामने आए। जगत को पालन करने की विचारधारा से त्रिमूर्ति के एक देवता विष्णु के प्रमुख कार्य का आभास हुआ। दानशीलता की विचारधारा से "आनन्द" का विकास हुआ जो वैकुन्ठ के सिद्धान्त का आधार बनी। वैकुन्ठ का सिद्धान्त यह है कि विष्णु के भक्तगण उनके उच्चतम निवास-स्थान वैकुन्ठ में उनके साथ और उनकी सेवा में स्वर्गीय सुख में रहते हैं।

बाद में वैदिक काल में "पुरुष"-सर्वशक्तिमान् मानव-की विचारधारा

का जन्म हुआ और इसके साथ ही "नारायण" और "नर" विचारधारा आई। आगे चलकर उपनिषदोत्तर काल में इसका विस्तार कर दिया गया और सतवत-यादव वंश, के एक सदस्य, जिसका नाम वासुदेव, कृष्ण और देवकीपुत्र था, ने इसको भिन्न स्थान दिया। छान्दोग्य उपनिषद् में कृष्ण देवकीपुत्र को "गोरा अंगिरास" के एक शिष्य के रूप में दिखाया गया है। उन्होंने भागवत के नाम से "ईश्वर" की उपासना (भक्ति) को प्रचलित किया था। आगे चलकर वासुदेव और भागवत एक रूपी हो गए और पाणिनि के व्याकरण में भागवत को वासुदेव के और अर्जुन के समरूपी दिखाया गया है। इन समस्त विकासों ने भगवत गीता में अन्तिमरूप धारण किया जिसमें विष्णु के अवतारों के पूर्ण सिद्धान्त का सविस्तार वर्णन किया गया। इसलिए "गीता भक्ति-व्यवस्था या एकान्तिक धर्म का सबसे प्राचीन प्रकाश (स्वरूप) है।"[3]

ईसा के बाद प्रथम चार शताब्दियों में वैष्णव धर्म के उपर्युक्त तत्वों में कृष्ण (ग्वाला) की कथा जोड़ दी गई। भागवत धर्म के पूर्ण सिद्धान्त को "पंचरात्र अगम" (आराधना की जनप्रिय प्रणाली) भी कहा जाता था। अस्तु, इस काल में पंचरात्र संहिता नामक वैष्णवधर्म के आधारभूत ग्रन्थों की रचना हुई। इसी काल में राम को भी इस मत में ले लिया गया। राम भी ईश्वर या विष्णु के अवतार माने जाते थे। अस्तु, प्राचीन काल के अन्त तक वैष्णवधर्म के मुख्य-मुख्य तत्वों का जन्म हो चुका था और विष्णु, नारायण, वासुदेव कृष्ण आदि मुख्य अवतारों का वर्णन कर दिया गया था। मध्यकाल में इस मत के दर्शन तथा आचार-व्यवहारों का और भी विकास हुआ। रामानुज, माधव, निम्बार्क, वल्लभाचार्य तथा अन्यान्य लोगों ने इस काल में वैष्णवधर्म के विकास (परिवर्तन) में बड़ा योगदान किया। रामानुज, माधव तथा निम्बार्क के योगदानों का हम वर्णन कर चुके हैं। वल्लभ ने इस क्षेत्र में क्या-क्या योग दिए अब हम इसका वर्णन करते हैं।

वल्लभाचार्य (१४७९-१५३१) तेलगू प्रदेश के थे किन्तु इनका जन्म बनारस में हुआ था। इन्होंने संस्कृत की शिक्षा पायी थी और बाद में बड़े-बड़े विद्वानों तथा महान् व्यक्तियों से भेंट करते हुए सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया था। वे अपने को अग्नि-देव का अवतार कहते थे। इन्होंने किसी मनुष्य को अपना गुरु नहीं माना और यह कहा कि मैंने अपनी व्यवस्था सीधे कृष्ण से सीखी है। दार्शनिक दृष्टि से इनके मत को

"शुद्धाद्वैत" कहा जाता है। इन्होंने शंकर के दर्शन को, जिन्होंने भक्ति पर नहीं दिया था, सुधारने का प्रयास किया। इनके लिए भक्ति न केवल साधन अपितु साध्य थी। सच्चा भक्त सदैव कृष्ण के साथ रहेगा और उनके साथ क्रीड़ा करेगा। इनके अनुसार भक्ति ईश्वर के द्वारा उसकी दया से प्राप्त होती है। मुक्त आत्माएँ कृष्ण के उस स्वर्ग (व्यापि-वैकुन्ठ) में पहुँच जाती है जो विष्णु, शिव ओर ब्रह्मा के स्वर्गों से भी ऊपर और दूर है। स्वर्ग में वृन्दावन भी है जहाँ राधा, गोपियां तथा गोप रहते हैं। ये सब कृष्ण के साथ अनन्त काल तक क्रीड़ा करते रहते हैं। वल्लभ के अनुयायी की उच्चतम आकांक्षा गोपी बन जाना और कृष्ण के साथ उनके स्वर्ग में क्रीड़ा करना है।

इस मत को कृष्ण या सेवा मत और पुष्टिमार्ग भी कहा जाता है। प्रत्येक मन्दिर में दैनिक आठ बार पूजा होती है। इस मत का मंत्र "श्रीकृष्ण शरणम् मम" है। गुरु को सदैव ईश्वर माना जाता है। इन गुरुओं को 'महाराजा' कहा जाता है। पश्चिमी भारत के धनी व्यापारी वर्ग में यह मत बहुत प्रचलित है।

भक्ति मत

अस्तु, हम यह कह सकते हैं कि मध्यकाल का धार्मिक जीवन भक्ति में केन्द्रित था। शतरुद्रिय के एक श्लोक के अतिरिक्त वेदों या उपनिषदों में "भक्त" शब्द नहीं मिलता परन्तु इन ग्रन्थों में इसकी विचारधारा पायी जाती है। भक्ति का शाब्दिक अर्थ किसी के पास सहायता के लिए पहुँचना और फिर उससे प्रेम करना है। भक्ति का विकास उस सन्यासवाद की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ जिस पर पुराने बौद्धों तथा शंकर ने जोर दिया था। भक्ति-मतों के साथ-साथ मूर्ति तथा मन्दिर पूजा भी भारत में प्रचलित हो गई। भक्ति के विभिन्न मतों के अनुयायियों के कर्मकाण्ड, पूजा-पाठ के तरीके भिन्न-भिन्न हैं। ये लोग अपने-अपने शरीरों पर भिन्न-भिन्न प्रतीकों का उपयोग करते हैं। इनके आभूषण आदि भी भिन्न-भिन्न हैं।

भक्तिमत में निराकार ब्रह्म को साकार ईश्वर में परिवर्तित कर दिया गया है। ईश्वर इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। वह तर्क या वाद-विवाद से परे है। केवल हार्दिक भक्ति के द्वारा ही वह प्राप्त किया जा सकता है। ईश्वर आत्म-समर्पण से उत्पन्न होता है। जैसे कि गीता

में कहा गया है कि "सब धार्मिक मार्गों को छोड़ दे, अकेले मेरी शरण ले, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा, दुख मत कर।" (१८-६६) अस्तु ईश्वर की शरण लेना मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ अच्छाई है।

भागवत या भक्ति-मत में ईश्वर की अनुकम्पा पर बहुत जोर दिया गया है। मनुष्य का ईश्वर तक पहुँचना और ईश्वर का मनुष्य रूप धारण करना ही धर्म है। केवल ईश्वर की दया या अनुकम्पा से ही वह प्राप्त हो सकता है।

नारद के अनुसार भक्ति ईश्वर के प्रति अपार प्रेम है। भक्ति प्रेम का वह स्वरूप है जो अपनी परम अवस्था पर पहुँच जाता है। यह भक्ति हमारे कार्यों, शब्दों एवं विचारों में प्रकट होती है। भक्ति की कई विशेषताएँ बतायी गयी है। राग (लिप्तता), प्रेम (रस), अमृत, अहैतुकि भक्ति (निःस्वार्थ) आदि भक्ति की कई विशेषताएँ हैं। भक्ति ज्ञान के रूप में नहीं प्रेम के भाव की होती है और यह श्रद्धा, अनुराग और प्रेम पर निर्भर करती है। भक्ति इच्छा से नहीं होती। यह इच्छा से मुक्त है। हम केवल ईश्वर के लिए जीवित रहते हैं। सान्डिल्य के अनुसार भक्ति मे समाधि (मस्तिष्क का केन्द्रीकरण) और भक्ति की चर्चा के लिए बुद्धि को विकसित करना सम्मिलित है। गीता ज्ञान के द्वारा जागृत भक्ति का उपदेश देती है, यद्यपि बिना ज्ञान के भी कई लोगों में पवित्र भक्ति का विकास हुआ है। भक्ति में साँसारिकता का त्याग भी सम्मिलित है। परन्तु भक्ति का अर्थ यह नहीं है कि कर्म करना छोड़ दिया जाय। हमें बिना लिप्त हुए या बिना किसी लगाव के अपना कर्तव्य करना चाहिए। हमारे सब कार्य ईश्वर के लिए उसी को समर्पित होने चाहिए। जब तक हम जीवित रहने और ईश्वर से प्रेम करने के लिए जीवित रहते हैं हमें अपने शरीर की भी देखरेख करनी चाहिए। हमें वहाँ तक सामाजिक कर्तव्य एवं धार्मिक कर्मकाण्ड आदि करने चाहिए जहाँ तक वे ईश्वर-प्रेम को प्राप्त करने में हमें सहायता दे सकें। इस सम्बन्ध में विस्तृत कर्मकाण्ड (पूजा-पाठ) बना दिए गए हैं ताकि हमारी भक्ति निरन्तर, अनवरत और पूर्णतः असीम हो सके। इसलिए भगवान को स्नानादि कराने उनको वस्त्र पहनाने और उनको भोग लगाने तथा उनके लिए कीर्तन-भजन आदि की व्यवस्था है।

भक्ति में मोक्ष के विभिन्न प्रकार हैं, जैसे सालोक्य (ईश्वर के साथ

उसी जगत में रहना), सार्ष्टि (ईश्वर की प्रकृति से परे की शक्तियों का उपभोग), सामीप्य (ईश्वर के समीप होना), सारूप्य (ईश्वर के समान होना) तथा सायुज्य (ईश्वर में मिल जाना)। प्रारंभिक भक्ति में केवल ईश्वर ही लक्ष्य होता है जो हमारे जीवन का सब कुछ है। नारद ने भी भक्ति के ११ रूपों का वर्णन किया है। अंतिम रूप मे भक्त ईश्वर की सर्वत्र उपस्थिति का अनुभव करता है। भक्त अपने प्रेमी से पृथक होने की व्यथा का अनुभव करता है और अलग होते हुए भी उससे अपने को मिला देता है। भगवान विभिन्न साकार रूपों में देखे जाते हैं। ईश्वर का भक्त उनको प्रेमी या प्रेयसी, प्रभु (मालिक) या दास्य (नौकर), साख्य (मित्र) या वात्सल्य (माता-पिता) तथा माधुर्य या पत्नी-रूप तक में देखता है।

इस प्रकार की भक्ति को प्राप्त करने के कई साधन तथा आचार-व्यवहार हैं। भक्त को बुरों का साथ छोड़ देना चाहिए। उसे स्त्री के विषय में बातचीत न करना चाहिए। उसे धन या अनीश्वर वादियों से दूर रहना चाहिए। उसे अहंभाव अभिमान तथा वासनाओं का त्याग कर देना चाहिए। ईश्वर के सम्बन्ध में व्यर्थ विचार-विमर्श से भी उसे दूर रहना चाहिए। उसे समस्त लगावों का परित्याग कर देना चाहिए। उसे भक्ति सम्बन्धी पाठों का अध्ययन करना चाहिए और निरन्तर ईश्वर की प्रार्थना में संलग्न रहना चाहिए। उसे पुण्य कार्य करना चाहिए और ईश्वर सम्बन्धी बातें सुनना तथा उसी से सम्बन्धित गीत गाना चाहिए। हमें ऐसे महान् आत्माओं या गुरुओं का साथ करना चाहिए जिसके द्वारा ईश्वर की अनुकम्पा हमें प्राप्त हो सके और जो हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकें। इन मार्गों पर चल कर हम मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं और जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो सकते हैं। भक्ति-धर्म का द्वार सभी जाति एवं वर्ग के लिए खुला है।

इस प्रकार भक्ति-धर्म में ईश्वर-प्रेम को प्राप्त करके भक्त अकेले उसी (ईश्वर) को देखता है, उसी को सुनता है और उसी का चिन्तन करता है। वह उसी का हो जाता है और "अपना" तक नहीं रह जाता। उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य ईश्वर की सेवा है। (देखिए नारद सूत्र ५५, ६७, ७०, ७३, भागवत् पूराण ii २९-१३-१४)।

शैवधर्म तथा वैष्णव धर्म की शाखाएँ, दर्शन एवं आचार-व्यवहार आदि भिन्न-भिन्न हो सकते हैं किन्तु आधुनिक काल में भक्ति के बन्धन के

द्वारा वे सब एक में मिल गए हैं। अस्तु, भारत में मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व के युग में धार्मिक जीवन की मुख्य विशेषता भक्ति–धर्म का विकास और प्रचलन रही। आगे चलकर, मुसलमानों और हिन्दुओं में सम्पर्क होने से इसे और भी बल मिला। किन्तु, धर्म के क्षेत्र में आगे चलकर हम सच्ची आध्यात्मिकता को भूल जाते हैं। भक्ति में भी आन्तरिक विकास या ब्रह्म से आत्मा के संयोग से अधिक जोर वाह्य कर्मकाण्डों पर दिया जाता है। हिन्दूधर्म लोकप्रिय वनने तथा विदेशी संस्कृतियों को अपने मे विलीन करने में वैदिक समन्वय से अलग हो गया।

कलाएँ

इस काल में कला के क्षेत्र में भी और परिवर्तन तथा विकास हुए। इस काल में निर्माण–कला अर्थात् मन्दिरों और मूर्तियों के निर्माण की कला में सबसे अधिक विकास हुआ। इस विषय पर प्रकाश डालने के पूर्व चित्र-कारिता, नृत्य एवं संगीत के विषय में कुछ बता देना उचित है।

राजपूत चित्रकारिता

चित्रकारिता के क्षेत्र में, मुसलमानों के आक्रमण के बाद १५ वीं शताब्दी में राजपूत एवं पहाड़ी चित्रकारी का जन्म हुआ। इस शताब्दी में दो बातों ने उत्तर भारत में चित्रकारिता में क्रान्ति की; एक तो भक्ति के विकास के फलस्वरूप देशीय भाषाओं के साहित्य की उन्नति तथा दूसरी कागज़ का प्रचलन। इस समय भाट, कवि तथा देशीय भाषा के अन्य कवि राम, सीता, कृष्ण एवं राधा की कहानियों को लोकप्रिय बना रहे थे। ये कहानियाँ चित्रों की पृष्ठभूमि बन गईं। आगे चलकर, चित्रकारिता का माध्यम भी बदल गया। विशेषतः पत्थर के स्थान पर कागज़ का प्रयोग होने लगा। इससे तत्कालीन राजपूत कला में नई–नई शैलियाँ तथा नए–नए ढंग आ गए। मुगलों के संरक्षण से भी इस कला को नई शक्ति मिली। राजपूत कला के पूर्व पश्चिमी या गुजराती कला तथा पतनोन्मुख उच्चकोटि की कला (Classical Art) प्रचलित थी। गुजराती कला में स्वच्छता (स्पष्टता), सुन्दर कारीगरी, चमकदार रंग, वस्त्रों में उच्चकोटि की सजावट आदि विशेषताएँ थीं। ये विशेषताएँ गुजरात की जैन हस्तलिपियों में अब भी पायी जाती हैं। सन् १६०० ई० के पूर्व की राजपूत चित्रकारिता अत्यल्प मात्रा में आज भी जीवित है। जयदेव के "गीतगोविन्द", बिल्हण के "चौर–पंचासिका" तथा "कृष्णलीला"

में इसके कुछ उदाहरण मिलते हैं। इसके पश्चात्, हमें राजपूत चित्रकारिता के असंख्य उदाहरण मिलते हैं।

राजपूत कला को राजाओं तथा महाराजाओं का संरक्षण प्राप्त था। प्रत्येक राजा अपने पास कई कलाकार रखता था। मालवा, मेवाड़–उदयपुर, अजमेर–जयपुर, मारवाड़–जोधपुर, बीकानेर, किशनगढ़, नाथद्वारा, कोटा–बूँदी, बाणापुर तथा दतिया इस कला के मुख्य केन्द्र थे। १७ वीं शताब्दी तक यह कला अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। इसकी अधिकांश बारीकी, स्निग्धता मुगलों से ली गई थी।

राजपूत चित्रकारिता की मुख्य पृष्ठभूमि (विषय) रागमाला है। इस चित्रकारिता में विभिन्न रागों को मूर्त्त रूप दिया गया है। इन रागों तथा रागनियों के रूप निश्चित किए गए हैं और उन्हीं रूपों के आधार पर चित्र बनाए गए थे। कृष्ण–लीला, नायिका–भेद, ऋतु–चित्रण, राजदरबारों के दृश्य, राजाओं तथा राजकीय समारोह, यात्रा, शिकार खेलना आदि इस कला के अन्य विषय थे।

संक्षेप में राजपूत चित्रकारिता की निम्नलिखित मुख्य विशेषताएं हैं:—

(१) मौलिक शक्ति एवं वीरता, (२) प्रकटित भावों की सादगी और प्रत्यक्षता, (३) परम्परागत तात्पर्य. (४) आह्लाद तथा चमकदार रंग, (५) सजावट।

अन्य भारतीय कलाओं की भाँति राजपूत कला भी अंतरात्मा की तह तक पहुँचती है। कलाकार जितना अपनी आँखों से देखता उसी को चित्रित करने से सन्तुष्ट नहीं होता। उसके अंतस्तल–अन्तारिक जगत-में अन्य स्वरूप, दृश्य एवं स्वप्न होते हैं। इन्हीं को वह अपनी लेखनी (ब्रुश) से चित्रित करने का प्रयास करता है और इसलिए उसकी चित्रकारिता एवं मुगल चित्रकारिता में अन्तर है कारण मुगल चित्रकारिता केवल दृश्य जगत से सम्बन्धित है।

१७ वीं शताब्दी में विकसित राजपूत चित्रकारिता के "स्वरूप उतने ही निश्चित हैं जितने कि उपन्यास या ध्रुपद के; इसमें प्रेम की अवस्थाओं या वीर–वीरांगनाओं को चित्रत किया गया है; सामान्यत: ये चित्र इन्हीं विषयों से सम्बन्धित व्यवस्थित कविताओं के उदाहरण हैं।"

(बेसिल ग्रे) राजपूत चित्रकारिता के रंग अत्यन्त उत्कृष्ट और चमकदार हैं। ये चित्र भारत की राष्ट्रीया कल के अंग हैं:—

'हिमालय' चित्रकारिता (चित्रकला)

राजपूत चित्र-कला के साथ-साथ 'काँगड़ा' या 'पहाड़ी' या हिमालय चित्रकला सम्बन्धित रही है। इस चित्रकला का क्षेत्र जम्मू (काश्मीर) से टिहरी-गढ़वाल तक और पंजाब में पठानकोट से कुलू तक विस्तृत है। इस कला का केन्द्र एक सुन्दरी युवती है। इसके चारों ओर विभिन्न दृश्य और मूर्तियाँ अंकित हैं। सहस्रों रूप में उसके भाव, विचार, कल्पनाएँ तथा उसके अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य का चित्रण किया गया है। "परन्तु इस चित्र-कला में अंकित गाय-भैंस आदि चराने वाली लड़कियाँ देवियों के सदृश हैं; गायिकाएँ और नर्तकियाँ प्रेम में संलग्न हैं और उनकी कला बोरोबुदूर के समान है; इनको देखते हुए आँखें नहीं थकतीं। यह चित्रकला संसार में अद्वितीय है। इस चित्र-कला में जैसी एकाग्रता है वैसी संसार की किसी चित्रकला में नहीं है।" इसमें कृष्ण और राधा के भक्ति-प्रेम का चित्रण है। रामायण एवं महाभारत की कहानियाँ भी इसमें चित्रित हैं। नल-दमयन्ती (विवाह के दृश्य), गोचारण (कृष्ण चरवाहे के रूप में), वर्षा में कृष्ण तथा राधा और कृष्ण द्वारा अंगुली पर गोवर्धन-धारण आदि कुछ मुख्य चित्र हैं। राजपूत चित्रकला की भाँति इसके रंग भी चमकदार हैं और इसमें भी आन्तारिक भावनाएँ अंकित हैं। इस कला की मौलिकता उस सुख में निहित है जो दर्शक या कलाकार को इसे देखने पर होता है।

१९ वीं शताब्दी में इन दोनों कलाओं का पतन हो गया।

नृत्य-संगीत

मध्यकाल में नृत्य एवं संगीत कला का जो विकास हुआ वह भी उल्लेखनीय है। उत्तर-भारत में हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क के फलस्वरूप 'कथक' नृत्य का जन्म हुआ। इस नृत्य की विशेषता चरणों की गति और बोल हैं और इसी लिए यह प्रसिद्ध है। यह नृत्य पहले मुसलमान तथा हिन्दू राजाओं के दरबारों में प्रचलित था परन्तु क्रमशः नर्तकियों ने इसे अपना लिया। इसी प्रकार दक्षिण में देवदासी (मन्दिर-कन्या) 'भरत नाट्यम' नृत्य करती थीं और यह नृत्य राजाओं को प्रसन्न करने का साधन था।

आज भी उत्तर और दक्षिण भारत में ये दोनों नृत्य प्रचलित हैं और इनके कुछ रूप लोक-नृत्यों में बदल गए हैं। इन दोनों से अधिक 'कथाकली' और 'मणिपुरी' नृत्य की पवित्रता आज भी जीवित है।

परन्तु भारतीय संगीत में इसकाल में जो विकास हुआ वह सबसे अधिक उल्लेखनीय है। वास्तव में यह काल आधुनिक भारतीय संगीत कला का निर्माण--युग था। इसी काल में पहली बार राग-रागिनियाँ सुनी गईं। सितार, तबला, सारंगी आदि आधुनिक वाद्य यंत्र इसी काल में प्रचारित हुए और इसीकाल में हमारे संगीत की प्रणालियों, नियमों तथा सिद्धान्तों पर पुस्तकें लिखी गईं। इन पुस्तकों के लेखकों में दन्तिल, कोहला, सारंगदेव, हरिदास स्वामी, दामोदर, सोमनाथ पण्डित, अहोबाल, व्यंकटमखी तथा पुण्डरीक विट्ठल प्रमुख हैं। इन्हीं लेखकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप संगीत के स्वर-ताल आदि निकले, गाने की विधियाँ निकलीं, वाद्य--यंत्रों का वर्गीकरण हुआ, गानों को संगीत का रूप दिया गया, और हिन्दुओं के मुख्य वाद्य--यंत्र वीणा के बोल के अनुकूल स्वर-ताल बने। हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क के फलस्वरूप नए-नए राग निकले। इसी सम्पर्क के फलस्वरूप "उत्तरी" और "दक्षिणी" संगीत का विभाजन हुआ। उत्तरी संगीत में मुस्लिम प्रणालियों का मिश्रण हो गया परन्तु दक्षिणी संगीत में भारतीय संगीत की प्राचीनता और पवित्रता बहुत हद तक बनी रही। इसी काल में कई प्रसिद्ध संगीतज्ञ हुए हैं। गोपाल नायक इन्हीं संगीतज्ञों में हैं जिन्हें अलाउद्दीन खिलजी अपने दरबार में दक्षिण से लाया था। ग्वालियर के नायक बख्श, स्वामी हरिदास, इनके शिष्य तानसेन और बैजू बावरे, जगन्नाथ लाल खाँ तथा अदारंग और सदारंग आदि अन्य प्रसिद्ध संगीतज्ञ हैं। अनेक राजा भी भारतीय संगीत के संरक्षकों के रूप में प्रसिद्ध हो गए हैं। इनमें ग्वालियर के मानसिंह, अकबर और मुहम्मदशाह रंगीले के नाम उल्लेखनीय हैं।

परन्तु अन्य कलाओं की भाँति १८ वीं शताब्दी में संगीतकला का भी पतन हो गया। इसके कई कारण हैं। एक तो यह कि इस कला पर आगे चल कर राजकीय संरक्षण नहीं रह गया। दूसरा यह है कि कला के विभिन्न घरानों में रूढ़िवादिता आ गई। और तीसरा कारण यह रहा कि संगीत के शिक्षक (गुरु) लोग सब को संगीत की शिक्षा नहीं देते थे। वे केवल अपने एक-दो प्रिय शिष्यों को ही संगीत सिखाते थे। इस लिए यह कला कुछ ही लोगों तक सीमित रह गई।

मन्दिर-निर्माण कला

अब हम मन्दिर-निर्माण-कला की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं। यह कला इस काल में अपने प्रचंड रूप में थी। मन्दिर-निर्माण की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं। भारत के बहुत बड़े भाग में देवालय 'विमान' कहे जाते हैं। इनके ऊपरी या स्तूपाकार भाग को शिखर अर्थात् स्तम्भ (मीनार) कहा जाता है। 'विमान' के अन्दर एक छोटी और अंधेरी कोठरी रहती है जिसे गर्भगृह कहते हैं। इसके सामने एक मण्डप रहता है जिसमें भक्तगण एकत्रित होते हैं। विभिन्न प्रकार की अन्य बनावटें भी होती हैं। इस काल के मन्दिरों के पूर्ण उदाहरण खजुराहो (मध्यभारत) के मन्दिर हैं जो दसवीं शताब्दी के हैं। भारतीय मन्दिर तथा भवनों एवं ईसाइयों के गिरजाघरों में उल्लेखनीय सामञ्जस्य है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उत्तरी और दक्षिणी मन्दिरों में कुछ अन्तर है और उड़ीसा के मन्दिरों की बनावट अपने ढंग की और निराली है। उत्तरी मन्दिरों के विमानों तथा शिखरों के आकार-प्रकार, उनकी बनावट, और दीवालों पर अंकित सुन्दरियों के चित्र 'दक्षिणी' मन्दिरों से भिन्न हैं। उत्तरी मन्दिरों के शिखर स्तम्भाकार तथा दक्षिणी मन्दिरों के स्तूपाकार हैं। इन मन्दिरों में ऐसे अनेकानेक स्तम्भ (मीनार) हैं। दक्षिण के मन्दिरों में गोपुरम हैं (चारदीवारियाँ) उड़ीसा में स्थित कोनारक का सूर्य-मन्दिर पूर्वी निर्माण-कला की सबसे शानदार एवं सर्वश्रेष्ठ कृति है। इसका काफी भाग अब गिर गया है। इस मन्दिर के निर्माण करने की जिस कलाकार ने कल्पना की होगी उसकी अद्भुत प्रतिभा इसमें प्रकट है। काश्मीर का मार्तंड (सूर्य) मन्दिर और मोधरा (गुजरात) का सूर्य-मन्दिर भी अन्य सूर्य-मन्दिरों में प्रसिद्ध है। कोनारक मन्दिरों के कारीगरों ने इनमें वेदों में दिखाए गए सूर्यदेव की मूर्ति को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इनमें सूर्य को ७ घोड़ों के पंखदार रथों पर स्वर्ग से अपनी किरणें फैलाते हुए और उदय होते हुए चित्रित किया गया है। इनका अस्त होना भी चित्रित किया गया है। इन मन्दिरों का भवन भी ७ घोड़ों पर रथ के सदृश बना हुआ है। इनके निचले भाग बहुत विस्तृत हैं और चबूतरे के समान हैं। उनके नीचे १२ बड़े-बड़े पहिए हैं। प्रत्येक पहिये की ऊँचाई १० फीट है। और इनमें ७ जंगी घोड़े बने हुए हैं जो इस वृहत् रथ को खींचते हुए चित्रित किए गए हैं। उक्त विस्तृत चबूतरों पर वृहत् मण्डप (जगमोहन) बने हुए हैं जो १०० फीट चौड़े और १०० फीट ऊँचे हैं और इनके स्तम्भ जमीन से २०० फीट

ऊँचे हैं। मुख्य भवन से लगे हुए अन्य छोटे-छोटे मन्दिर हैं। इन मन्दिरों के विस्तृत दालान पर सुन्दर-सुन्दर चित्र बने हुए हैं जिनमें कुछ वासना-पूर्ण भी हैं। इस समय केवल सभामण्डप बचा हुआ है। परन्तु इस मन्दिर का निर्माण कभी पूरा नहीं हुआ था। इस मन्दिर में जितनी सुन्दर सजावट है वैसी कुछ ही इमारतों में होगी। इसका प्रत्येक भाग सुनिर्मित और सुन्दर है। यह मन्दिर उड़ीसा में ताँत्रिकधर्म के विकास का द्योतक है।

खजुराहो के मन्दिरों में भारतीय निर्माण-कला की कुछ महत्वपूर्ण कृतियाँ मिलती हैं। ये कृतियाँ शताब्दियों से खंडहर बन गयी हैं परन्तु ये अब तक जीवित हैं। ये कृतियाँ झाँसी से १०० मील दक्षिण-पूर्व छतरपुर राज्य (पूर्वराज्य) में स्थित हैं। इनकी संख्या ३० है और ये १० वीं शताब्दी में बनवाई गई थीं। इन कृतियों में महादेव, विष्णु, जगदम्बा तथा जैनदेवताओं के मन्दिर हैं। यद्यपि आज ये खण्डहर के रूप में हैं, फिर भी इनकी इमारत किसी समय शानदार थी। इनके दालान, सभा-भवन बड़े विस्तृत हैं और इनमें सुन्दर-सुन्दर चित्र एवं दृश्य अंकित हैं। इनकी सजावट उत्कृष्ट और चमकदार है।

राजपूताना और मध्यभारत में ऐसे अन्य कई मन्दिरों के खण्डहर हैं जो मुस्लिम मूर्तिभंजकों के आक्रमणों के फलस्वरूप खण्डहर बन गए हैं। गुजरात तथा पश्चिम के भी कई मन्दिर इसी दशा में हैं। फिर भी इन स्थानों में कई मन्दिरों के अवशेष आज भी जीवित हैं। इनमें जोधपुर का "महामन्दिर" तथा उदयपुर का "एकलिंग मन्दिर" उल्लेखनीय है। पाटन से १८ मील दक्षिण में स्थित मोधरा का सूर्यमन्दिर अत्यन्त उत्कृष्ट है। यह खण्डहर के रूप में भी अनुपम सौन्दर्य का प्रतीक है। इसमें आध्या-त्मिक वातावरण है। आबू-पर्वत पर अन्य जैन मन्दिरों के अतिरिक्त एक "विमला-मन्दिर" है जो इसी का बनवाया हुआ है। इसके प्रत्येक भाग में सुन्दर चित्र अंकित हैं। इसका वृहत् गुम्बज (जिसमें ११ घेरे हैं) कलाकार की अद्भुत आविष्कारक शक्ति को प्रकट करता है। सोमनाथ-मन्दिर की मौलिक बनावट के बहुत थोड़े अवशेष जीवित हैं फिर भी वे उसके निर्माण की अनुपम कला के द्योतक हैं। दक्षिण में भी इसकाल के कई मन्दिर हैं जिनमें बम्बई प्रान्त का अमरनाथ मन्दिर, ग्वालियर के सासबहू मन्दिर तथा सिरनार (नासिक) स्थित गोंडेश्वर मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है। काठियावाड़ में और काश्मीर में कई छतों वाले अनेक

मन्दिर हैं। जैनियों ने काठियावाड़, सित्रुंजय और गिरनार पहाड़ियों पर मन्दिरों के नगर बनवाये थे जो आज भी अनुपम निर्माण-कला के द्योतक हैं। दक्षिणी बंगाल के ईंटों (पक्की) के मन्दिर भी अपने ढंग के सुन्दर हैं।

अन्त में, काश्मीर की कला आती है। इसकी शैलियाँ तथा गठन अब तक की समस्त कलाओं की शैलियों से पूर्णतः भिन्न है। यह कला गांधार तथा गुप्त-कला से मिलती-जुलती है। आठवीं शताब्दी में ललितादित्य तथा नवीं शताब्दी में अवंतीवर्मन के शासनकालों में काश्मीर की कलात्मक प्रतिभा विकसित हुई। मार्तण्ड का सूर्य-मन्दिर इस कला की सर्वोत्तम कृति है। यह समकोण आँगन के केन्द्र में स्थित वृहत् एवं विस्तृत इमारत है। इसके चारों ओर खानेदार दीवाल (घेरा) है जिनमें प्रविष्ट होने के लिए एक मुखद्वार है। यह मन्दिर अनन्तनाग नामक प्राचीन नगर से ५ मील दूर पर स्थित है। इसमें काश्मीरी कलाकारों की कुशल कारीगरी प्रकट है। इसके सभी भाग सुव्यवस्थित एवं सुनिर्मित हैं। पूरे मन्दिर की सजावट चमकीली और अति सुन्दर है। पर्वतीय बर्फीली भूमि में बने होने के कारण इसमें सौन्दर्य, सादगी एवं पूर्णता है।

निर्माण-कला को सभ्यता का साँचा कहा जाता है और यह मानव के बौद्धिक गति-परिवर्तन का मुख्य इतिहास है। प्रत्येक वृहत् साँस्कृतिक आन्दोलन ने निर्माण-कला में अपना-अपना विशेष योगदान किया है। भारत में निर्माण-कला का मौलिक सिद्धान्त आध्यात्मिकता रहा है। इस अध्याय में जिस काल पर विचार किया गया है उसमें भी यह विशेषता रही है चाहे उसका कितना ही ह्रास क्यों न हो गया हो। इसकाल में भक्ति के जितने सिद्धान्त प्रचलित हुए वे ७ वीं शताब्दी से इधर बनाए गए मन्दिरों में प्रकट हैं। विशेषतः ११ वीं तथा १२ वीं शताब्दी में, जबकि भक्ति आन्दोलन चरमसीमा पर थी, मन्दिर-निर्माण की कला अपने विकास की पराकाष्ठा पर थी।

सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति

अतीत की भांति इस काल में भी हिन्दू समाज में जाति-प्रथा का प्रचलन जारी था।

जाति-प्रथा

ब्राह्मणों को सबसे अधिक सम्मान प्राप्त था और लोगों में उनके

प्रति अगाध श्रद्धा थी। वे लोग विद्या एवं ज्ञान के विशेषज्ञ बनते थे। वे राजा के मंत्री एवं सलाहकार भी होते थे और कई स्थानों पर उन्होंने प्रधान सेनाध्यक्ष के पद पर भी काम किया था। मुख्यतः वे कवि, ज्योतिषी, दार्शनिक या पुरोहित होते थे। वे मुख्यतः विद्याध्ययन, अध्यापन, यज्ञ तथा धार्मिक कार्यों में संलग्न रहते थे। बौद्ध धर्म के उदय के फलस्वरूप उन्होंने अपने कई कर्तव्य भुला दिए और ऐसे कार्य भी करने लगे जिन्हें पहले वैश्य तथा शूद्र करते थे। इन कार्यों को ब्राह्मणों द्वारा अपनाए जाने के औचित्य की पुष्टि के लिए कई ग्रन्थ एवं स्मृतियाँ लिखी गईं। उदाहरणार्थ, पाराशर स्मृति में कृषि तथा शस्त्रास्त्र का व्यवसाय अपनाने की सब को आज्ञा है। अब ब्राह्मण लोग अधिक संख्या में व्यापार–वाणिज्य में लग गए थे और कलाकार भी होने लगे थे। किन्तु नियम, संयम, स्वच्छता एवं छुआछूत पर विशेष ध्यान रखते थे। वे दूध, शहद, शराब, माँस और नमक नहीं बेंच सकते थे। उनको ऐसी कई सुविधाएँ थीं जो अन्य जाति को नहीं प्राप्त थीं। उदाहरणार्थ, उनको मृत्युदण्ड नहीं दिया जाता था। इस काल में अनेक उपजातियाँ हो गईं। विशेषतः ब्राह्मणों में अधिक उपजातियाँ हो गईं। उदाहरणार्थ, १२ वीं शताब्दी के लेखों में दीक्षित, पाठक, उपाध्याय, पटवर्धन आदि ब्राह्मण की उपजातियों के उल्लेख मिलते हैं। संभवतः खाद्यपदार्थों, व्यवसाय, रस्मरिवाज, दर्शन एवं धार्मिक आचार-व्यवहार में भेद होने के कारण उपजातियाँ बन गईं। १४ वीं तथा १५ वीं शताब्दियों में कान्यकुब्ज ब्राह्मणों में कई नई उपजातियाँ हो गईं और आगे चलकर उनमें बीघा-बिस्वा के अनुरूप विभाजन हो गए। इसी प्रकार पंचगौड़ और द्रविड़ गौड़ के विभाजन हो गए।

समाज में ब्राह्मणों के बाद क्षत्रियों का स्थान था। उनको समाज में उच्च स्थान प्राप्त था और इन्हीं लोगों में से हिन्दू राज्यों के राजागण हुए। इनका मुख्य कार्य शासन करना, रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना और अध्ययन करना था। इनमें हर्षवर्धन, चालुक्य राजा विक्रमादित्य, राजा भोज, चौहान राजा विग्रहराज (चतुर्थ) जैसे विद्वान् भी हो गए हैं। इस काल में क्षत्रियों में भी उपजातियाँ हो गईं और ये लोग अन्यान्य व्यवसाय करने लगे। इनमें मद्यपान, द्यूत-क्रीड़ा आदि विभिन्न बुराइयाँ भी पैदा हो गईं।

क्षत्रियों के नीचे वैश्यों का सामाजिक स्तर था। कृषि, पशु-पालन, दान, यज्ञ, अध्ययन, व्यापार, वाणिज्य तथा ऋण देना इनके मुख्य व्यवसाय

थे। किन्तु अब वे कृषि से घृणा करते थे क्योंकि बौद्ध लोग कृषि को सम्मान गिराने वाला कार्य मानते थे। इस समय वैश्य लोग मुख्यतः व्यापार करते थे। इनमें से कुछ लोग मंत्री तथा सेनापति भी थे। मध्यकाल में वैश्य जाति में भी अनेक उपजातियाँ हो गई।

सेवा करने वाली जाति का नाम शूद्र था। यह वर्ण या जाति अस्पृश्य नहीं थी। इनको महायज्ञों का अधिकार प्राप्त था। इस समय कृषि, राज-मजदूरी, लोहारी, सुनारी, बढ़ईगीरी; कपड़ा रंगने व धोने का काम, बर्तन बनाना आदि इनके मुख्य कार्य थे। इनके अतिरिक्त अस्पृश्य लोग थे जो नगर के बाहर रहते थे। इनमें मोची (जूता बनाने वाले), शिकारी, कसाई तथा जुलाहे मुख्य थे।

उक्त चार जातियों के अतिरिक्त कायस्थ नामक एक विशेष जाति भी थी। पहले सब जाति के लिखने-पढ़ने वाले लोग कायस्थ कहे जाते थे। परन्तु इस काल में इन लोगों की कायस्थ नामक एक पृथक जाति बन गई। अतः यह जाति सभी जातियों का मिश्रण है। आज तक सूरज-ध्वज कायस्थ अपने को शकद्वीपी ब्राह्मण कहते हैं।

प्रारम्भिक मध्यकाल में सब जातियों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे और उनमें विवाह-सम्पर्क भी हो सकते थे। बाण ने पारशव का उल्लेख किया है जिनके पिता ब्राह्मण थे और जिनकी माता शूद्र थीं। ईसवी सन् ८६१ के प्रतिहार लेखों में हरिश्चन्द्र नामक एक ब्राह्मण का उल्लेख किया गया है जिसने भद्रा नामक एक क्षत्रिय कन्या से विवाह किया था। एक क्षत्रिय अपने से नीची जाति की स्त्री से विवाह कर सकता था। वह ब्राह्मण स्त्री से विवाह नहीं कर सकता था। सन्तान की जाति उसके पिता की जाति के अनुकूल निर्धारित होती थी। हमारे काल के अन्त तक इन सब प्रथाओं का अन्त हो गया और जाति विषयक नियम सख्ती से लागू हो गए। इसी प्रकार मध्यकाल के प्रारम्भिक भाग में सहभोज की प्रथा भी प्रचलित थी किन्तु आगे चल कर इसका भी अन्त हो गया।

समाज में स्त्रियों को भी सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। उनको समुचित शिक्षा प्राप्त होती थी। पुरुषों के साथ दर्शन सम्बन्धी वादविवाद में संलग्न स्त्रियों के विषय में हम वर्णन कर चुके हैं। उदाहरणार्थ शंकराचार्य को मंडन मिश्र की पत्नी से वाद-विवाद करना पड़ा था। प्रसिद्ध कवि राजशेखर की पत्नी सुशिक्षित थीं। उन्होंने कई स्थान पर अपनी कृतियों में अपनी पत्नी के

मत को उद्धृत किया है। स्त्रियों में इन्दुलेखा, मरुला, सुभद्रा, मदालसा तथा लक्ष्मी जैसी अनेक विदुषी कवियित्रियाँ भी थीं। उनको ललित कला की भी शिक्षा दी जाती थी। स्त्रियाँ पर्दा नहीं करती थीं। सम्राट हर्ष की माता दरबारियों से भेंट किया करती थी और उनकी बहन राजश्री ने चीनी यात्री ह्वेनसांग से भेंट की थी। कहा जाता है कि दक्षिण में सोलंकी राजा विक्रमादित्य की बहिन अक्का देवी ने गोकेज (इस समय बंबई के बेलगाँव जिले में गोकक) के किले के चारों ओर घेरा डाला था। इस प्रकार केवल मुसलमानों के आक्रमण के बाद ही भारत में परदा प्रथा का जन्म हुआ। बहु-विवाह प्रचलित थे परन्तु बाल-विवाह, प्रारंभिक मध्यकाल में, बहुत ही थोड़े होते थे। विधवा-विवाहों के भी उल्लेख आए हैं। सती प्रथा का अधिक प्रचलन नहीं था। स्त्रियाँ सम्पत्ति पर उत्तराधिकार भी पा सकती थीं। इस प्रकार भारत में हिन्दू शासन के प्रारंभिक दिनों में हम समाज को मध्यकाल के अंतिम भाग के समाज से अधिक प्रगतिशील देखते हैं।

हिन्दू लोग पूर्णतः सन्यास-प्रवृत्ति के नहीं थे। उच्च वर्ग के लोगों की शानदार इमारतें थीं जिनमें संगीतालय, अतिथिगृह, पुस्तकालय एवं वाद-विवादागृह होते थे। वर्ष में अनेक उत्सव-समारोह—मेला आदि होते थे जिनमें दूर-दूर से आकर लोग भाग लेते थे। संगीत, नृत्य, नाटक, पशु-युद्ध, खुले मैदान में भोज, नाव चलाना, तैरना, शतरंज एवं चौपड़ का खेल आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के मनोरंजन तथा आमोद-प्रमोद के खेल प्रचलित थे। सभी ऋतुओं एवं अवसरों के अनुकूल लोगों की वेश-भूषा विभिन्न प्रकार की थी। सुई और धागे का उल्लेख तो वैदिक काल तक में आया है, इस काल का तो कहना ही क्या। वस्त्रों के सौंदर्य, किस्म और स्वरूप पर ध्यान दिया जाता था। पुरुष और स्त्री दोनों ही आभूषण पहनते थे। स्वास्थ्य एवं स्वच्छता की दृष्टि से खाद्य-वस्तु के विषय में विशेष पवित्रता बर्ती जाती थी। परन्तु इसमें छुआछूत का अधिक भाव नहीं था। गेहूँ, ज्वार, बाजरा, दूध, घी, शक्कर और गुड़ आदि खाद्य-पदार्थ थे। विशेषतः क्षत्रियों और नीची जातियों में मांसाहार भी प्रचलित था। यज्ञ बहुत होते थे और अतिथि-सत्कार का नियम सख्त था। राजाओं तथा धनी लोगों के पास दास भी रहते थे। जादू, टोना, भूत-प्रेत आदि में भी लोगों का विश्वास हो गया था।

आर्थिक दशा

लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि था। सम्बन्धित सरकारें खेतिहरों पर

विशेष ध्यान रखती थीं तथा उनको संरक्षण देती थीं। सिंचाई की सभी प्रकार की व्यवस्थाएँ थीं। राजतरंगिनी में "सूर्य" नामक एक ऐसे इंजीनियर का वर्णन मिलता है जिसने झेलम नदी में एक वृहत् बांध बनवाया था और इस प्रकार किसानों की सहायता की थी। बड़े-बड़े जलाशय, नहरें, तालाब और कुएँ बनवाए जाते थे। सरकार द्वारा भूमि की नाप-जोख की जाती थी और गाँवों के क्षेत्रों की सीमाएँ बनाई जाती थीं। चरागाह बनवाए जाते थे और किसानों को अकाल तथा अन्य आवश्यकता के समय सहायता दी जाती थी। चाहे जो भी सरकारें हों उनकी मुख्य आय भूमि से ही (लगान के रूप में) होती थी। सामान्यत: यह लगान पैदावार का छठवाँ हिस्सा होता था और यह अन्न के रूप में ही लिया जाता था।

व्यापार तथा वाणिज्य अन्य मुख्य व्यवसाय थे। इनके केन्द्र नगर थे। मदुरा, वाँजी (वाँची)-मलाबार, वतापी, ताम्रलिप्ति, कन्नौज, उज्जैन, भड़ोंच तथा पाटलिपुत्र या पटना इसकाल के मुख्य नगर थे। वाणिज्य स्थल एवं जल दोनों मार्गों से होता था। विशेषत: अरब, फोनेशिया, ईरान, मिस्र, ग्रीस, रोम, जावा, सुमात्रा, हिन्दचीन तथा चीन से भारत का व्यापार होता था। भारत के नगरों को (एक दूसरे से) सम्बन्धित करने वाली कई मुख्य सड़कें थीं। कोरोमण्डल तट को कन्या कुमारी से सम्बन्धित करने वाली १२०० मील लम्बी एक सड़क थी। एक अन्य सड़क ११०० मील लम्बी थी जिससे पटना अफगानिस्तान से सम्बन्धित था। रेशम, कपड़ा, मलमल, जवाहरात, मोती, मसाला, हाथी दाँत, हीरा आदि निर्यात की मुख्य वस्तुएँ थीं।

धातु-विज्ञान में भी भारत विशेषज्ञ हो गया था। यहाँ सबसे सुन्दर किस्म का लोहा एवं इस्पात बनता था। दिल्ली में कुतुबमीनार के समीपस्थ लौह-स्तम्भ इस क्षेत्र में भारत की कारीगरी का ज्वलन्त उदाहरण है। सुन्दर-सुन्दर सोने-चाँदी के बर्तन एवं आभूषण बनते थे। इस काल में काँच के भी काम होते थे। रोम के प्रसिद्ध इतिहासविद् प्लिनी ने इसको सर्वश्रेष्ठ माना है। व्यापार वाणिज्य पर व्यक्तिगत पूँजीपतियों से अधिक व्यापारिक तथा उत्पादकों के संघों का एकाधिपत्य था। व्यापार विनिमय के द्वारा होता था इसलिए हिन्दू काल के राजाओं द्वारा मुद्रा उपेक्षित था। अस्तु, आर्थिक दृष्टि से भारत धनी राष्ट्र था और इसीलिए भारत ने महमूद गजनवी जैसे मूर्तिभंजक आकर्षित को किया।

ऊपर संक्षेप में मध्यकालीन हिन्दू भारत का अध्ययन किया गया है। इसमें जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में महत्वपूर्ण विकास हुए। दार्शनिक रूप में मध्यकालीन यूरोप की भांति इनकी कुंजी विद्याभिमान का उदय रही है। वैदिक ग्रन्थों का संकलन व सम्पादन हुआ और उनके भाषानुवाद हुए तथा उनमें अनेक क्षेपक जोड़े गए। इन्हीं के आधार पर इस काल में अनेकानेक टिप्पणियाँ लिखी गईं। समस्त मुख्य दर्शनों पर आगे और भी टिप्पणियाँ की गईं तथा उन पर वादविवाद हुए। इस क्षेत्र में शंकर का, जिनके मायावाद के सिद्धान्त की प्रतिक्रिया भक्ति के रूप में हुई, प्रभुत्व रहा। किन्तु इस मायावाद का लोगों पर इतना अधिक प्रभाव हो गया था कि उनमें जीवन के प्रति असन्तुलित दृष्टिकोण हो गया था। उन्होंने सन्यास के पुण्य की प्राप्ति के निमित्त भौतिकता की अच्छाई को भुला दिया था। इस भ्रम का अधिक कारण बौद्ध धर्म का उदय था। राष्ट्रीय मस्तिष्क पर ज्ञान, कर्म एवं भक्ति के व्यापक समन्वय सहित गीता का प्रभाव पड़ने के पूर्व बौद्ध धर्म के धर्मविरोध ने भारतीयों को प्रभावित कर लिया था। बौद्ध धर्म ने शान्ति (स्थिरता) और अपने सुःख–दुःख का विचार न करने पर अधिक जोर डाला था। इसने शान्त (स्थिर) लोगों का एक अलग वर्ग बना दिया था। इसने भिक्षुओं और साधारण जनता में बड़ा भेद कर दिया था। इसके फलस्वरूप साधारण जन भिक्षु से छोटे माने जाते थे। इसने सांसारिक कर्म के महत्व को बहुत कम कर दिया था। इन सब बातों ने जनता को भ्रमित एवं नष्ट कर दिया। हमारा आधा राष्ट्र स्थिर, मौन एवं नाकारात्मक हो गया और आधा राष्ट्र ह्रासमान भौतिकवाद में पड़ा रहा। हमारे भारतीयों ने प्राचीन मनुजत्व के तीन भागों को खो दिया। उनका संसार पर प्रभाव न रहा, सुव्यवस्थित राजनीति न रही तथा उनका महान् सामाजिक ढाँचा न रहा। शंकर ने हमारे राष्ट्र के टूटे हुए जहाज के भागों को ठीक करने का प्रयास किया। परन्तु जनता पर जिस (बौद्ध) धर्म की अमिट छाप थी उसे वे हटा न सके। पुरानी जीवनीशक्ति को पुनः न प्राप्त किया जा सका। पुरानी क्षत्रिय जाति का अन्त हो गया था या वह अपनी स्थिति से गिर चुकी थी। केवल ब्राह्मण लोग गीता के एकमात्रा व्याख्याता रह गए। ज्ञानवान होने के कारण उन्होंने शान्ति (स्थिरता) पर जोर दिया और उन्होंने कृष्ण ने "कर्म" के लिए जो आह्वान किया था उस की प्रतिध्वनि नहीं की। कर्तव्य का इच्छा–विहीन एवं निःस्वार्थ अनुकरण दुर्बलों के लिए उपदेश है। बच्चे (दूधपीते) लोग ऐसा करते हैं, क्योंकि उन्हें ऐसा करना

ही चाहिए, परन्तु अन्य लोगों के लिए यह पाखंड है। अस्तु, बौद्ध धर्म से अपना संकेत लेकर शंकराचार्य भारतीय संस्कृति के परम सत्य–जीवन और आत्मा में समता–के मार्ग से हट गए थे और उन्होंने, कम से कम आँशिकरूप में, हिन्दू भारत के पतन का मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

धार्मिक क्षेत्र में इस काल में उसी प्रकार भक्तिवाद का उदय हुआ था। जिस प्रकार यूरोप में गिरजाघरों द्वारा बताई गई ईश्वर भक्ति के "वाद" का उदय हुआ था। इसमें अच्छाई यह थी कि हिन्दू समाज भक्ति के बन्धन के द्वारा एक सामान्य ईश्वर से बंध गया था और अस्पृश्यता (छुआछूत) की विषली भावना का अन्त हो गया था। परन्तु, इसमें भी आंशिक दूरदर्शिता रही ; भक्ति और उपासना के वाह्य साधनों पर अधिक जोर दिया गया और यह नहीं महसूस किया गया कि अन्तरात्मा में रह कर और भक्ति–भाव के द्वारा प्राप्त गूढ़ अनुभव ही समता और एक-रूपता लाने का एकमात्र साधन है। इसके अतिरिक्त भक्तिवाद ने भी स्थिरता या 'अकर्म' को बनाए रक्खा। इसने भी मनुष्य के मानसिक एवं शारीरिक तत्वों के बजाय जीवन विषयक तत्व पर अधिक जोर दिया।

साहित्य एवं कला के क्षेत्रों में भी हिन्दुओं ने अपनी पुरानी परम्पराओं को प्रचलित रखा परन्तु रचनात्मक इच्छा का ह्रास हो गया था। साहित्य के क्षेत्र में अनेक देशीय भाषाएँ प्रचलित हो गई थीं। यदि गुप्त-कला के साथ इस काल की निर्माण तथा शिल्पकला की तुलना की जाय तो वह ह्रासोन्मुख दिखाई देती है। इस काल में यह उल्लेखनीय बात हुई कि संगीत तथा नृत्य विद्या के नियमों के स्तर निर्धारित किए गए। इसीकाल में राजपूत चित्रकला का उदय हुआ। इस काल में, वैज्ञा-निक क्षेत्र में, विशेषत: खगोल विज्ञान एवं गणितविद्या में उल्लेखनीय प्रगति हुई। सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से हिन्दू भारत सातवीं शताब्दी तक प्रगतिशील रहा। बाद में भी सामाजिक क्षेत्र में जातिभेद तथा अन्य असमानताएं बहुत थोड़ी मात्रा में थीं। किन्तु ज्योंही हम ११ वीं शताब्दी में प्रविष्ट होते हैं असमानताएं बढ़ जाती हैं, पर्दा प्रथा प्रचलित हो जाती है, अस्पृश्यता बढ़ जाती है, अन्धविश्वास (जादू–टोना आदि) बढ़ जाता है और इस काल में जनता में दरिद्रता फैल जाती है। आर्थिक जीवन तथा संस्कृति में निकट सम्पर्क रहता है।

इस काल में थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में धन केंद्रित हो जाता है। वे

प्रासाद-निर्माण, नृत्य, पशुओं, खेल-कूद और युद्ध आदि अनुत्पादक उद्देश्यों में धन का व्यय करते हैं। इस काल के हिन्दू राजा केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति में संलग्न रहते हैं और स्वाभाविकतः, जिस समय भारत पर विदेशी आक्रमण होते हैं उस समय सामान्य प्रजा मूक दर्शक बनी रहती है। अस्तु, आर्थिक असमानता ने संस्कृति को असंतुलित कर दिया और इसके कारण वर्ग संस्कृति (वर्गभेद) का जन्म हुआ। आर्थिक असमानता ने उस भारतीय समता को भी भंग कर दिया जो पूर्वी काल में प्राप्त हुई थी। हम लोगों मे स्वार्थ, इच्छा, धर्म तथा मोक्ष (अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष) में एकरूपता की जो भावना विकसित हुई थी वह अब विश्रृंखलित (अस्तव्यस्त) हो गई। मौलिक रूप में, इस रोग का मूल उन लोगों की आंशिक दूरदर्शिता रहा जो मध्यकाल में वाद-विवाद के चक्र में फँसे रहे। आध्यात्मिकता एवं भौतिकता में जो समता थी उसका अन्त हो जाने के कारण भारत का पतन अनिवार्य था। हम उन्हीं लौह-श्रृंखलाओं के बन्दी बन गए जिनको हमने ही तैयार किया था।

१—"इंडियन कल्चर ऐन्ड सोशल लाइफ एट दि टाइम आफ दि टर्किश इन्वेजन"—प्रोफसर एम० हबीब—पृष्ठ ९।

२—"अल्बरूनीज़ इंडिया"—(वाल्यूम १) पृष्ठ १९-२०।

३—"शक्ति एंड शाक्त"—पृष्ठ १२८।

४—"वैष्णविज्म, शैविज्म, एंड माइनर रिलीजियस सिस्टम्स"—भंडारकर—पृष्ठ १९।

५—"दि आर्ट्स एंड क्राफ्ट्स आफ इंडिया एंड सीलोन"—ए० के० कुमारस्वामी—पृष्ठ ९०।

६—"इंडियन आर्किटेक्चर"—पर्सी ब्राउन—पृष्ठ ८०।

तेरहवाँ अध्याय

मुस्लिम शासनकाल में भारतीय संस्कृति

मध्यकाल में भारतीय संस्कृति में हिन्दुओं ने जो योगदान किया अभी तक हमने केवल उसी का अध्ययन किया है। अब हम मुसलमानों, जो १७वीं शताब्दी के अन्त तक भारत में मुख्य शासक वर्ग थे, के योगदान का वर्णन करते हैं। यहाँ यह बात भी बता देना आवश्यक है कि मुस्लिम शासक वर्ग में विदेशी मुसलमान ही थे, भारत में जो मुसलमान बने थे उनका अधिकतर शासक वर्ग में कोई स्थान नहीं था। सुल्तानों के शासन के प्रारंभिक काल में भारत में सैनिक शासन था इसलिए हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क मुश्किल था। जब वातावरण, जलवायु और परिस्थितियों के अनुसार विदेशी शासन की सख्तियाँ ढीली हुईं शासकों को यह अनुभव हुआ कि केवल हिन्दुओं को संतुष्ट और प्रसन्न रखने पर ही भारत में स्थायी शांति एवं सदभावना स्थापित हो सकती है। यह चेतना मुख्यतः मुग़ल काल में जागृत हुई। मुसलमानों की संस्कृति भी यहाँ दीर्घकाल तक विदेशी संस्कृति बनी रही है या वह एक विशेष वर्ग तक सीमित रही।

हमारी संस्कृति में मुसलमानों के कुछ महत्वपूर्ण स्थायी योगदान हैं। इस्लाम के "एकेश्वरवाद" के सिद्धान्त ने हिन्दुओं में भी एक ऐसा आन्दोलन पैदा कर दिया। हिन्दुओं के कुछ भक्ति–आन्दोलनों के कुछ तत्वों पर इस्लाम के मूर्तिपूजा विरोध का कुछ रंग चढ़ गया था। इस क्षेत्र में कबीर सर्वाधिक प्रतिनिधित्वपूर्ण व्यक्ति थे। आगे चलकर धर्म परिवर्तन के उद्देश्य से हिन्दुओं से मेलजोल करने की आवश्यकता ने स्वदेशी साहित्य का विकास किया क्योंकि मुस्लिम फकीर जनता में अपनी बात को केवल उसी की भाषाओं में प्रचारित कर सकते थे। ललितकला के क्षेत्र में भी मुसलमानों ने अपने आदर्शानुरूप सौन्दर्य चित्रण किया। मुसलमानों की निर्माण-कला, चित्रकला एवं कला–कौशल में कुछ ऐसी मौलिकता थी जिसने हमारी सस्कृति को और अधिक सौन्दर्य प्रदान किया। साहित्यक क्षेत्र में उर्दू का विकास, गद्य का प्रयोग, ऐतिहासिक लेख आदि मुसलमानों के कुछ चिरस्मरणीय योगदान हैं। जीवन के वाह्याडंबरों पर भी मुसलमानों ने स्थायी प्रभाव डाला है। हमारे

देश की, विशेषत: उत्तर भारत के रईसों की, वेशभूषा, आचार-व्यवहार, भोजन आदि में मुसलमानों की कुछ नकल कीं गई है। अब हम सामाजिक–आर्थिक दशा, धर्म, साहित्य, ललितकला आदि शीर्षकों के अन्तर्गत मुसलमानों की संस्कृति का वर्णन कर रहे हैं। हम पहले सुल्तानों और उनके बाद मुग़लों के शासन काल का अध्ययन कर रहे हैं।

सुल्तानों के आधीन सामाजिक व आर्थिक दशा

भारत में सामंतशाही निरंकुशता का राज्य था। और राजा ही सर्वेसर्वा होता था। वह सम्पूर्ण व्यवस्था का शिखर और सरकार का केन्द्र था और उसके अधीनस्थ लोग उसका यथासम्भव अक्षरश: अनुकरण करते थे। इस प्रकार राजाओं ने उच्च सामाजिक वर्ग बना दिए थे। ऊँचे-ऊँचे शानदार महल बनवाना, भारी–भारी कर लगाना, समस्त विश्व को अपने सामने झुकाए रखने का स्वप्न देखना, भारी खजाना एकत्रित करना, सारी आर्थिक सत्ता अपने हाथों में केन्द्रित करना, निरन्तर युद्ध करना, अपने हरम में बृहत् संख्या में दासियाँ (स्त्रियाँ) रखना आदि दिल्ली के सुल्तानों की उच्चाकांक्षाएँ थीं। अलाउद्दीन के पास ५०,००० तथा फिरोज के पास २ लाख गुलाम (दास) थे। मालवा के राजा के एक मंत्री तक के हरम में २००० स्त्रियाँ थीं। मालवा के सुल्तान ग्यासुद्दीन खिलजी ने एक ऐसा विभाग स्थापित कर रखा था जो उसके पास हमेशा नई–नई स्त्रियाँ पहुँचाया करता था। परन्तु इसी दु:ख में वह मर गया कि उसको कभी उसकी इच्छा के अनुकूल एक भी स्त्री नहीं मिली। राजा ोग अपने प्रियजनों के रूप में ज्योतिषियों, कवियों, संगीतज्ञों, विदूषकों आदि को अपने पास रखते थे। इन दरबारियों में "नादिम" लोग अधिक प्रभावशाली थे। वे बड़े बुद्धिमान और आचार–व्यवहार में कुशल होते थे। इनका काम राजाओं को खुश करना रहता था। वे राजाओं के सहचर होते थे और इनकी कोई सरकारी स्थिति नहीं होती थी। सुल्तानों के महलों में भी कर्मचारियों की बृहत् संख्या रहती थी जिनके अलग–अलग विभाग होते थे। उदाहरणार्थ, राजा की रक्षा के लिए "सर–जानजार" होते थे। राजा के स्नान आदि का प्रबन्ध करने के "सर–आबदार" होते थे। रसोई की व्यवस्था के लिए "चाशनिगीर" होते थे। राजा को शराब आदि पिलाने के लिए साक़ी-ए–ख़ास" होते थे। इन लोगों के आधीन अपने–अपने विभाग होते थे और इन विभागों में अनेक कर्मचारी होते थे। सुल्तान लोग बड़े समारोह के साथ प्रजा के बीच में आते थे। नए राजा के सिंहासनारोहण के समय "ख़ुतबा"

और "सिक्का" नामक समारोह होते थे। नए राजा के नाम से जो सार्व-जनिक सन्देश पढ़ा जाता था उसे खुतबा कहते थे और उसके नाम से जो मुद्राएँ प्रचलित की जाती थीं उसे सिक्का कहा जाता था। विभिन्न अव-सरों पर राजाओं के दरबार लगा करते थे और इन समारोहों में बड़ा अनुशासन रहता था।

राजा के नीचे अन्य सामाजिक वर्ग होते थे। उच्च वर्गों में अहले दौलत (शासक वर्ग), उलेमा, काजी, अहले मुराद मुख्य थे। अहले दौलत में राज-परिवार व सेना के उच्चपदासीन सदस्य तथा सामन्त लोग होते थे। उलेमा वर्ग में बुद्धिजीवी तथा आत्मज्ञानी लोग होते थे। न्यायाधिकारी लोग 'क़ाजी' कहलाते थे। ये लोग विद्वान् व ईश्वरभक्त होते थे। अहले मुराद में संगीतज्ञ, नर्तक–नर्तकी आदि मनोरंजन करने वाले लोग होते थे।

उक्त वर्गों के बाद हिन्दू–मुस्लिम प्रजा का स्थान था। ये लोग आनन्द या लाभ का बहुत थोड़ा उपभोग करते थे। इनका कार्य केवल मात्र कर देना, अपने खेत जोतना या नगरों में अपने काम करना तथा सम्बन्धित अधिकारियों द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों को सहन करते रहना था। अतः उच्च वर्ग के ही हाथ में पूर्णसत्ता थी। इस वर्ग में तुर्की, ईरानी, अरब, अबीसीनियावासी, मिस्री थे। अलाउद्दीन खिलजी के शासन-काल में भारतीय मुसलमानों को भी शासन–व्यवस्था में स्थान दिया गया और कुछ लोगों को उच्च पदों पर पहुंचने का अवसर प्राप्त हुआ। केवल युद्ध के समय सामन्तों में एकता हो जाती थी। शान्तिकाल में ये लोग पारस्परिक प्रतिद्वन्द्वता, स्वार्थ, व्यक्तिगत द्वेषभाव के झगड़े में पड़े रहते थे और इनमें फूट रहती थी। चूंकि मुसलमान लोग अविश्वासियों से घिरे हुए थे इसलिए उलेमाओं का बड़ा प्रभाव था। शैक्षिक, न्याय सम्बन्धी तथा धार्मिक उच्च पदों पर उलेमाओं का एकाधिपत्य था। राजा लोग राजकीय मसलों, राजनीतिक तथा महत्वपूर्ण कानूनी प्रश्नों पर उलेमाओं से परामर्श करते थे। इनका प्रभाव सदैव स्वस्थ एवं हितकर नहीं था। विशेषतः वे सदैव अपने धर्म के विरोधियों के प्रति "जिहाद" की इच्छा प्रकट करते थे।

आबादी में हिन्दुओं की संख्या बहुत अधिक थी। अधिकांश हिन्दू लकड़हारे या पानी भरने वाले थे। मुसलमान जनता की भी स्थित कुछ इनसे अधिक अच्छी नहीं थी। किन्तु उन पर नास्तिक (अविश्वासी-काफिर)

होने का कलंक था। इसलिए उनकी सम्पत्ति या वे स्वयं सुरक्षित नहीं थे। अधिकाँश भूमि उनके पास थी। उनमें से कुछ लोग माल तथा वित्त विभाग जैसे छोटे शासन-विभागों में थे। उनमें आर्थिक, व्यापारी एवं व्यवसायी वर्ग अधिक थे। मुस्लिम सेना में नियमित रसद विभाग न होने के कारण उनमें से कुछ लोग सेना के साथ व्यापारी (बंजारे) के रूप में काम करते थे। पक्षपात की भावना से यदि भारत के इतिहास का अध्ययन किया जाय तो यह परिणाम निकलता है कि हिन्दू लोग समस्त सुविधाओं से वंचित थे या उनको मुस्लिम जनता के समान सामाजिक सुविधाएँ प्राप्त न थीं। इसमें कुछ सत्यता है। अपने धर्म के कारण वे स्वभावतः शासकों के सन्देह के पात्र थे। शासक वर्ग अल्पमत में थे इसलिए उनमें एकता रहती थी। "जिहाद" के नारे से एकता करना सरल था। इसीलिए भारतीय इतिहास के पृष्ठ हिन्दुओं पर अत्याचार एवं दमन की कहानियों से भरे हुए हैं। किन्तु, भारत में मुस्लिम शासन की सुदृढ़ स्थापना होने से शासकों ने यह अनुभव किया कि भारत में जिनका बहुमत है उनका सहयोग प्राप्त किए बिना स्थायी शान्ति नहीं क़ायम हो सकती और इसीलिए उन्होंने विभिन्न विभागों में हिन्दुओं का सहयोग लेने का प्रयास किया। विशेषतः प्रान्तीय अदालतों (दरबारों) या प्रशासन में हिन्दुओं के प्रति अत्याचार का या दमनात्मक व्यवहार नहीं था।

अतः सामाजिक दृष्टि से सुल्तानों के काल में मुस्लिम समाज सामन्तशाही था। राजा और उसके निकटस्थ लोगों का सामाजिक तथा जीवन संबंधी सुविधाओं एवं धन-सम्मान पर एकाधिपत्य था। उनकी तुलना में प्रजा निर्धन थी और घृणा की दृष्टि से देखी जाती थी।

आर्थिक स्थिति

यह कहावत प्रसिद्ध है कि भारत वह देश है जहाँ दूध-दही-घी आदि की नदियाँ बहती हैं। निश्चय ही मध्यकाल में भारत में प्रचुर धन था और वह बड़ा समृद्ध राष्ट्र था। यहाँ सभी प्रकार का धन-धान्य प्रचुर मात्रा में था। इसीलिए विदेशी लोग भारत के प्रति आकर्षित हुए थे। मुसलमानों का प्रथम आक्रमण आठवीं शताब्दी में हुआ और दसवीं शताब्दी के बाद इनके कई आक्रमण हुए जिनके परिणाम स्वरूप हमारे देश के कई भागों पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। इसीलिए स्वभावतः वे भारत के धन के उत्तरा-धिकारी हो गए। वे भारत का धन लूट कर बाहर नहीं ले

गए और नहीं उन्होंने हमारे उत्पादन के साधनों का ही उन्मूलनकिया।

कृषि

आज की भाँति ही भारत इस काल में भी मुख्यत:–कृषि प्रधान देश था। भूमि उत्पादन का साधन थी। धनोपार्जन की मुख्य शक्ति पशु थे। कृषि के औजार हल, पाटा, खुर्पी, कुदाली, फावड़ा आदि पुराने ही ढंग के थे। यदि दुर्भिक्ष, टिड्डियों के हमले, संक्रामक रोग, आक्रमण, वायुप्रकोप आदि नहीं होते थे तो पैदावार समान्यतः काफी होती थी। जीवन साँचे में ढला हुआ सा (एक प्रकार का) था। जाति और वंश के अनुकूल गाँव बसे हुए थे अर्थात् एक गाँव में एक ही जाति या वंश के लोग रहते थे। परम्परागत धर्म और प्रथाओं के बन्धन से एकता के सूत्र में बंधे हुए थे। गाँव आत्मनिर्भर और संयुक्त थे। उदाहरणार्थ, पुरुष लोग खेत जोतते और फसल काटते थे तथा स्त्रियाँ पशुओं की देखरेख आदि विभिन्न कार्यों में पुरुषों का हाथ बंटाती थीं। बढ़ई लोग औजार बनाया करते थे। लोहार इन औजारों के लोहे के हिस्से तैयार करते थे और उनकी मरम्मत करते थे। कुम्हार लोग घरेलू बर्तन बनाते थे। इसी प्रकार मोची जूते बनाते थे और पण्डित (पुरोहित) विवाह तथा अन्यान्य कर्मकाण्ड कराते थे। ऋण देने वाले, धोबी, मेहतर, नाई तथा चरवाहे भी थे। इस प्रकार भूमि पर ही सम्पूर्ण ग्रामीण जीवन केन्द्रित था।

उत्पादन मुख्यत: स्थानीय खपत के निमित्त होता था। नगरों में कुछ लोगों की आय, मुख्यतः उद्योगों से होती थी जिनके लिए कच्चा माल (Raw Materials) इन नगरों की सीमाओं पर स्थित नदियों के मार्ग से होकर आता था। बन्दरगाहों में रहने वाले कुछ लोगों की जीविका के साधन विदेशों से (व्यापार में) आने वाले फल थे। कृषि की पैदावार तथा उद्योगों के उत्पादन के वितरण के केन्द्र भी नगर थे। राजा (राज्य) पैदावार का एक बड़ा भाग (मुख्यत: अनाज के रूप में) ले लेता था। इसके बदले में वह कुछ सिंचाई सम्बन्धी सुविधाएँ देता था और सुरक्षा का प्रबन्ध करता था। आराम का कोई निश्चित स्तर नहीं था और प्रजा निर्धनता की आदी बन गई थी। उसके परम्परागत धर्म ने भी यही मार्ग निश्चित कर दिया था। दाल, गेहूँ, जौ, मकाई, ज्वार–बाजरा, मटर, चावल, तिल, सरसों, अलसी, गन्ना, पटसन और कपास मुख्य पैदावार थे। औषधि सम्बन्धी वनस्पतियाँ (जड़ी–बूटी), मसाले, लकड़ी आदि वस्तुएँ भी पैदा

होती थीं और इनका निर्यात भी होता था। तम्बाकू, चाय, काफी आदि कुछ नई चीजों की भी खेती होने लग गई थी। आम, अंगूर, खजूर, केला, सेब, नींबू, नारंगी, सन्तरा, अंजीर आदि फल भी पैदा होते थे। सुल्तानों ने फलों के बाग और बगीचे भी लगवाए थे। भिन्न-भिन्न प्रकार के सुन्दर, आकर्षक और सुगन्धयुक्त फूल भी पैदा होते थे। भिन्न-भिन्न प्रकार के पालतू और जंगली जानवर भी होते थे।

उद्योग

सर्वप्रथम ग्रामोद्योग एवं कुटीरोद्योग तथा ग्रामीणों के काम की वस्तुओं के उद्योग थे। इन उद्योगों में वंश परम्परा के अनुसार श्रमिक लगे हुए थे और इनका ढंग पुराना एवं रूढ़िगत था। शक्कर, इत्र-तेल, तथा मादक द्रव्यों के भी अन्य उद्योग थे। नगरों में विभिन्न प्रकार के इत्र-तेल आदि तैयार किए जाते थे। कुटीरोद्योगों में सूत कातने और कपड़ा बुनने का उद्योग प्रमुख था। इनके तरीके आज जैसे ही थे। छोटे शस्त्रास्त्र बनाने का भी उद्योग था। सोने और चाँदी के सामान बनाने के भी उद्योग थे। गांवों में जो वस्तुएँ तैयार हो जाती थीं वे कलापूर्ण एवं सस्ती होती थीं। ग्रामीणों के पास लगान देने, उत्सवों में खर्च करने तथा विभिन्न दस्तकारों को मजदूरी देने के बाद बहुत थोड़े धन की बचत होती थी। गांवों के अन्य लोगों का रहन-सहन भी उनसे अच्छा नहीं था।

आधुनिक युग की भांति उस समय बड़े-बड़े उद्योग या कारखाने नहीं थे। क़स्बों के छोटे उत्पादक लोग मेलों में जाकर अपना माल बेचते थे या बड़े शहरों के वितरकों से अपने माल का विनिमय कर लिया करते थे। सुल्तानों ने "कारखानों" के नाम से बड़े-बड़े उद्योग भी स्थापित किये थे। यहां जो कारीगर काम करते थे वे अधिकारियों की देखरेख में उच्चवर्ग (रईसों) के योग्य अच्छी-अच्छी वस्तुएँ तैयार करते थे। उदाहरणार्थ, दिल्ली स्थित रेशम के शाही कारखाने में लगभग ४००० जुलाहे (बुनकर) काम करते थे। कहा जाता है कि मुहम्मद तुग़लक साल में दो बार २ लाख वस्त्र (पूरी पोशाक) बाँटा करता था और इस उद्देश्य से उसको चीन और ईरान से भी कपड़े मंगवाना पड़ता था।

वस्त्रोद्योग भारत का सबसे बड़ा उद्योग था। वस्त्रोद्योग में सूती, रेशमी, और ऊनी वस्त्र सम्मिलित थे। फूल-पत्ती काढ़ने, रंगाई तथा सुनहली जरी के काम भी खूब होते थे। अपने देश की माँग पूर्णतः पूरी होती थी तथा

बंगाल और गुजरात कुछ वस्तुएँ बाहर भी भेजते थे। सुन्दर-सुन्दर और बढ़िया क़िस्म के कपड़े बनते थे और धनी लोग रेशम, मलमल, सूती वस्त्र, जरी के पट्ट, साटन और रोएँदार कपड़े पहनते थे। दक्षिण में देवगिरि और महादेवनगरी, उत्तर में दिल्ली, गुजरात में खम्भात और बंगाल में सोनारगाँव, ढाका, बंजाला आदि स्थान वस्त्रो-पादन के प्रसिद्ध केन्द्र थे। विशेषत: बंगाल वस्त्रोत्पादन में नेतृत्व करता था। गलीचे, चादर, तकिया, कोच, दरी आदि वस्तुएँ भी बनती थीं। रंगाई और छपाई के भी उद्योग थे।

हमारे देश में इस काल में धातु-उद्योग भी थे। हमारे कारीगर लोहा, पीतल, चाँदी, जस्ता, अबरख आदि को गलाने और उनकी विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनाने में निपुण एवं विशेषज्ञ थे। तलवार बनाने, इस्पात बनाने, तश्तरी, प्याले, चाकू, कैंची और बन्दूक बनाने के उद्योग हमारे देश में थे।

समस्त प्रकार की पच्चीकारी के काम में भी भारत ने बड़ी प्रगति की थी। सोने-चाँदी के गहनों एवं बर्तनों, तश्तरियों तथा कपड़ों, पच्चीकारी, मीनाकारी और कढ़ाई का काम इस काल में बहुत ऊँचे स्तर पर पहुंच गया था। पत्थर और ईंट के भी काम होते थे। राजाओं द्वारा बनवाई हुई सुन्दर इमारतों को बनाने का काम भारत के ही कुशल राज-मजदूरों एवं कारीगरों ने किया था। मध्यकालीन भारत में कुशल राज-मजदूरों एवं कारीगरों की बहुतायत थी। कहा जाता है कि अलाउद्दीन खिलजी ने शाही इमारतों को बनवाने में ७०००० कारीगर लगाए थे। हाथी दाँत, नकली जवाहरात, चमड़ा, कागज, शक्कर आदि के अन्य छोटे उद्योग भी प्रचलित थे। कारीगरों के अपने-अपने संगठन थे और वे उनमें संगठित थे। इन कारीगरों में अद्भुत कलात्मक योग्यता एवं प्रतिभा थी परन्तु कला को गुप्त रखने की जो परम्परा चली आ रही थी उसके कारण उक्त कलाओं का अन्त हो गया।

व्यापार-वाणिज्य

राजाओं और उनके सामंतों (दरबारियों) दोनों को सदैव विलासिता की सामग्रियों की आवश्यकता रहती थी और इसके कारण विस्तृत व्यापार-वाणिज्य आवश्यक हो गया था। देश में आन्तरिक और विदेशी दोनों व्यापार की खूब उन्नति हुई। प्राय: स्थल-यात्राएँ एवं समुद्री यात्राएँ होती रहती थीं।

हमारे देश में आन्तरिक व्यापार वाले व्यापारियों एवं दुकानदारों के विभिन्न वर्ग थे। उत्तर के गुजराती, दक्षिण के चेट्टी तथा राजपूताना के बंजारे प्रसिद्ध थे। दूकानों के अतिरिक्त सचल दूकानें, घोड़ों और गाड़ियों पर दूकानें रहती थी तथा अन्य घूम-फिर कर सामान बेंचने वाले व्यापारी भी होते थे। विशेष बाजारों के कस्बों और मण्डियों में बड़े-बड़े व्यापारिक सौदे होते थे। व्यापारियों के साथ ही सामान-वाहक तथा दलाल होते थे। उपर्युक्त बंजारे कृषि की पैदावार तथा अन्यान्य वस्तुओं का व्यापार करते थे और वे इन वस्तुओं को देश के एक भाग से दूसरे भाग में ले जाकर व्यापार करते थे। देसी सेठ भी होते थे जो ऋण दिया करते थे और 'हुन्डी' सकारते थे और हुन्डियों की जमानत रखने थे। वे गिरवीं रखने का भी व्यवसाय करते थे। ये सेठ साहू या महाजन कहे जाते थे और ये लोग उच्चवर्ग को सदा धन की सहायता दिया करते थे। बाजारों की व्यवस्था एवं उनके नियंत्रण तथा खाद्य वस्तुओं में मिलावट एवं नाप-तौल में धोखेबाज़ी को रोकने के लिए अलाउद्दीन खिलजी ने विशेष अधिकारी नियुक्त किए थे और कड़े कानून लागू कर रक्खे थे। क़स्बे और नगर आन्तरिक व्यापार के केन्द्र थे।

प्राचीन काल की भांति इस काल में बाहरी जगत से भारत का काफी व्यावसायिक सम्बन्ध था। एशिया के समस्त भागों में अरबों द्वारा भारतीय वस्तुएँ ले जाई जाती थीं। प्रायः व्यापारियों के काफिले आया-जाया करते थे। समुद्री मार्गों पर मूर व्यापारियों का अधिपत्य था। रेशम, मलमल, घोड़े, बन्दूक, बारूद तथा कुछ बहुमूल्य धातु आयात की मुख्य वस्तुएं थीं। अनाज, रुई, बहुमूल्य जवाहरात, नील, खाल, अफ़ीम, मसाला शक्कर आदि निर्यात की मुख्य वस्तुएं थीं। विशेषतः ईराक, ईरान, मिस्र, पूर्वी अफ्रीका, मलाया, जावा, सुमात्रा, चीन, मध्य एशिया, अफगानिस्तान, प्रशान्त सागर के समस्त द्वीप तथा फारस की खाड़ी के चारों ओर बसे हुए देश भारतीय व्यापार से प्रभावित थे। मिस्र में सिकन्दरिया से होकर भारतीय वस्तुएं यूरोप जाती थीं।

विदेशी व्यापार में तटवर्ती नगर, विशेषतः गुजरात और बंगाल के नगर, नेतृत्व कर रहे थे। भारतीय तटों पर होने वाले व्यापार में भारतीयों का बहुत थोड़ा भाग रहता था। विदेशी व्यापारियों में भारत के प्रति कोई प्रेम नहीं था। उनका स्वार्थ केवल अपना व्यापार करना

और मुनाफा कमाना था। विदेशी व्यापार का विस्तार बहुत महत्वपूर्ण नहीं था। राजा और उसके अनुचरों के विलासितापूर्ण जीवन के कारण भारत के उद्योगों मे प्राप्त होने वाले राष्ट्रीय धन का सर्वाधिक भाग "खुशामदी वर्ग" पर व्यय होता था। इसके फलस्वरूप, स्वभावतः जनता निर्धन हो गई। वस्तुओं के मूल्य आज से बहुत सस्ते थे परन्तु राजा और अमीरों के कारण इससे जनता का अधिक हित नहीं होता था।

इसलिए आर्थिक रूप में सुल्तानों का काल सम्पन्नता एवं समृद्धि तथा निर्धनता के बीच स्पष्ट संघर्ष का चित्र प्रस्तुत करता है। थोड़े से लोगों के हाथ में भौतिक धन केन्द्रित था। धन को किस प्रकार व्यय किया जाय इसका निश्चय वे सुल्तान लोग करते थे जिनके विलासी जीवन तथा ठाठ–बाट पर भारी खर्चे होते थे। छोटे से उच्चवर्ग में जो सुधार हुए थे उससे और उसकी संस्कृति से सामान्य जनता के जीवन से कोई संबंध नहीं था। बहुसंख्यक जनता का जीवन एक साँचे में ढला हुआ सा था और उसमें कोई परिवर्तन या सुधार नहीं हुए थे। उसकी मस्तिष्क संबंधी संस्कृति भी बहुत नीचे स्तर की थी। इसलिए, इसकाल में, हमारी संस्कृति पर आर्थिक स्थिति का गम्भीर प्रभाव था। राजा लोग भ्रष्ट, विलासी और अयोग्य हो गए थे। आगे चल कर इन्होंने ऐसी दुर्बल संस्कृति को प्रस्तुत किया जो जनता की माँग एवं आवश्यकता के अनुकूल नहीं थी और इसलिए इनका पतन अनिवार्य हो गया। इसी समय शक्तिशाली मुग़लों ने आकर उनकी स्वतंत्रता को पददलित कर दिया और भारत में अपना शासन स्थापित किया।

अब हम मुग़ल बादशाहों के आधीन भारत की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का वर्णन कर रहे हैं।

मुगलों के आधीन सामाजिक व आर्थिक स्थिति

पूर्व काल की भाँति इस काल में भी समाज समृद्ध और निर्धनों में विभाजित था। सत्ता और धन दोनों बादशाह तथा अमीरों के छोटे वर्ग के हाथों में केन्द्रित थे। समाज में जो विभिन्न प्रकार के विभाजन थे उनका हम पहले ही अध्ययन कर चुके हैं, इसलिए उन पर पुनः प्रकाश डालना आवश्यक नहीं है। इस काल में दो नई बातें हुई और उन्होंने सामाजिक विकास को प्रभावित किया। पहली नई बात यह हुई कि बादशाह राष्ट्रीय

राजा हो गए। विशेषतः अकबर ने सामंजस्य की नीति अपनाई तथा हिन्दुओं एवं मुसलमानों में समता क़ायम हो गई। फलस्वरूप सामाजिक दृढ़ता एवं मेल-मिलाप हुआ। हिन्दू लोग मुसलमानों के साथ साम्राज्य की शासन-व्यवस्था में हाथ बंटाने लगे। उनको शाही दरबार के रत्नों में भी स्थान प्राप्त हो गया। इस प्रकार वे साहित्यिक एवं कलात्मक विकास में योग देने लगे। इनके सम्मिलित होने से सामन्तों का वर्ग और बड़ा हो गया। दूसरी बात यह हुई कि मुग़ल बादशाह धर्मनिरपेक्ष दृष्टि-कोण के थे। उन्होंने मुल्लाओं और उलेमाओं के निर्देश पर चलना अस्वीकार कर दिया। फलस्वरूप पण्डित और मुल्ला वर्ग का प्रभाव घट गया और इस क्षेत्र में भी अकबर ने नेतृत्व किया।

समाज या उच्चवर्ग का पहला काम स्त्रियाँ रखना और शराब पीना था। अबुल फज़ल के अनुसार अकबर के शाही 'हरम' में ५००० स्त्रियाँ थीं। जिनकी देखरेख महिला अधिकारियों का एक पृथक विभाग करता था। जहाँगीर के शासन काल में राजदरबार में शराब का खुलकर प्रयोग होता था। फिर भी मुग़ल बादशाहों ने कई सामाजिक सुधार किए। स्त्रियों की बालहत्या तथा सती प्रथा जैसी कुप्रथाओं पर कड़े प्रतिबन्ध लगा दिए गए। विधवा-विवाह तथा स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन दिया गया। दहेज प्रथा को हेय माना जाने लगा। अकबर ने विवाह के पूर्व वर एवं कन्या की स्वीकृति प्राप्त करने की प्रथा को भी प्रचलित करने का प्रयास किया। अकबर ने बाल-विवाह, मिश्रित विवाह, बहुविवाह आदि अविवेकी विवाहों को भी रोकने का प्रयत्न किया। इन सुधारों के बावजूद भी उच्चवर्ग और सामान्य जनता के बीच में जो गहरी सामाजिक खाई बन गई थी उसको नहीं पाटा गया और समाज सामन्तवादी, रूढ़िवादी प्रतिक्रियावादी बना रहा।

आर्थिक स्थिति

इसकाल के आर्थिक जीवन में एक नवीन घटना यह हुई कि भारतीय राज नीति के रंगमंच पर युरोप के लोगों का आगमन हुआ। १६ वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में पुर्तगालवासी भारतीय समुद्रों के मालिक हो गए। अकबर ने पुर्तगीजों की स्थिति को मान्यता दी और उसने लालसागर में भेजे जानेवाले अपने जहाजों के लिए उनसे प्रवेश - पत्र (लाइसेंस) लिए। मुगलों ने समुद्र पर अधिकार करने या समुद्री मार्ग को स्वतंत्र करने का प्रयास नहीं किया। मुगल बादशाहों ने भावी सामजिक नीति में समुद्र शक्ति के महत्व

को या समुद्रशक्ति की विशेषता को नहीं पहचाना । इसका परिणाम यह हुआ कि औरंगजेब के शासनकाल के अंत तक भारत के बृहत् भाग पर युरोपीय व्यापारियों का प्रभुत्व हो गया । सिंध से लेकर बंगाल तक, तटों पर, जहाँ कहीं भी व्यापार होता था वहाँ डच और अंग्रेज लोग पाए जाते थे । उत्तर में ये लोग उस प्रदेश के बहुत बड़े भाग में सक्रिय थे जिसको इस समय बिहार तथा उत्तर प्रदेश कहा जाता है । आगरा से लेकर समुद्री बन्दरगाहों तक वे रहते थे । अतः यह कहा जा सकता है कि यह जो नई स्थिति उपस्थित हो गई थी उससे पंजाब के अतिरिक्त भारत का प्रत्येक महत्वपूर्ण भाग प्रभावित हो गया था । दूसरे शब्दों मे यह कहा जा सकता है कि चुंकि भारतीय शासक प्रगतिशील दृष्टि से समाज में कोई परिवर्तन नहीं ला सके थे इसलिए प्रकृति ने सामंतवाद के स्थान पर पूंजीवाद को लानें के लिए विदेशियों को भारत में भेज दिया ।

आर्थिक दृष्टि से, सबसे मुख्य विशेषता यह थी कि सरकार पर, जो स्वच्छन्द एवं निरंकुश थी, बहुत भारी खर्च होता था । परन्तु सरकार को यह निरंकुशता उसी प्रकार हितकारक थी जैसी अठारहवीं शताब्दी के योरोप में थी । राजा के व्यक्तिगत माँगों, सेना एवं प्रशासन – व्यवस्था पर मुख्यतः खर्च होता था । इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कर-व्यवस्था लागू करनी पड़ी । "फे" और "ज़कात" नामक दो प्रकार के मुख्य कर थे । जकात धार्मिक कर था । ख़ुम जजिया और खिराज "फे" में शामिल थे । जकात मुख्यतः सम्पत्ति पर लगाया जाता था । खुमका अर्थ पाँचवाँ हिस्सा होता है । यह कर मुसलमान सैनिक द्वारा युद्ध में लूटी गई सम्पत्ति, खानों और खजाना पर लागू था । जज़िया कर काफिरों पर लागू था । (अकबर और उसके उत्तराधिकारियों ने इस कर को बन्द कर दिया था, किन्तु औरंगजेब नें इसे पुनः लागू किया था) । इस कर के बदले में उनकी सुरक्षा का प्रबन्ध किया जाता था । खिराज भूमि कर (लगान) था और यह पैदावार के $\frac{1}{2}$ भाग तक लिया जाता था । जकात धार्मिक कर था और यह उन मुसलमानों पर लागू था जिनके पास बिना लगान की सम्पत्ति थी । बच्चों, नाबालिगों, दिवालियों, कर्जदारों तथा पागलों पर यह कर नहीं लागू था । उश्र (तिथें) नामक एक अन्य धार्मिक कर था जो मुसलमानों पर लागू था । यह भूमि की वास्तविक पैदावार पर लागू था । नाबालिगों को भी यह कर देना पडता था । दूसरे शब्दों में भूमि, कर (चुंगी), टकसाल, उत्तराधिकार और नजराना

आय के मुख्य श्रोत थे। राजा की आय का मुख्य साधन भूमि थी।

अकबर के शासन काल में आय के इस श्रोत को स्थायी बनाने, कृषकों को पैदावार बढ़ाने का अवसर देने, राज्य की माँग को निश्चित करने तथा वित्त विभाग व प्रशासन में भ्रष्टाचार एवं गबन को रोकने के लिए विभिन्न प्रकार के सुधार किए गए। टोडरमल ने भूमि सम्बन्धी वैज्ञानिक नीति निर्धारित करने मे अकबर को सहायता दी । लगान अदायगी के नियम ज़ब्त (टोडरमल की तखमीने की नियमित व्यवस्था) द्वारा निर्धारित थे। इसने नक़द लगान के दर निर्धारित कर दिए थे। इसी के अनुकूल पैदावार का तिहाई भाग राजा लिए लिया जाता था। ये कर खेती पर लागू थे, व्यवसाय पर नहीं। मालविभाग के अधिकारी नक़द वेतन पाते थे और वे किसानों से सीधा सम्पर्क रखते थे। यह नियम था कि कर संग्रह करने वाले (कलेक्टर) को अपने को ग्रामीणों मित्र का समझना चाहिए उसे किसानों से कोई अन्य रकम नहीं लेना चाहिए और उसे ऐसे ग्रामीणों को ऋण देकर सहायता करना चाहिए जिनको धन की आवश्यकता हो। उसे सुविधाजनक अवधियों पर वसूली करनी चाहिए, उसे वसूली में दया का बर्ताव करना चाहिए, उसे कुशल व्यवस्था रखनी चाहिए और किसानों को सता कर वसूली न करनी चाहिए। अकबर की व्यवस्था नाप – तौल तथा दरों के निर्धारण एवं वर्गीकरण पर आधारित थी। ६० गज लम्बी जंजीर या "जरीब" से भूमि की नाप होती थी। आगे चलकर यह जँजीर लोहे के छल्लों से जोड़े गए बाँसों की हो गई। यह सभी ऋतुओं में समान लम्बी बनी रहती थी। भूमि की इकाई "बीघा" थी। एक बीघा ३६०० वर्गगज़ के बराबर था। नाप–जोख के बाद भमि को पोलज (जिसमें अनवरत खेती होती हो), परौती (जो भूमि एक दो वर्ष से खाली पड़ी रही हो), चाचर (जो भूमि ३ या ४ वर्ष तक खाली पड़ी रही हो) तथा बंजर (जो ५ वर्ष या इससे अधिक समय से खाली पड़ी हुई हो) नामक चार श्रेणियों में बाँट दिया गया। प्रथम तीन श्रेणियों में से प्रत्येक की तीन उपश्रेणियाँ कर दी गई और उसके बाद औसत निकाला गया। इस औसत से सरकार $\frac{1}{3}$ भाग लेती थी। लगान अनाज के रूप में अदा किया जा सकता था। लगान की अदायगी इलाही सन (सूर्य–वर्ष) के अनुसार होती थी। ये भूमि राज्यकीय भूमि से पृथक रखी जाती थीं और जागीर की भूमि राजा तथा उसके सामन्तों की होती थीं। पदों की संख्या अधिक नहीं थी। प्रत्येक अधिकारी एक

निश्चित पद पर नियुक्त रहता था और उसे निश्चित वेतन मिलता था। अस्तु, अकबर की भूमि सम्बन्धी नीति ठोस थी और इसमें जाति, रंग या धर्म भेद नहीं था।

इस प्रकार किसानों की समृद्धि निश्चित कर दी गई थी। किसान भारत के आर्थिक ढाँचे की रीढ़ थे। यही व्यवस्था अकबर के उत्तराधिकारियों तक जारी रही किन्तु शाहजहाँ के शासनकाल से इसमें बुराइयाँ आ गईं। कहा जाता है कि कई स्थानों पर कृषि-व्यवस्था के नए-नए उपाय किये गए और अधिकारियों के अधिकार बढ़ा दिए गए। कृषि की पैदावार वैसी ही थी जैसी पूर्व काल में बतायी जा चुकी है और कृषि-प्रणाली (खेती के तरीके) भी उसी प्रकार की बनी रही। गाँव पूर्व की ही भांति आत्म-निर्भर थे। मुग़ल बादशाहों के शासनकालों में कभी-कभी अकाल पड़ जाने से किसानों की स्थिति बिगड़ जाती थी। मुग़ल काल में अकाल पड़ने लगे थे।

उद्योग

उत्पादन कारीगरों (दस्तकारों) द्वारा होता था और नियमित व्यवस्था कुटीरोद्योग की थी। अतीत काल की भाँति इस काल में भी राज्य (सरकार) सबसे बड़ा उद्योगी था। राजा उद्योगों को बड़े-बड़े ऋण एवं आर्थिक सहायता देता था। चूंकि राजा कला का संरक्षक था, इस-लिए सभी कुशल कारीगर उसके अधिपत्य में रहते थे। रेशम, सूती वस्त्र तथा इत्र-तेल की माँग बढ़ गई थी। अकबर यान्त्रिक मष्तिष्क का व्यक्ति था अर्थात् मशीनों में उसकी रुचि अधिक थी इसलिए उसके कारखाने उसकी रुचि के अनुकूल वस्तुएँ तैयार करते थे। उत्पादक लोग अपने घर पर वही वस्तुएं तैयार करते थे जो उनकी जाति के परम्परागत व्यवसाय में थीं। समस्त साम्राज्य आत्मनिर्भर था। मानव जीवन के लिए आवश्यक सभी सामग्रियां तैयार होती थीं और विलासिता की चीजों का भी उत्पादन होता था। सभी चीजों का उत्पादन पर्याप्त परिमाण में होता था। भारतीय वस्त्र, नील, अफीम पीपर और मसालों से विदेशी लोग भारत के प्रति आकृष्ट थे।

बर्मा, मक्का, ईरान, मिस्र, अरब, चीन, अफ्रीका, यूरोप और ब्राजील तक में भारतीय वस्त्रों का निर्यात होता था। सूती वस्त्रों में छींट सबसे प्रमुख थी और कालीकट (मद्रास) की छींट सबसे अधिक विख्यात थी।

छींट और लंकलाट विभिन्न प्रकार के होते थे। विदेशियों ने सेमियानो, पिन्टाडो, नेकानी, पर्सलेस आदि भारतीय छीटों के विभिन्न नाम रक्खे थे। बंगाल, बम्बई और मद्रास के तटों पर ऐसे बन्दरगाह थे जहाँ से उक्त सामग्रियाँ विदेशों में जाती थीं। पंजाब में होशियारपुर जिला विभिन्न प्रकार के सूती वस्त्रों के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध था। गुजरात से पेरू, पूर्वी अफ्रीका, तुर्की, तर्तारी, सीरिया, बर्बरी, इथियोपिया तक में भारत का रेशम जाता था। दूर-पूर्व, मध्य एशिया तथा पश्चिमी तट के देशों से भारत में भी रेशम का आयात होता था। बंगाल, बिहार तथा अहमदाबाद रेशम के उत्पादन के केन्द्र थे। काश्मीर ऊनी माल, गलीचा, दुशाला आदि के उत्पादन के लिये प्रसिद्ध था। नील दोआब में अधिक पैदा होती थी और विदेशी बाजारों में इसकी भारी खपत थी (विशेषत: अकबर के बाद में)। ललित कलाओं का भी खूब विकास हो गया था। ग्रीष्मकाल में सिरमूर नामक पहाड़ी क्षेत्र से बरफ आता था। यह बरफ मजदूरों और नावों के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचाया जाता था। राजा बड़े उद्योगों को धन देता था। छोटे उद्योगों को 'कोठियाँ' (बैंकिंग हाउसेज) सहायता देती थीं। इन कोठियों का व्यवसाय ऋण देना, पुराने सिक्को से नए सिक्कों का विनिमय, हुन्डियों का लेन-देन, ब्याज पर रुपया जमा रखना आदि था। जो लोग यह व्यवसाय करते थे वे शर्राफ़ कहलाते थे और इनके प्रबन्धक "मुनीमजी" कहे जाते थे। इन कोठियों ने भारत के विभिन्न भागों में अपनी शाखाएँ स्थापित कर रक्खी थीं जो उपर्युक्त व्यवसायों के अतिरिक्त अन्य व्यापार भी करती थीं। राज्य के व्यापार के सुचारु संचालन और आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अच्छी मुद्रा-व्यवस्था आवश्यक होती है। इसलिए अकबर ने संशोधित मुद्रा-व्यवस्था प्रचलित की थी। मुद्राओं के आकारों में सुधार कर दिए गए थे और उनका एक स्तर निर्धारित कर दिया गया था। चाँदी तथा ताँबे के सिक्कों का नियमित उपयोग होता था। सोने के सिक्के भी प्रचलित थे किन्तु उनका उपयोग कम होता था। १७२.५ ग्रेन का रुपया चाँदी का मुख्य सिक्का था। 'दाम' ताँबे के सिक्कों में मुख्य था। यह एक रुपये के १/४० भाग के बराबर था। एक दाम (पैसा) के आठवें भाग को "दमड़ी" कहा जाता था। एक दाम में ७२ कौड़ियाँ होती थीं। शाही कामों में "जीतल" का उपयोग होता था। एक दाम में २८ जीतल होते थे। सोने का "मोहर" १० रुपये के समान होता था। एक रुपया लगभग २ शिलिंग और ३ पेन्स के समान था। साधारण मजदूरों की मजदूरी २ दाम

और कुशल मजदूरों की मजदूरी ७ दाम थी। रुपए के बदले में साधारण मजदूरों को मजदूरी के रूप में ९ पौंड ४ आउन्स गेहूँ और कुशल मजदूरों को ३२ पौंड ६ औंस गेहूँ दिया जाता था। अर्थात् अनाज बहुत ही सस्ता था। कर लगाने का कोई सिद्धांत नहीं था और मजदूरों में गतिशीलता नहीं थी। विदेशियों से अपने देश के लोगों से कम कर लिया जाता था और उन्हें ऐसी सुविधाएँ दी गई थीं जिनसे देशी उद्योगों की क्षति होती थी। देश के अन्दर विदेशियों के माल का जो आवागमन होता था उस पर उतनी चुंगी नहीं ली जाती थी जितनी कि भारतीयों के माल पर ली जाती थी। खेती सम्बन्धी कर भी लागू थे। इस प्रकार करों की अनिश्चितता, उनकी व्यापकता, अक्सर कर लागू करने, अधिकारियों के लोभ तथा राज-मार्ग पर स्थित सम्पत्ति एवं जीवन रक्षा के दुर्बल प्रबन्ध के फलस्वरूप व्यापार में उद्यम करने और व्यापार में आगे क़दम बढ़ाने की भावना का अन्त हो गया।

स्थल, नदियों तथा समुद्रों से यातायात होता था। आगरा (राजधानी) में कई सड़कें मिलती थीं और यह नगर धोलपुर, दिल्ली, लाहौर, क़ाबुल, सूरत, भड़ोंच अहमदाबाद, अजमेर, फतेहपुर सीकरी, कन्नौज, लखनऊ, अयोध्या, फ़ैजाबाद, जौनपुर, इलाहाबाद, पटना आदि भारत के सभी स्थानों से सम्बन्धित था। पंजाब काश्मीर के मार्ग से लद्दाख, यारक़न्द और काशग़र से काफी व्यापार करता था। बुरहानपुर, दौलताबाद तथा गोलकुण्डा से होकर आगरा दक्षिण से भी सम्बन्धित था। देशी जलमार्ग गंगा और सिन्धु नदी तक सीमित था। बंगाल से बनारस और इलाहाबाद तक नाव आया करती थी। नावों के अलावा बैलगाड़ियों और जानवरों पर लाद कर भी माल एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाया जाता था। हर ५ कोस (१ कोस = ५००० गज) पर चौकियाँ क़ायम थीं जहाँ दो घोड़े कुछ पैदल यात्री रहते थे। ५० कोस पर विशेष कागजों (दस्तावेजों) को ले जाने में २४ घन्टे लगते थे या एक चिट्ठी आगरा से पाँच दिनों में अहमदाबाद पहुँचती थी। यात्राएँ सदैव निरापद नहीं थीं।

व्यापार तथा वाणिज्य

देश का आन्तरिक व्यापार पहले जैसा ही चल रहा था परन्तु विदेशी व्यापार में "यूरोपीय व्यापारियों की चढ़ाई" नामक नवीन स्थिति पैदा हो गई। उनसे हमें सबक लेना चाहिए था और सतर्क हो जाना चाहिए

था। बड़ा व्यापारी देश होने के साथ भारत में प्राकृतिक धन, समुद्रतट, बढ़ती हुई जन-संख्या, कलात्मक विशेषता आदि सभी बातें थीं परन्तु यहाँ के तत्कालीन शासक (राजा) लोग इन सब पर ध्यान नहीं देते थे और वे समुद्री व्यापार एवं वाणिज्य की उपेक्षा करते थे।

हमारे विदेशी व्यापार पर पुर्तगालियों और बाद में डचों और अंग्रेजों का नियंत्रण हो गया। भारतीयों में तटवर्ती क्षेत्रों के मुसलमान, गुजरात के बनिया तथा कोरोमण्डल तट के चेट्टी लोग विदेशी व्यापार करते थे। लहरी-बन्दर (कराची के समीप), डियु, भड़ोंच, सूरत, दमन, बेसीन, चौल, गोआ, मंगलौर, कालीकट, कोचीन, नेगापट्टम, सेन्ट थोम, मसूलीपट्टम, हुगली, चटगाँव तथा सतगाँव यहाँ के मुख्य बन्दरगाह थे। लहरी बन्दर में ईरान और अरब से खजूर, घोड़े, मोतियाँ, लोबान गोंद तथा यहूदी पत्थर लेकर व्यापारी लोग आते थे। भारतीय व्यापारी शक्कर, मक्खन, जैतून के तेल, नारियल और कपड़ों का निर्यात करते थे। सूरत में अफ्रीका, यूरोप और एशिया के कई स्थानों से जहाज आते थे जो यहाँ मसाला, रेशम, चन्दन, हाथी दाँत, मखमल, शराब, क़ीमती जवाहरात तथा अफ्रीकी दास (गुलाम) लाते थे। विदेशों में सूती कपड़े, पच्चीकारी की वस्तुएं, रेशम, सोमनाथ के छुरे तथा हथियार भेजे जाते थे। बंगाल, चावल, शक्कर, कपास, रेशम और गुलाम बाहर भेजता था। लाहौर और मुल्तान शक्कर, कपड़ा, कागज और इस्पात के हथियार देते थे। आगरा से नील बाहर भेजा जाता था। काश्मीर फल, दुशाले सुहागा, रेशम और ऊनी चीजें बाहर भेजता था। भूटान, नेपाल, कुमाँयू, और बर्मा से सीमांत व्यापार होता था। ईरान हमारे देश में शराब, अरब घोड़े और अफ्रीका अन्य चीजों के अलावा गुलामों का निर्यात करता था। भारत में सोना और चाँदी खूब हो गया इसके कारण व्यापारी लोग सिक्के लाते थे और यहाँ की वस्तुएँ ले जाते थे। मुग़ल काल में विदेशी व्यापार में शोरा, एमोनिया, चन्दन की लकड़ी, बंगाल का नील और मसाले आदि कई नई वस्तुएँ प्रचलित हो गई थीं। दिन भर या हफ्ते भर दूकानें खुली नहीं रहती थीं। दूकानें दिन में दो बार खुला करती थीं। ग्रीष्मकाल में प्रात:काल सूर्योदय के बाद से ३ घंटे तक और सांयकाल सूर्यास्त के बाद से ३ या ४ तक दूकानें खुली रहती थीं। भारतीय व्यापारी बहुत चालाक थे। पाईराडं डि लावल नामक एक यूरोपीय ने यह कहा है कि "भारतीय व्यापारी लोग बहुत चालाक हैं, उन्होंने पश्चिम के लोगों से

कुछ भी नहीं लिया और उनकी बुद्धि हम लोगों से कहीं अधिक तीक्ष्ण है।" ? व्यापार करने में वे मध्यस्थ के रूप में कार्य करते थे और राजा लोग तक ऐसे व्यापार करते थे। कृषि–धन तथा विदेशी व्यापार ने मुग़ल बादशाहों को खूब धनवान बना दिया था। कहा जाता है कि अकबर अपने उत्तराधिकारी के लिए ४०० पौंड सोना सिक्के के रूप में छोड़ गया था। यह सोना आजकल के २००० लाख पौंड सोने के समान है।

परन्तु मुग़ल दरबार के ठाठ–बाट राष्ट्र के खंडहर पर आधारित थे। जनता को कोई भी सामाजिक सुविधा या आराम नहीं था। वकीलों, अध्यापकों पत्रकारों, राजनीतिज्ञों या इंजीनियरों आदि का कोई मध्यमवर्ग नहीं था।। उत्पादक उद्धेश्यों के लिए धन मुश्किल से प्राप्य था। इसके दो कारण थे। पहला यह कि उच्च वर्ग के लोग बहुत व्यय करते थे और सोना, चाँदी, मोती, हीरा आदि एकत्रित रखते थे और दूसरा यह कि फसल कटने का समय निश्चित नहीं था क्योंकि यह कानून था कि राजा मृत व्यक्ति के धन को जब्त कर सकता था।

मुग़लों की आर्थिक समृद्धि शाहजहाँ के शासनकाल में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी और उसी शासनकाल में मुग़लों की आर्थिक समृद्धि का ह्रास भी हुआ। जब शाहजहाँ शानदार इमारतों और मस्जिदों के बनवाने में साम्राज्य का धन खर्च कर रहा था, विदेशियों की आँखें साम्राज्य के हृदय की गहराई का अध्ययन कर रहीं थीं। औरंगजेब की "दक्षिण" संबंधी नीति ने मुग़लों के आर्थिक पतन को पूरा किया। वह दक्षिण को विजय करने के प्रयास में उलझ गया और उसने आर्थिक हितों की उपेक्षा की जिसके फलस्वरूप व्यापार ढीला हो गया, सड़कें खतरनाक हो गईं, प्रांतीय तथा हिन्दू ताकतें उठ खड़ी हो गईं, भूमि तहस नहस कर दी गई, श्रमिकों का शोषण होने लगा और समुद्री डाके पड़ने लगे। औरंगजेब के काल में मुग़लों की शक्ति का कितना पतन हो गया था इसका उदाहरण यह है कि अंग्रेजों ने बंबई में बिना बादशाह की आज्ञा प्राप्त किए टकसाल चालू कर दिया था और उसमें सिक्के बनने लगे थे। मक्का से आती हुई शाही नाव लूट ली गई थी और स्त्रियों पर बलात्कार किए गए थे। औरंगजेब के पूरे शासन काल में राष्ट्रीय दिवालियापन के काले बादल छाये हुए थे। और आगे चलकर इन समस्त कारणों से मुग़ल साम्राज्य का पतन हो गया।

परन्तु उपर्युक्त तथ्यों से यह न समझ लेना चाहिए कि उस समय की जनता की स्थिति पूर्णतः रूखी या अरुचिकर थी। सभी प्रकार के ऐसे खेल-कूद प्रचलित थे जिनमें जनता भाग लेती थी। दौड़, तैरना, बाज के शिकार, जानवरों की लड़ाई, पटेबाजी, मल्लयुद्ध (कुश्ती), पोलो, कबूतरों का उड़ाना, शतरंज, चौपड़-पाँसा आदि सभी प्रकार के खेल कूद होते थे। संगीत और नृत्य आदि भी प्रचलित थे। इनके अलावा अनेकानेक मेले लगते थे, उत्सव होते थे और तीर्थयात्राएँ होती थीं। ग्रामीणों में कहानी सुनना-सुनाना, लोकनृत्य (होली आदि उत्सवों के अवसरों पर) आदि मनोरंजन के साधन प्रचलित थे। इन मनोरंजनों के कारण आर्थिक जीवन का रूखापन दूर रहता था। ये मनोरंजन अमीरों में भी प्रचलित थे।

मुग़लकालीन भारत की सामाजिक व आर्थिक दशा का यह संक्षिप्त वर्णन है। इस वर्णन में मुख्य बातें यह पाई गईं कि कुछ धनवानों और जनता के बहुमत (जो धन का उत्पादन करता था) में बड़ी भारी खाई थी, राजकीय उद्योग अनुत्पादक थे, मध्यमवर्ग नहीं था, जनता निर्धन थी, शासक विदेशी व्यापार के महत्व को नहीं समझते थे तथा उच्च वर्ग और अपढ़ जनता के बीच घृणा की और दुराव की भावना थी। परन्तु विशेषता यह थी कि धन देश से बाहर नहीं ले जाया जाता था और कारीगरी (कला-कौशल) के काम के लिए विस्तृत क्षेत्र था। यह भी कहा जाता है कि मुग़लों ने बाहरी एशिया से हमारे सम्पर्क को पुनर्जीवित किया और हिन्दुओं को काम भी दिया।

धर्म

धर्म के प्रश्न पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है। सुल्तानों या मुगल बादशाहों की धार्मिक नीति, बादशाह और उलेमाओं (मौलवीवर्ग) के बीच का सम्बन्ध, ग़ैर सरकारी धार्मिक आन्दोलन, जनता की नैतिकता की गति आदि कुछ मुख्य दृष्टिकोण हैं। कहा जाता है कि शुक्रवार के दिन तथा ईद के नमाज़ के लिए खुतबा पढ़ना, धार्मिक निषेधाज्ञाओं की सीमाएँ निश्चित करना, धार्मिक उद्देश्यों के लिए कर संग्रह करना, धर्म के रक्षार्थ युद्ध करना, धार्मिक विवादों के निर्णय करना, धर्म में कोई नई बात प्रचलित करने के प्रयास को दबाना आदि सुल्तानों के धार्मिक कर्तव्य थे। सुल्तान लोग अपने खजाने से धार्मिक व दातव्य उद्देश्य से पृथक कोष रखते थे बारनी तथा सुल्तान इल्तुतमिश और सुल्तान

अलाउद्दीन तथा बियाना के क़ाज़ी मुग़ीसुद्दीन की बातचीतों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि सुल्तानों का शासन धर्मनिरपेक्ष था और उसमें धार्मिक कट्टरता के लिए कोई स्थान नहीं था। सुल्तानों के शासन में प्रचलित धर्म अधिकारियों के अधिकारों को नहीं हड़प सकता था। इन अधिकारियों को सुल्तान अधिकार देते थे। उलेमाओं ने कुरान के इस आदेश का प्रचार कर दिया था कि 'अल्लाह का हुक्म मानों, पैग़म्बर के हुक्म को मानो और अपने बीच के उन लोगों का हुक्म मानों जो अधिकारयुक्त हों।" सुल्तान अधिकारयुक्तों" के समान माने जाते थे। बाद में सुल्तान ईश्वर के प्रतिनिधि माने जाने लगे। इनकी आज्ञा को न मानना पाप माना जाता था। संक्षेप में उलेमाओं ने इस कहावत को प्रचारित कर दिया कि "जो सुल्तान का हुक्म मानते हैं वे ख़ुदा का हुक्म मानते हैं।" इसलिए, मुग़ल बादशाह अक़बर के भारतीय मुसलमानों के लौकिक एवं धार्मिक नेता के होने के दावे में तार्किकता प्रतीत होती है। सुल्तानों के शासनकाल में पहले हिन्दुओं को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था और हिन्दू सताए जाते थे। यह उनकी नीति थी या मान्यता यह एक विवादयुक्त प्रश्न है। परन्तु जब आक्रामकों की सामरिक उत्तेजना शान्त हो गई और शासन-संचालन पर अधिक ध्यान देना आवश्यक हो गया तब इस बात को महसूस किया गया कि शान्ति की स्थापना और समृद्धि की प्रगति के लिए न्याय किया जाना तथा लोगों की तकलीफों की सुनवाई करना नितान्त आवश्यक है। इसीलिए सुल्तानों के शासन के अन्तिम चरण में हिन्दुओं के प्रति अधिक सहिष्णुता का व्यवहार होने लगा और दिल्ली में केन्द्रीय शक्ति के क्षीण हो जाने के कारण अन्य कई राज्यों (सूबों) में हिन्दुओं के प्रति विशेष सहिष्णुता का बर्ताव होने लगा।

धार्मिक वर्ग तथा सुल्तानों में भिन्न-भिन्न सुल्तानों के समय भिन्न सम्बन्ध रहा। धार्मिक वर्ग में अध्यात्मवादी, सन्यासी, सैयद, पीर और उनके वंश लोग होते थे। इनमें उलेमाओं (अध्यात्मवादियों) का सुल्तान लोग अधिक सम्मान करते थे। राज्य के न्याय तथा धर्म सम्बन्धी उच्च पदों पर वे ही लोग रहते थे। उनकी इच्छा अधिक प्रभुत्व पाने की रहती थी। वे कट्टर होते जा रहे थे और यहाँ तक कि अपने धर्म के वास्तविक सिद्धांतों को भी वे भूलते जा रहे थे। सर्वप्रथम सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने उनकी बढ़ती हुई उच्च आकांक्षाओं पर नियंत्रण किया। इसके शासनकाल में वे केवल न्याय तथा धर्म सम्बन्धी समस्याओं पर ही अपना निर्णय दे सकते थे। मुहम्मद तुग़लक इससे भी आगे बढ़

गया था और उसने राज्य को पूर्णतः धर्म–निरपेक्ष बना लिया था। फिरोज तुग़लक कुछ अधिक उदार था। फिर भी धार्मिक वर्ग के सार्वभौम प्रभुत्व का सदा के लिए अन्त हो गया था। अस्तु, धार्मिक वर्ग सुल्तान की राजनीतिक नीति तथा प्रशासन का कठपुतली हो गया था।

सुल्तान–काल में मुसलमानों में सूफीवाद और हिन्दुओं में भक्तिवाद के आन्दोलनों का विकास हुआ। भक्तिवाद पर इससे पूर्व के अध्याय पर प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ सूफ़ीवाद पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है।

वैयक्तिक धर्म प्रचारकों के आन्दोलन का काल ११ वीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। सबसे प्रारम्भिक धर्म प्रचारकों में (जिनका इतिहास है) शेख इस्माइल थे जो सन् १००५ ई० के निकट लाहौर में आए थे। १२ वीं शताब्दी में गुजरात में नूरुद्दीन नामक एक महत्वपूर्ण धर्मप्रचारक हुए थे। १३ वीं शताब्दी से धर्मप्रचारकों की संख्या में वृद्धि हो गई और भारत में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (अजमेर), जलालुद्दीन (सिन्ध), सैयद अहमदकबीर (पंजाब), बहाउलहक़, बाबा फ़रीदुद्दीन तथा अहमद कबीर जैसे प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण धर्म प्रचारक हुए। चौदहवीं शताब्दी से धर्म प्रचारक लोग पश्चिमी भारत और दक्षिण में फैल गए।

इस्लाम के अन्तर्गत योगी (सूफी) भी होते हैं जिनका मुख्य आधार धार्मिक जीवन की गूढ़ व्याख्या है और यही सूफीवाद के नाम से प्रसिद्ध है। सर्वप्रथम सिन्ध प्रान्त में सूफीवाद प्रचलित हुआ। सूफी सिद्धान्त अधिकांशतः कविता के माध्यम से भारतवर्ष भर में फैल गए। इन सिद्धान्तों ने हिन्दू सन्यासियों की शिक्षा, जिसने भारत के सूफ़ीवाद को भी प्रभावित किया था, के कुछ विचारों को संशोधित किया। सूफ़ी लोग कई सम्प्रदायों में, जिन पर अगले अध्याय में प्रकाश डाला जायगा, विभाजित हो गए थे। यहाँ पर अब हम सूफ़ीवाद के मुख्य–मुख्य सिद्धान्तों पर विचार करेंगे।

सूफ़ीवाद भक्ति और ईश्वर से सम्बन्धित है। यह 'वाद' पूजापाठों के धर्म के विरुद्ध प्राकृतिक विद्रोह है। स्वभावतः, ईश्वर में मिल जाने की इसकी भावना के कारण इस मत का भारत में प्रचार हो गया। संक्षेप में सूफियों के ये विश्वास थे। ईश्वर ने अपने समस्त पुत्रों और सेवकों को उसी में मिल जाने की क्षमता दी है। यह क्षमता शक्तिशाली

है और हम लोगों में छिपी हुई है। इस क्षमता को एक पथ प्रदर्शक, जो ईश्वरीय स्पर्श एवं ज्योति के द्वारा प्रबुद्ध हो गया हो और जिसमें ईश्वरीय रहस्यों को लोगों के सम्मुख प्रकट करने की योग्यता हो, की सहायता से विकसित किया जा सकता है। इन आध्यात्मिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए विभिन्न प्रबुद्ध आत्माएँ इस संसार में आयी हैं और उन्होंने कई आश्चर्यजनक कार्य (करामात) किये हैं। इन महापुरुषों ने, ईश्वर मे मिल जाने (वसी) की प्रणाली (तरीका) के अपने व्यावहारिक अनुभव से, प्रगति के चरणों (मुक़ामात) की व्याख्या की है और उन सब लोगों के निर्देशन के लिए नियम निर्धारित कर दिए हैं जो ईश्वर और उसके "साधुओं" (वली) से निकटतम घनिष्ट होकर रहना चाहते हैं। आध्यात्मिक पथप्रदर्शक को "मुर्शिद", पीर, "शेख" कहा जाता है और इनके शिष्य "मुरीद" कहे जाते हैं। शिष्य बनने के लिए विभिन्न समारोह निश्चित कर दिए गए हैं। शिष्य बनने के बाद वह "सालिक" (पथ का यात्री) हो जाता है और उसे तब तक अपने "मुर्शिद" की आज्ञा पर चलने के अतिरिक्त 'धिक्र' के कर्मकाण्ड करने पड़ते हैं और निर्धारित नियमों का पालन करना पड़ता है जब तक वह प्रबुद्ध (खतरत) नहीं हो जाता। "नासूत", "मलाकूत", "जबारूत" और लाहूत आदि प्रबुद्धता के कई चरण हैं। "नासूत" की अवस्था में इस्लाम के नियम पथप्रदर्शक रहते हैं "मलाकूत" की स्थित में मनुष्य फरिश्ता का रूप धारण कर लेता है और पवित्र हो जाता है, "जबारूत" की दशा में शक्तियों का अवतरण होता है और "लाहूत" की अवस्था में मनुष्य पूर्ण सत्य को जान जाता है और दैवत्व में मिल जाता है। इन चरणों को पार करने के लिए जो धार्मिक आचार-व्यवहार (कर्मकान्ड) हैं उनका बड़ा महत्व है। "धिक्र" ऐसा कर्मकांड है जिसमें अल्लाह को स्मरण करते रहना पड़ता है और उसे अपने मस्तिष्क में लाना पड़ता है। उसके नाम का बार-बार जाप करना पड़ता है और अन्य विचारों को दबाया जाता है। आगे चलकर शिष्य "मुरीद अपनी आँखों और ओठों को बन्द कर लेता है और श्वांस-प्रश्वांस पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। जब श्वाँस बाहर निकलती है तब वह ला अल्लाह कहता है और जब श्वाँस अन्दर जाती है तब वह इल्ला अल्लाह कहता है। वह सर्वेव यही करता रहता है। आगे चलकर यह क्रिया अपने आप होती रहती है और उसे ऐसा करने के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। कभी-कभी ऐसा करने में वह परमानन्द में विलीन होकर संज्ञाहीन हो जाता है और अपनी चेतना

खो देता है । यह क्रिया सामूहिक रूप में भी की जा सकती है। "मुर्शिद" या "पीर" वंशानुगत होता है और उसके मुख्य निवास स्थान को "खनाक़ा" (मठ) कहा जाता है । यह खनाक़ा प्रायः प्रवर्तक-पीर की कब्र पर बनवाया जाता है। साधारणजन और मौलवी लोग दोनों ही इसके सदस्य होते हैं। मौलवी-सदस्यों में से कुछ लोग ऐसे होते हैं जो देश भर में धन (दान) संग्रह करते हैं और कुछ लोग धर्म-व्यवस्था के लिए क्षेत्रों (हल्कों) में बँटे रहते हैं । इनमें से लोग हमेशा मठ में रहते हैं उनकी, आध्यात्मिक विकास के अनुसार, कई श्रेणियाँ होती हैं । भारतीय मुसलमानों के धार्मिक जीवन पर इन व्यवस्थाओं का व्यापक प्रभाव है ।

भारत के सूफियों में धार्मिक कट्टरता या रूढ़िवादिता नहीं थी। उन्होंने अपने मत में कई भारतीय कर्मकांडों एवं सिद्धांतों को सम्मिलित कर लिया था । वे सादगी, दयालुता, प्रेम के साथ आडम्बररहित होकर हिन्दुओं से मिले थे और उन्होंने उनकी भाषा में अपने मत को प्रचारित करने का प्रयास किया था। इन्होंने भक्ति-आन्दोलन को रहस्यपूर्ण और दैवी प्रेम के अपने अनुभव प्रदान किए तथा उसमें अपने विभिन्न आचार-व्यवहार दिए । उनके प्रेम विभिन्न प्रकार के थे जैसे पति के लिए पत्नी का प्रेम, प्रेमी के लिए प्रेमिका का प्रेम, मालिक के लिए नौकर का प्रेम आदि। वियोग-व्यथा को बलपूर्वक प्रकट किया जाता था और यह ईश्वर के प्रति अगाध प्रेम का लक्षण था । बाद में मनुष्य और ईश्वर दोनों एकरूपी मान लिए गए । परन्तु इस सिद्धांत तक बहुत थोड़े लोग पहुँच पाए । इस्लाम के सिद्धांतों के अनुकूल ईश्वर और मनुष्य के अलगाव की व्यवस्था रखी गयी थी ।

जहाँ तक जनता के नैतिक जीवन का संबंध है, वह धर्म, प्रेम और ईश्वरभक्ति से प्रभावित था । विश्वासपात्रता और दान सराहनीय थे । लोग बहुत विश्वासी और दानी थे। उनमें शिष्टता एवं नम्रता थी और उनमें सेवाभाव था । परन्तु साधारण जनता की भाँति उच्चवर्ग (अमीरों) के लोगों में नैतिकता नहीं थी। वे अत्यधिक विलासी एवं इन्द्रियलोलुप थे । जुआ खेलना, शराब पीना, अप्राकृतिक प्रेम आदि उनकी दिनचर्या हो गई थी। वे बादशाहों तथा उलेमाओं के पद चिन्हों पर चलते थे और विपथ एवं पथभ्रष्ट हो गए थे।

अमीर खुसरो के अनुसार उलेमा वर्ग में केवल पाखंड, कपट, मिथ्याभिमान और मिथ्याडंबर था। बलबन ने उलेमाओं में सत्यता एवं साहस के अभाव की शिक़ायत की थी। जनता में धर्म के प्रति अगाध प्रेम और सूफीवाद जैसे भक्ति-मतों का विकास, इस काल की यही दो विशेषताएँ थीं।

सुल्तान-काल के धार्मिक जीवन में उपर्युक्त मुख्य विशेषताएँ थीं। मुग़लों की नीति पर अगले अध्याय में विचार किया गया है इसलिए यहाँ उस पर कुछ प्रकाश डालना अनावश्यक है। स काल में सहिष्णुता का जो भाव विकसित हो रहा था अकबर के काल में उसमें और भी वृद्धि हो गई। अबुल फज़ल ने "आइने अकबरी" में लिखा है कि अकबर ने हिन्दुओं और मुसलमानों के मतभेदों के कारणों को सूचीबद्ध किया था और उसने अपने समस्त अधिकारियों को इन कारणों का उन्मूलन करने का आदेश दिया था। अकबर ने हिन्दुओं और मुसलमानों के मतभेद की निम्नलिखित सूची तैयार की थी:—

१—भाषाओं की विभिन्नता और पारस्परिक व्यवहार में उल्टी समझ
२—वह दूरी जिसमे दोनों सम्प्रदायों के विद्वानों को पृथक रखा था।
३—मानवता का शारीरिक सुख में लिप्त हो जाना और दूसरे की प्रशंसा सुनने की अनिच्छा।
४—अभिमान, एक दूसरे को न समझने की इच्छा
५—कठोर प्रथाएँ और ज्ञान की कमी।
६—शत्रुता-भाव की वृद्धि और सताने की मनोवृत्ति। एक दूसरे को समझने की असंभावना।
७—सिद्धांतहीन दुष्टों की वृद्धि।

(आइने अक़बरी-वालूम ।।।, पृष्ठ २४)

अस्तु, अकबर ने दोनों सम्प्रदायों में सामंजस्य लाने का प्रयास किया। उसने साम्प्रदायिकता को नहीं वरन् तर्क को प्रथम स्थान दिया और इस प्रकार अकबर ने मध्यकालीन भारत में राष्ट्रीय एवं धर्म निरपेक्ष राज्य की नींव डाली। उसके उत्तराधिकारियों ने उसका अनुकरण किया। औरंगज़ेब इस मार्ग से हट गया जिसके परिणाम प्रसिद्ध हैं और उनका विस्तृत वर्णन यहाँ आवश्यक नहीं है। मुल्ला वर्ग

को कम महत्व दिया गया। सूफ़ीमत जैसे भक्ति-आन्दोलनों को प्रोत्साहन दिया गया और जनता के नैतिक स्तर को ऊँचा किया गया। सम्राट अकबर ने सामान्य धर्म की योजना प्रचलित की और अपने नैतिक जीवन को नियमित किया। धार्मिक क्षेत्र में मुग़लों का योगदान भारतीय इतिहास का स्थायी स्मारक है।

साहित्य

साहित्य के क्षेत्र में तीन महत्वपूर्ण विकास हुए। इस काल में फारसी साहित्य का जन्म व प्रचलन हुआ। इसमें स्वदेशी साहित्य की उन्नति हुई और धर्मनिरपेक्ष लेखों (गद्य में) की नींव डाली गई और उनकी वृद्धि हुई। इनमें ऐतिहासिक साहित्य एवं कथाओं का प्रभुत्व था। वास्तव में, साहित्य के ऐतिहासिक स्वरूप की उन्नति से भारतीय संस्कृति और उर्वरा हुई। यह मुसलमानों का ही योगदान था। सुल्तान लोग विजय-युद्धों में व्यस्त रहते थे परन्तु उन्होंने कला एवं विज्ञान की पूर्णतः उपेक्षा नहीं की थी। वे विद्वानों को संरक्षण देते थे। एशिया के कई भागों की स्थिति अव्यवस्थित थी और वहाँ के लोग भारत में आकर बस गए थे। यहाँ उनका अच्छा स्वागत हुआ था। इस प्रकार भारतवर्ष फारसी साहित्य का केन्द्र हो गया। दिल्ली विद्वानों और कलाकारों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय गृह हो गया। सार्वजनिक शिक्षा के लिए किसी भी मध्यकालीन सरकार में कोई नियमित विभाग नहीं था, परन्तु मुस्लिम भारत में ही एक ऐसा विभाग था जो धार्मिक एवं शैक्षिक संस्थाओं की देख रेख करता था। इसके फलस्वरूप विद्यालयों तथा महाविद्यालयों (Schools and Colleges) की नींव डाली गयी तथा पुस्तकालयों एवं साहित्यिक संस्थाओं की स्थापना की गई और विद्वानों को संरक्षण प्राप्त हुआ।

व्यक्तिगत रूप में अध्यापक लोग अपने घरों पर छात्रों को, उनसे कुछ धन लेकर, शिक्षा प्रदान किया करते थे। इसके अतिरिक्त तीन प्रकार की शैक्षिक संस्थाएँ थीं—प्रारंभिक, माध्यमिक एवं विश्वविद्यालय। गावों और नगरों दोनों ही में मक़तब (प्रारंभिक विद्यालय) और मदरसा (माध्यमिक विद्यालय) होते थे। मुख्य-मुख्य नगरों में विश्वविद्यालय थे। मस्जिद और ख़नक़ा (मुस्लिम फकीरों के मठ) भी प्राय: आध्यात्मिक एवं लौकिक विद्यादान के केन्द्र का काम करते थे। यहाँ लोगों को

धर्म के मूल तत्व से अवगत कराने के अतिरिक्त पढ़ना, लिखना और गणित भी सिखाया जाता था। लड़कियों को भी शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था एवं सुविधा थी। दिल्ली, जालंधर, फिरोज़ाबाद, जौनपुर आदि विश्वविद्यालय के केन्द्र थे। बलबन के सबसे बड़े लड़के शाहज़ादा मुहम्मद ने सर्वप्रथम साहित्यिक संस्थाओं का संगठन प्रारम्भ किया था। ये संस्थाएँ साहित्यिक विचारविनिमय, कविता पाठ व श्रवण, संगीत तथा नाटक आदि मनोरंजनों की केन्द्र थीं। विद्वानों के उच्च विचारों को उनकी मृत्यु के बाद सुरक्षित रखने के लिए पुस्तकालय भी स्थापित कर दिए गए थे।

कला-कौशल (दस्तकारी) संबंधी शिक्षा कारखानों में दी जाती थी। कारखानों में नौसिखियों के रूप में लोगों को रखा जाता था और वे ही लोग दस्तकारी सीखते थे, कला-कौशल संबंधी शिक्षा की यही व्यवस्था थी। व्यापारी वर्गों ने अपने-अपने विद्यालय स्थापित कर रखे थे जहाँ व्यापारिक विषयों तथा हिसाब-किताब रखने (Accountancy) की शिक्षा दी जाती थी। इस काल में कला-कौशल विषयक शिक्षा कितनी उच्च कोटि की थी इसका द्योतक कला-कौशल में हुआ विकास है। शिक्षा में नैतिकता, अनुशासन तथा भक्ति पर जोर दिया जाता था। इस प्रकार सुल्तानों के काल की सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ थीं। इस काल में फारसी साहित्य का भी उत्थान हुआ। फारसी के प्रसिद्ध लेखकों में ख़ुसरो तथा शेख़ नज्मुद्दीन हसन, जो अमीर हसन देहलवी भी कहे जाते थे, उल्लेखनीय हैं। नज्मुद्दीन हसन दौलताबाद चले गए थे। वहीं पर सन् १३२४-२५ ई० में इनका देहान्त हो गया। ख़ुसरो सुन्दर और बहुत अधिक लिखने वाले लेखक थे। इनके लेख साँचे में ढले हुए होते थे। कहा जाता है कि इन्होंने ४ लाख सोरठे या दोहे लिखे थे। वे फारसी के भारतीय कवियों में निस्सन्देह सर्वश्रेष्ठ थे। "दीवान" तथा अन्यान्य असंख्य कविताओं के अतिरिक्त "क़िरानुस्सदैन" "मिफ़्तह-उल-फ़तह या फ़तह-उल-फ़तह" "नूर सियार" "ख़ज़ा-इन-उल फतह" "देवलरानी" ख़िज़्रख़ाँ" तथा "तुग़लकनामा" इनकी महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं इनकी अधिकांश रचनाएँ ऐतिहासिक हैं। उदाहरणार्थ, ख़ज़ा-इन-उल-फ़तह में सुल्तान अलाउद्दीन ख़िलजी के प्रथम १५ वर्षों का क्रमानुसार विवरण दिया गया है।

दरबार की प्रशंसा करने में उनके विचार बड़े पवित्र एवं ऊँचे होते हैं। जनता के बीच में वे साधारण रूप में आये हैं। कहीं-कहीं उनकी कविताओं

में अविकसित लोगों की अश्लीलता भी आ गई है। बलबन, जलालुद्दीन, अलाउद्दीन खिलजी, गयासुद्दीन तुगलक, इन चार बादशाहों के शासनकाल में वे जीवित रहे। अमीर हसन भी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कवि थे। अमीर खुसरो को छोड़कर अधिकांश लेखकों ने ईरान और अरब से अपनी विषय शैली तथा शब्दावली ली और इसलिए इनके योगदान का मूल्य सीमित है। साथ ही, सांस्कृतिक कार्य दरबारों तथा उच्च वर्ग (अमीरों) तक सीमित थे, जनता का इसमें कोई भाग नहीं था।

इसकाल की महत्वपूर्ण कथाओं एवं ऐतिहासिक लेखों में हसन निज़ामी की "ताजुल-मआसिर," मिहाजुद्दीन सिराज की "तबक़त--ई-नासिरी," ज़ियाउद्दीन बरानी की "तारीख--ई-फिरोज़शाही," शम्स-ई-सिराज अफीफ़ी की "तारीख-ई-फिरोज शाही," यहिया बिन अहमद की "तारीख ई० मुबारक-शाही" तथा इसामी की "फ़तह-अस-सलातीन" नामक पुस्तकें उल्लेखनीय हैं।

कहानियाँ, लोकगीत, व्यावहारिक कलाओं तथा संक्षिप्त कथाओं की भी पुस्तकें हैं। मुहम्मद औफ़ी की "जवामी-उलहिकाया," खुसरो की "मत्ला--उल-अनवर," यूसुफ गादा की "तफायत नसीह," "किताब-ई-नि'मात खाना-इ-नासिर शाही," "हिदायतुर्रमी," बरानी की "फ़तवा-इ-जहान्दारी" तथा याकूब करानी द्वारा प्रारम्भ की गई और फिरोज-तुगलक के आदेश से पूरी की गई "फिग़-इ-फिरोजशाही" नामक पुस्तकें उल्लेखनीय हैं। किताब--इ-निमात खाना-इ-नासिर शाही में पाक-विद्या तथा इत्र-तेल-फुलेल आदि बनाने की कला का वर्णन है। हिदायतुर्रमी में धनुर्विद्या है। फ़तवा-इ-जहान्दारी में राजाओं को राजनीतिक परामर्श दिया गया है। फिग-इ-फिरोजशाही नागरिक तथा धर्म सम्बन्धी कानूनों का सार-संग्रह है। इसमें सामाजिक इतिहास की झलक मिलती है। इस काल में कई यात्री भी आये थे। उन्होंने जो विवरण लिखे हैं वे इस काल के इतिहास पर अधिक प्रकाश डालते हैं। इन यात्रियों में मार्को पोलो, इब्न बतूता, माहयान, अब्दुर्रज्जाक़, कोन्टी, निकोटन और स्टीफेन्स, वर्थेमा, बर्बोसा, सिदीअली रईस आदि प्रमुख हैं। इब्न बतूता (१३२५-१३५४) का विवरण सबसे अधिक पूर्ण और विद्वतापूर्ण है। इसका विवरण भारत के जीवित चित्र के सदृश है। इसने भारत में ही शादी की थी और यहीं उसकी सन्तानें भी हुई थीं। इसने यहाँ राजकीय (सरकारी) नौकरी कर ली थी। वह अद्भुत बातों में विश्वास करता था और उसे कई गलत फहमियाँ

हो गई थीं और इसने कई गलत मत प्रस्तुत किए हैं हमारे पास कुछ व्यक्तिगत एवं सरकारी पत्रों के संग्रह भी हैं जिनमें महमूद गवाँ का "रियाजुलइंशा" उल्लेखनीय है।

देशीय साहित्य का विकास, उर्दू का जन्म और संस्कृत साहित्य का उत्थान भी इसी काल में हुआ था। मध्यकाल सम्बन्धी अन्य दो अध्यायों में हम इन विकासों पर प्रकाश डाल चुके हैं। यहाँ देशी साहित्य के विकास के कुछ कारणों पर हम प्रकाश डाल रहे हैं। पहला कारण यह है कि हिन्दुओं में धर्म के पुनर्जीवन की जो माँग थी उसे तभी पूरा किया जा सकता था जब कि उनकी भाषाओं में, जिनका विकास 'अपभ्रंश' से शुरू हो गया था, जनता में प्रत्यक्ष प्रचार किया जाय। 'भक्ति' के धर्मोपदेशों ने इस विकास को आवश्यक कर दिया था। दूसरा कारण यह है कि जब मुस्लिम धर्म प्रचारक भारत में आये तब उन्होंने एक ऐसी भाषा की आवश्यकता को महसूस किया जिसमें वे सीधे जनता से बातचीत कर सकें। यही उर्दू और प्रांतीय भाषाओं में मुसलमानों के योगदान का मूल है। प्रांतों के मुसलमान शासकों (राजाओं) ने प्रांतीय भाषाओं में संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद को प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार, इस नवीन विकास का दूसरा कारण बादशाहों या राजाओं का संरक्षण था। यह संभव है कि मुग़ल काल में "विदेशी व्यापार का विकास" नामक एक आर्थिक कारण भी रहा हो। यूरोपीय व्यापारियों ने इस देश के अन्दर भी अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित किए, उन्होंने यहाँ के उत्पादकों तथा व्यापारियों से सम्पर्क स्थापित किया और उनसे उनकी भाषाओं में बातचीत करने की आवश्यकता को अनुभव किया। इसमें भी देशीय भाषाओं के विकास को बल दिया होगा। प्राँतों के शासकों ने अपने को केन्द्रीय सरकार से स्वतन्त्र घोषित कर दिया था। अपने इस कार्य के लिए जनता का समर्थन प्राप्त करने की आवश्यकता को उन्होंने महसूस किया और इसलिए उन्होंने जनता की साहित्यिक जागृति को प्रोत्साहन दिया। अकबर के शासनकाल में मौलिक हिन्दू कविता का जो उज्वल विकास हुआ उसका भी प्रभाव रहा। अकबर ने हिन्दू साहित्यकारों को भी अपना संरक्षण दिया था। अस्तु, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक कारणों ने मिलकर प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यकारों को जन्म दिया।

मुग़ल काल में साहित्य के क्षेत्र में जो विकास हुआ अब उसका अध्ययन किया जाय। इस क्षेत्र में भी अकबर का शासनकाल उन विभिन्न प्रवृत्तियों का केन्द्र है जो पूर्वकाल में पैदा हो रही थीं।

सर्वप्रथम शिक्षा में सुधार हुआ। आईने–अकबरी के लेखक अबुल-फ़ज़ल लिखते हैं कि प्रत्येक देश में, विशेषतः हिन्दुस्तान में बालकों को वर्षों तक पाठशाला में रखा जाता था जहाँ वे स्वर और व्यंजन (वर्णमाला) सीखते थे। कई अनुपयोगी पुस्तकों को पढ़ाने में विद्यार्थियों के जीवन का वृहत् भाग नष्ट किया जाता था। इसलिए सम्राट ने यह आदेश जारी कर दिया था कि पाठशाला के हर बच्चे को पहले वर्णमाला के अन्दर लिखना तथा उनके विभिन्न रूप सिखाया जाय। दो दिन में प्रत्येक अक्षर का नाम एवं आकार सिखाया जाय। इसके बाद संयुक्त अक्षर लिखना सिखाया जाय। बाद में कुछ चुने हुए गद्य एवं पद्य कंठस्थ कराये जायँ। सिखाने के बदले स्वयं सीखने का नियम रहे। अध्यापक लोग विशेषतः अक्षर-ज्ञान, शब्दों के अर्थ, अधूरी चौपाई छन्द तथा पूर्व–पाठ आदि पाँच बातों पर ध्यान रखें। प्रत्येक छात्र को नीति, गणित, अंक–लेखन, कृषि, नाप (क्षेत्रफल), रेखागणित, खगोल विद्या, मुख-लक्षण–निरूपण विद्या, घरेलू मामलों, शासन, औषधि-चिकित्सा, तर्कशास्त्र, संगीत, इतिहास, यंत्र-विद्या (कारीगरी) आदि विषय अवश्य पढ़ाये जायँ। धीरे–धीरे ये सब विषय पढ़ाने के प्रयत्न किये जायँ। अरबी और फारसी पढ़ाना अनिवार्य था।

प्रारंभिक पाठशाला (शिक्षा) के पाठ्यक्रम में कुरान की कुछ आयतों (पाँच कलमों) का कन्ठस्थ करना अनिवार्य था। लकड़ी की पट्टियों पर वर्णमाला लिखने और पढ़ने का अभ्यास कराना, प्रारंभिक पुस्तक और "सादी का करीमा" जैसी कुछ फारसी पुस्तकें पढ़ाना भी इस पाठ्य-क्रम में सम्मिलित था। माध्यमिक शिक्षा-संस्थाओं में प्रशासन–कला, गणित, बीजगणित, विज्ञान, हिसाब किताब, अर्थ शास्त्र, इतिहास, कानून, नीति, साहित्य और दर्शन पढ़ाया जाता था। परन्तु किसी विशेष विद्यालय में सभी विषय नहीं पढ़ाये जाते थे। अध्यापक वर्ग एवं प्रधान अध्यापक पर बहुत सी बातें निर्भर थीं। शिक्षा का लक्ष्य छात्रों की अप्रकट योग्यताओं को प्रकट करना, उनको अनुशासित बनाना, उनके चरित्र का निर्माण करना, तथा उनको जीवनयापन तथा व्यवसाय के लिए तैयार करना था। धर्म समस्त अध्ययन का मूल

था। प्रत्येक मदरसा में एक मस्जिद होती थी और प्रत्येक मस्जिद में पुस्तकालय के अतिरिक्त एक मक़तब होता था। अध्यापकों का बड़ा सम्मान था और उन्हीं में से न्यायाधिकारी और धर्म के मंत्री बनाए जाते थे। विश्वविद्यालयों में निवास का प्रबन्ध रहता था। शिक्षित करने वाली (उपदेशक की) व्यवस्था प्रचलित थी, शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी और छात्रवृत्तियाँ (वजीफ़े) दी जाती थीं। विद्यालयों एवं महाविद्यालय की सुचारू व्यवस्था होती रहे, इसके लिए उनमें सम्पत्ति (जागीरें) लगी रहती थी। जो अध्यापक जिस विषय का अध्यक्ष होता था वही उस विषय की परीक्षा लेता था। प्रमाण-पत्र, उपाधियाँ, एवं पदक दिए जाते थे। पढ़ने से जी चुराने वाले तथा आवारा एवं अनुपस्थित रहने वाले छात्रों कों शारीरिक दण्ड दिया जाता था। उन पर जुर्माना भी किया जाता था। इसी प्रकार की हिन्दू शिक्षा संस्थाएँ भी थीं। मुग़लकाल में शिक्षा-व्यवस्था में उपयुक्त सुधार हुए।

अकबर के शासनकाल के साहित्य को अनुवाद, इतिहास, चिठ्ठी-पत्री और कविताओं में वर्गीकृत किया जा सकता है। संस्कृत के अनेक ग्रन्थों के अनुवाद किए गए जिन पर हम अगले अध्याय में प्रकाश डालेंगे। इस काल के प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थों में मुल्ला दाऊद का "तारीख -इ-अल्फी," अबुल फ़जल का "आइने अक़बरी" तथा अक़बरनामा, 'बदोनी का" मुन्तखाब-उत-तवारीख़," निज़ामुद्दीन अहमद का "तबाक़ात-इ-अकबरी,' फ़ैज़ी सरहिन्दी का "अकबरनामा" तथा अबुल बक़ी का "मआसिर-इ-रोहिनी" नामक ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। अबुल फ़ज़ल इस काल के सर्व श्रेष्ठ लेखक थे। ये विद्वान, कवि, लेखक, आलोचक और इतिहासज्ञ थे। इनकी आइने अक़बरी बहुत प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ एक कोष के रूप में है। इसमें जनता के जीवन के हर क्षेत्र का विवरण है और सभी प्रकार की उपयोगी सूचनाएँ हैं। इसमें शिक्षा मनोरंजन दोनों हैं। इसमें हमारे सामने पहली बार जनता के जीवन का चित्रण आता है। अबुल फ़ज़ल को आईने अकबरी को लिखने एवं उसमें दी गई सूचनाओं का संग्रह करने में बड़ा परिश्रम करना पड़ा था। परन्तु उन्होंने अकबर को मौलिकता एवं ज्ञान का सारा श्रेय देकर अनावश्यक पक्षपात किया है।

मुख्य-पत्र-संग्रहों में अबुल फ़ज़ल का पत्र-संग्रह उल्लेखनीय है।

मुग़लकाल में कबिता अपनी चरम सीमा पर जा पहुँची थी। बाबर और हुमायूँ कवि थे। अकबर ने भी इस परम्परा का निर्वाह किया। कवियों में फारसी राष्ट्र–कवि अबुल फ़ैज़ (फैज़ी), अब्दुरहीम' अब्दुल फ़तह, गिज़ाली, मुहम्मद हुसेन नाजरी, तथा शिराज के सैयद जमालुद्दीन उर्फ़ी के नाम उल्लेखनीय हैं। अबुल फ़ज़ल ने ७० से अधिक कविता रचनेवालों (कवियों) का वर्णन किया है। इनमें से कई कवियों ने अपवित्र वासना के लिए "प्रेम" शब्द का प्रयोग किया है।

जहाँगीर में अत्यधिक साहित्यिक रुचि थी। बाबर के "आत्म–चरित्र" (जीवनी) के बाद जहाँगीर के स्वलिखित "आत्म–चरित्र" का स्थान द्वितीय है। जहाँगीर के दरबार में ग़यास बेग, नक़ीब खाँ, मुतामिद खाँ नियामतुल्लाह, अबदुल हक़ देहलवी जैसे साहित्यिक रत्न रहते थे। इस काल में "मआसुर–इ–जहाँगीरी" जैसे कुछ ऐतिहासिक ग्रन्थ भी लिखे गए। शाहजहाँ कला व साहित्य को अत्यधिक संरक्षण देता था तथा वह इन पर अत्यधिक धन खर्च करता था। इस काल में लेखकों की दो भिन्न लेखन-शैलियाँ थी ; एक हिन्द–फारसी और दूसरी विशुद्ध फारसी। अबुल फ़ज़ल हिन्द–फारसी के प्रमुख प्रतिनिधि थे। इस काल में अब्दुल हमीद लाहौरी, मुहम्मद वारिस, चन्द्रभान, मुहम्मद सलीह आदि इस शैली के कई प्रति-निधि हुए। यह शैली भारतीय सिद्धांतों और विचारों को अपने में मिला रही थी। यह भड़कीली और प्रभावपूर्ण भी थी। फारसी शैली ने अमी-नए कज़वीनी, जलालुद्दीन तबातबाई जैसे लोगों को आकर्षित किया था। इस शासनकाल में कुछ विदेशी कवि भी आए थे। इन्होंने ग़ज़ल, क़सीदा, मसनवी, खुशामदी कविताएँ लिखी थीं। इनमें से प्रमुख कवियों में गिलानी, कलीम, क़दसी, सएब, रफी, मुनीर, ब्राह्मण (हिन्दू), हज़ीक़, ख़याली, माहिर आदि उल्लेखनीय हैं। ऐतिहासिक ग्रन्थों में अब्दुल हमीद लाहौरी का "पादशाहनामा," इनायत खाँ का "शाहजहाँनामा," तथा मुहम्मद सलीह का "अमल–ई–सलीह" उल्लेखनीय है। अन्य प्रकार के गद्य, शब्द-कोष, औषधि–चिकित्सा, व धर्म सम्बन्धी पुस्तकें, खगोल विद्या, गणित आदि विभिन्न विषयों की पुस्तकें भी लिखी गईं और संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद भी हुए। औरंगज़ेब की रुचि कविता में नहीं थी और ऐतिहासिक पुस्तकें तक गुप्त रूप से लिखी गई थीं। प्रसिद्ध ग्रन्थों में मिर्ज़ा मुहम्मद काज़िम की "आलमगीरनामा," ख़फ़ी खाँ की "मुन्तख़ाबुल लुबाब",

सुजानराय खत्री की "खुलासात-उत-तवारीख़", ईश्वरदास की "फतूहाते आलमगीरी" नामक पुस्तकें उल्लेखनीय हैं। दाराशिकोह ने फारसी में संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद को प्रोत्साहन दिया था।

इस काल में प्रान्तीय भाषा का सर्वाधिक विकास हुआ। इसलिए इसे हिन्दुस्तानी साहित्य का "सुवर्णयुग" कहा जा सकता है। हिन्दी भाषा व साहित्य अपने सर्वाधिक विकास के लिए सन्तों और कवियों की ऋणी है। बौद्धमत के मंत्रयान, वज्रयान तथा सिद्धों से लेकर अन्य अनेक सन्तों की लम्बी पंक्ति ने देशी भाषाओं के विकास में योगदान किया। इस काल में तुलसीदास, कबीर, सूरदास, सुन्दरदास, चिन्तामणि, कवीन्द्र आचार्य, केशवदास, मतिराम, भूषण, बिहारी, देव, पद्माकर, आलम, घनानन्द तथा अन्य महान् लेखक हुए। धर्म, वीरता, मानवीय प्रेम, राजा, की प्रशंसा आदि इन लेखकों के विषय थे। इनमें से कुछ पर हम अन्य दो अध्यायों में विचार कर चुके हैं। बंगाल में भी वैष्णव साहित्य का बहुत विकास हुआ और कृष्णदास, जयानन्द, त्रिलोचनदास तथा मुकुन्दराम जैसे अनेक लेखक हुए। साहित्यिक कार्यों में स्त्रियाँ भी भाग लेती थीं। "हुमाँयूनामा" की लेखिका गुलबदन बेगम (हुमाँयू की बहन), जहाँगीर की बेगम नूरजहाँ, शाहजहाँ की बेगम मुमताजमहल, औरंगजेब की बहन जहाँनारा और पुत्री जेबुन्निसा आदि साहित्यिक महिलाओं के नाम उल्लेखनीय हैं।

औरंगजेब की मृत्यु से साहित्यिक आन्दोलन बन्द नहीं हुआ परन्तु इसके बाद जो साहित्य बना उसमें साँस्कृतिक पतन स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यह साहित्य वासनापूर्ण है और इसमें वासना तथा स्त्रियों के आकार-प्रकार एवं उनकी वेशभूषा की प्रशंसा की गई है। शैली भी बिगड़ गई थी।

इस काल के साहित्यिक आन्दोलन का यह संक्षिप्त अन्वेषण है। यह अन्वेषण फारसी और देशी साहित्यों के विकास तथा उर्दू के जन्म का द्योतक है। इस अन्वेषण में यह भी प्रकट है कि इसकाल के बादशाह लोग साहित्य को कितना अधिक संरक्षण देते थे। यह भी उल्लेखनीय है कि मुग़ल काल में उर्दू का विकास हिन्दुस्तान के बजाय "दक्षिण" में अधिक हुआ। औरंगजेब के शासनकाल में हिन्दुस्तान में भी इसका विकास प्रारम्भ हुआ। अन्त में, फारसी साहित्य की एक प्रवृत्ति को स्पष्ट

कर देना आवश्यक है। इस साहित्य में सामाजिकता साधारण है। इन साहित्यिकों के लिए जीवन अनाकर्षक था। वे दरबारों के जीवन पर ही ध्यान देते थे और उसी में दिलचस्पी रखते थे। अधिक से अधिक इनकी रचनाओं का सम्बन्ध नगरों और कुछ धार्मिक विषयों से होता था। उनकी रुचि हिन्दू और मुसलमान दोनों जनता के जीवन में नहीं थी। इस साहित्य में राजकीय समाज और उसी समाज का साँचे में ढला हुआ वर्णन मिलता है। इसके विषय प्राय: भारत के बाहर से लिए गए हैं। यह कहना उचित ही है कि ऐसा साहित्य मध्यकालीन सामन्तवादी तथा रईसी जीवन का आवश्यक परिणाम था। ऐतिहासिक लेखों तथा गद्य-कथा के विकास में मुसलमानों में जो योगदान किये हैं उस पर अधिक जोर देना अनावश्यक है। अब हमइस काल की ललित कलाओं का वर्णन कर रहे हैं।

नृत्य संगीत

इस काल में "उत्तर" और "दक्षिण" दोनों में नृत्य की परम्परागत प्रणाली जारी रही। हाँ, "कथक" नामक एक नई प्रणाली का जन्म अवश्य हुआ। किन्तु इस कला का अनुकरण विशुद्ध सौन्दर्य ग्राही भावना से नहीं किया जाता था। नर्तकियों और वेश्याओं के पनप जाने से यह कला भ्रष्ट हो गई। बादशाहों और राजाओं ने या तो दुराचारिता को प्रोत्साहन दिया अथवा वे इस ओर से लापरवाह रहे। इसलिए यह कला पेशेवरों (भड़ुओं) तथा दरबारियों के हाथों में कैद हो गई। सुल्तानों और मुग़लों दोनों के शासन-कालों में यही स्थित रही।

किन्तु, भारत में, संगीत--कला इस काल में अपनी चरम सीमा पर थी। रूढ़िवादी (कट्टर) मुसलमानों को इस कला से प्रेम नहीं था परन्तु ईरान से सम्पर्क होने तथा सूफीमत (जिसमें धार्मिक भक्ति को नृत्य व संगीत में प्रकट किया जाता था) के विकास के कारण मुसलमानों ने भी संगीत--कला की क़द्र की। भारत में संगीत प्रेमी हिन्दुओं से सम्पर्क होने के कारण से भी भारतीय मुसलमानों में संगीत का और अधिक प्रचार हुआ।

सुल्तानों के पास संगीतज्ञों और संगीत यंत्र वादकों (गाने--बजाने वालों) के नियमित दल रहते थे। ख़ुसरो गायक तथा नर्तक दोनों थे। सुल्तान अलाउद्दीन के संगीत-प्रेम की द्योतक एक कहानी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि सुल्तान ने संगीत-कला में 'दक्षिण' को 'उत्तर' से अधिक विकसित पाया था और वह वहाँ से गायकों तथा गायिकाओं को दिल्ली ले आया

था। सुना जाता है कि सर्वश्रेष्ठ गायक गोपाल नायक भी दिल्ली लाये गये थे और एक संगीत-प्रतियोगिता हुई थी जिसमें उन्होंने भाग लिया था। कैप्टेन विलियर्ड ने "ट्रिटीज आन दि म्यूजिक आफ हिन्दुस्तान" नामक अपनी पुस्तक में इस प्रतियोगिता का इस प्रकार वर्णन किया है:—"जब गोपाल दिल्ली दरबार में पहुचे, उन्होंने कुछ गीत इतने सुन्दर ढंग से और इतनी शक्तिशाली और एकरूपी स्वर में गाया कि उनका कोई भी प्रतियोगी सामने नहीं आया। इस पर सुल्तान ने अमीर ख़ुसरो को अपने सिंहासन के नीचे छिपा दिया और उसने वहीं से अपरिचित संगीतज्ञ गोपाल का गाना सुना। ख़ुसरो ने गोपाल के गाने की शैली को याद कर लिया और दूसरे दिन उसी तर्ज़ पर उसने 'क़व्वाल' और 'तराना' गाया।" इस पर गोपाल चकित हो गए और वे धोखेबाजी से उचित सम्मान पाने से वंचित कर दिये गये। ख़ुसरो ने "क़व्वाली" तथा "जिलाफ", "सजगीरी" और "सरपर्द" जैसे कुछ रागों के अलावा सितार और तबला को भी प्रचलित किया। बलबन के पुत्र शाहजादा बोगरा खाँ ने एक नाटक-समिति की भी स्थापना की थी जिसके सदस्यों में संगीतज्ञ भी थे। जलालुद्दीन फिरोज़ खिलजी संगीतज्ञ थे और अपने सहचरों (अनुचरों) के साथ नृत्य भी करते थे। फिरोज़ तुग़लक भी संगीत के संरक्षक थे। प्रान्तों में भी इस कला की बहुत कद्र थी और इसका बड़ा सम्मान था और जौनपुर के हुसेन शाह शर्क़ी ने, कहा जाता है, "ख़याल" का आविष्कार किया था।

इसके अतिरिक्त राजा मानसिंह के समय (१४८६-१५१८) से ग्वालियर संगीत-कला प्रचलित हुई थी। कहा जाता है कि राजा मानसिंह की रानी संगीतज्ञ थी। सुना जाता है कि राजा ने भारतीय संगीत का समुचित रूप में वर्गीकरण करने के लिए संगीतज्ञों का एक सम्मेलन आयोजित किया था। इनके शासनकाल में नायक बख्शु प्रसिद्ध संगीतज्ञ थे जिनके ध्रुपदों का स्थान केवल तानसेन के बाद दूसरा था। राजा मानसिंह ध्रुपद संगीत के रचयिता माने जाते हैं। बैजू, भोनू, पाण्डवी तथा लोहंग इसकाल के अन्य प्रमुख संगीतज्ञ हैं। राजा मानसिंह के आदेश से संकलित संगीत के एक हिन्दी ग्रन्थ से "रागदर्पण" नामक एक पुस्तक फारसी में अनूदित की गई थी। इस प्रकार सुल्तान-काल में संगीत की भारी प्रगति हुई और मुस्लिम तथा भारतीय संगीत में समागम हुआ जिससे नए-नए राग और 'ध्रुपद' प्रचलित हुए।

मुग़ल लोग संगीत के भी संरक्षक थे उनके शासनकालों में यह कला अत्यधिक पूर्ण हुई। बाबर इसकला में निपुण था और हुमायूं ने "अहले मुराद" नामक समाज के एक वर्ग का वर्णन किया है जिसमें संगीतज्ञ और नर्तकगण थे। अकबर के शासनकाल में इस कला का भी बड़ा सम्मान था और यह खूब विकसित हुई। अकबर को इस कला का पर्याप्त ज्ञान था और वह संगीत तथा गानों में विशेष आनन्द लेता था। सन् १५६२ ई० में इसने रीवाँ के राजा रामचन्द्र से तानसेन को अपने दरबार में भेज देने का आदेश दिया था। तानसेन को समस्त संसार ने इस काल का सर्वश्रेष्ठ संगीतज्ञ मान लिया था। तानसेन या तन्ना मिश्र एक हिन्दू के लड़के थे। कहा जाता है कि इनके पिता ने इनको एक मुसलमान फकीर के पास छोड़ दिया था। कहा जाता है कि उस फकीर ने आर्शीवाद देते हुए इनका चुम्बन कर लिया था और इस प्रकार वे अपवित्र कर दिये गये थे। इसलिए वे मुसलमान हो गए थे। इनके गुरु सन्त हरिदास स्वामी थे। अक़बर के दरबार में ३० से अधिक संगीतज्ञ थे जो सात वर्गों में (सप्ताह के प्रत्येक दिन के लिए एक वर्ग) विभाजित थे। मालवा के बाज़ बहादुर इनमें से एक थे जो अद्वितीय गायक थे। लाल कलवन्त या मियाँ लाल ने अक़बर को हिन्दी गाना (स्वरों को वाणीयुक्त बनाना) सिखाया था। ईरानी (फारसी) और भारतीय संगीतज्ञों में रामदास, सुभान खाँ, दाऊद धारी तथा मियाँ नानक के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी काल में खान्देश में पुण्डरीक विट्ठल कर्नाटकी नामक प्रसिद्ध संगीतज्ञ थे। कहा जाता है कि इन्होंने भारतीय संगीत पर कई पुस्तकें लिखी थीं। उस्ताद दोस्त मुहम्मद, वहराम क़ुली और क़ासिक सरीखे कुछ प्रसिद्ध संगीत–यंत्र–वादक भी थे। अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना इस कला के उदार संरक्षक थे। कहा जाता है कि हरिदास तथा रामदास के गानों पर प्रसन्न होकर इन्होंने उनको एक लाख रुपया पुरस्कार स्वरुप दिया था। जहाँगीर के शासनकाल में जहाँगीर दाद, ख़ुर्रम, दाद मखान तथा छत्तर खाँ प्रसिद्ध संगीतज्ञ थे। शाहजहाँ भी संगीत का संरक्षक था और उसके दरबार में रामदास, महापात्र, लाल खाँ, गुणसमुद्र तथा जगन्नाथ सरीखे प्रसिद्ध गायक रहते थे। सुखदेव प्रसिद्ध "रुबाब" (गिटार) वादक थे और सूरसेन प्रसिद्ध "बीन" (ज़िथार) वादक थे। शाहजहाँ नित्य स्त्रियों से भी गाना सुना करता था। औरंगज़ेब के शासनकाल में संगीत पर रोक लगा दी गई थी। और संगीतज्ञ लोगों ने इस पर संगीत की शवयात्रा निकाली थी। किन्तु बाद के शासनकालों में इस कला को पुनर्जीवन मिला और संगीत के कई

"घराने" (परिवार) प्रचलित हो गये। इस काल में यंत्र-संगीत का भी प्रचलन हुआ और सितार, तबला, रबाब सरीखे नए-नए संगीत-यंत्र प्रचलित किये गये। संगीत-यंत्र चार प्रकार के थे। एक तार वाले, दूसरे जो धनुष से बनाए जाते थे, तीसरे ढोल-नगाड़ा सरीखे यंत्र और चौथे वायु-यंत्र जो हवा से बजाये जाते थे। प्रथम प्रकार के वाद्य यंत्रों में वीणा, दिलरुबा मयूरी थे। पखावाज, तबला, नक्कारा, ढोलक और मृदंग तीसरे प्रकार के थे। 'बीन', बाँसुरी सरीखे यंत्र चौथे प्रकार के थे। संगीतचर्चा में दोनों सम्प्रदाय साथ आ गए जिससे राष्ट्रीय एकता पैदा हो गई।

निर्माण-कला

अब हम इस काल की निर्माण-कला का अध्ययन करेंगे। विभिन्न प्रकार की इमारतों की विशेषताओं और उनके स्वरूपों पर यहाँ नहीं विचार किया जायगा क्योंकि उन पर अगले अध्याय में प्रकाश डाला गया है। यहां कुछ सामान्य प्रश्नों पर प्रकाश डाला जा रहा है। प्रथम प्रश्न यह है कि मुस्लिम कला और हिन्दू कला में क्या सम्बन्ध था और किस प्रकार ये दोनों मिला दी गयीं। इस सम्बन्ध में हम यहाँ कुछअधिकारपूर्ण उक्तियों को उद्धृत कर रहे हैं। "नवीं शताब्दी के बग़दाद से चली आ रही उनकी परम्परा की मुख्य विशेषताएँ नुकीले मेहराब, गुम्बज, मीनार या स्तम्भ थीं। ये विशेषताएँ भारत में पहले से चली आ रही इसी की बनावट में मिल गई थीं। मुग़ल निर्माण-कला की विचित्रताओं का जन्म समरकन्द में हुआ था। मुग़ल चित्र-कला में यह समानता पाई जाती है।"[२] "यह और भी उल्लेखनीय है कि (ताज के) गुम्बज का स्वरूप विशेषतया भारतीय--पुरानी द्रविड़ तथा बौद्ध परम्परा का वंशज--है। और नीचे की बनावट हिन्दू पंचरत्न की बनावट के सदृश है। हिन्दू पंच रत्न में चार कलशों पर एक केन्द्रीय गुम्बज होता है। श्री हैवेल का यह कथन अतिशयोक्ति नहीं है कि भारत में मुस्लिम कला का विज्ञान और प्रेरणा हिन्दू शिल्पशास्त्रों से प्राप्त हुई थी।"[३] "भारत की मुस्लिम निर्माण-कला, अन्य देशों की मुस्लिम निर्माण-कलाओं की भाँति, मेसोपोटामिया की प्राचीन निर्माण-कला से निकली हुई है। अब्बास्सिद खलीफाओं के अधीनस्थ बग़दाद में प्रचलित निर्माण-कला से इसका निकटतम सम्बन्ध है।"[४] "हिन्दू-मुस्लिम निर्माण-कला (विशेषतः मस्जिदों और मन्दिरों) में महत्वपूर्ण सामान्य विशेषताएँ सजावट का ढंग और कई इमारतों के आंगनों के चारों ओर बने हुए खंभों की पंक्तियां हैं। परन्तु इन दोनों में अन्तर भी काफी थे।

मस्जिद में नमाज पढ़ने के मण्डप में काफी लम्बी–चौड़ी जगह होती है किन्तु मन्दिर में उससे छोटी जगह रहती है। मस्जिद खुला होता है और उसमें उजाला होता है परन्तु मन्दिर में अन्धेरा रहता है और वह बन्द सा होता है। मुस्लिम निर्माण–कला मेहराबों, गुफाओं और गुम्बजों पर आधारित थी और हिन्दू कला खम्बें, शहतीरों, और स्तूपाकार स्तम्भों या सकरे शिखरों पर आधारित थी।" ' अन्त में हम लेडेन विश्वविद्यालय, हालैंड, के डा० एच० गोएत्ज का वह मत उद्धृत कर रहे हैं जिसे उन्होंने सन् १९४२ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के क्षात्रों के समक्ष इसी विषय पर व्याख्यान देते हुए प्रकट किया था। "मुस्लिम काल में हिन्दू–कला के पतन की धारणा सही नहीं है। भारत की रचनात्मक भावना ने इस्लाम के सम्पर्क से प्राप्त नवीन प्रेरणाओं को अपने में मिला लिया, उनको भारतीय परम्परा में सम्मिलित कर लिया और फिर उन्हें मुस्लिम जगत को वापस दे दिया। इस जीवित हिन्दू परम्परा की उपस्थिति की प्रतिक्रिया मुस्लिम कला पर दो प्रकार से हुई। पहली प्रतिक्रिया उन तत्वों का मिश्रण है जो १५ वीं शताब्दी में बंगाल और गुजरात में इसकला के (मुसलमानों में) प्रचलित होने के कारण हिन्दू परम्परा के भंग होने तथा १६ वीं शताब्दी के राजपूतों में इसके नये पुनर्जन्म होने के फल-स्वरूप तैयार हुए थे। दूसरी प्रतिक्रिया यह हुई कि मुस्लिम निर्माण-कला ने धीरे–धीरे हिन्दू शिल्पकला का स्वरूप ले लिया। यह प्रतिक्रिया पहले तो १६ वीं शताब्दी में दक्षिण में हुई और बाद में १८ वीं शताब्दी में उत्तर में हुई।" इसी लेखक ने यह भी बताया है कि स्थानीय हिन्दू कला का गुजरात, मांडू और बाद में मुग़लकाल की मुस्लिम कला के साथ सम्पर्क होने के फलस्वरूप राजपूत निर्माण–कला का जन्म हुआ और बाद में इसका नया स्वरूप विकसित हुआ जो मुस्लिम कला से अधिक आकर्षक एवं आध्यात्मिक है। यह हिन्दू कला से भी अधिक सुन्दर थी। १६ वीं तथा १८ वीं शताब्दी में यह कला खूब पनपी हुई थी।

पूर्व–मुग़ल काल और मुगल काल की शैली में भिन्नता एवं सामंजस्य का एक अन्य प्रश्न है। फर्गुसन तथा कुछ अन्य लोगों का यह विश्वास है कि मुग़ल कला पूर्व काल की कला का परिवर्तित एवं विकसित रूप थी। यह परिवर्तन एवं विकास स्वाभाविक (प्राकृतिक) था। इन दोनों कलाओं में कोई अधिक भिन्नता नहीं थी। अन्य लोगों का मत है कि मुगल कला हिन्दू विचारों से पूर्वकालीन कला से अधिक प्रभावित थी और दोनों के

आकार–प्रकार तथा सामग्रियों में अन्तर था। यह भी बता देना उचि
है कि धर्म में सामंजस्य होने के कारण इन दोनों कलाओं के (मस्जि
समाधि तथा मीनार आदि इमारतों के निर्माण में) मौलिक रूप में भि
होने की आवश्यकता नहीं हुई। किन्तु इस बात को भी अस्वीकृत न
किया जा सकता कि हिन्दू–मुस्लिम समन्वय ने ही मुगलकाल की इमार
के आकार–प्रकार तथा निर्माण--सामग्रियों को प्रभावित किया था। कु
उदाहरण इसको स्पष्ट कर देंगे। अकबर को हिन्दू ढंग की बनावट अत्य
अधिक प्रिय थी। इसलिए उसने हिन्दू ढंग की सजावट को अपनाया अं
उसके दीर्घ शासनकाल (१५५६--१६०५) में बनवाई गई इमारतों में
अनेक मुस्लिम के बजाय अधिक हिन्दू बनावट की हैं। आगरा के कि
का विख्यात जहाँगीरी महल इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इस महल
केन्द्रीय भवन, इसके चौकोर स्तम्भ, छोटे मेहराबों की पंक्तियाँ आ
हिन्दू ढंग की बनावट के हैं। फर्गुसन ने ठीक ही कहा है कि चित्त
या ग्वालियर में सभी इमारतें हिन्दू बनावट की हैं। अन्य जो इमार
हमें हिन्दू बनावट का स्मरण कराती हैं उनमें "दीवाने आम", पंचमह
सिकन्दरा स्थित अकबर की समाधि (मकबरा), आगरा स्थित इतिमाउद्दौ
की क़ब्र तथा फतेहपुर सीकरी स्थित जोधाबाई का राजमहल उल्लेखनी
हैं। मुग़ल निर्माण कला अपने पूर्वकाल की कला से अधिक भड़की
और श्रृंगार युक्त थी इसके प्रमाण स्वरूप कुछ अन्य उदाहरण भी प्रस्तु
किये जा सकते हैं। उदाहरण स्वरूप, मेहराबदार गुफा वाली हुमाँयू
कब्र की गुम्बज, इसके दालानों की अन्दरूनी बनावट तथा कब्र के अन्द
के कमरों की जटिल बनावट पूर्व–मुग़ल निर्माण–कला से पूर्णतः भिन्न थे
अक़बर के आगरा के क़िले तथा फ़तेहपुर सीकरी की इमारतों में न
शैली की मौलिकता एवं स्वच्छन्दता प्रकट है। अक़बर के मक़बरे
मीनारें भी पूर्व–मुग़ल कला से भिन्न हैं। शाहजहाँ के शासनकाल में अद्विती
सौन्दर्य एवं ठाठ--बाट की नए प्रकार की इमारतों का निर्माण प्रचलि
हुआ। इस काल की इमारतों में लाल पत्थर के स्थान पर सफ़ेद सं
मर्मर का उपयोग किया गया। मेहराब अत्यधिक घुमाव तथा पेंचदार
गये। उसका मकबरा (क़ब्र) दुगना हो गया और स्तम्भों का निचला भा
विस्तृत और ऊपरी भाग नोकदार हो गया और दुगने खंभों का निर्मा
प्रचलित हो गया। संगमर्मर पर कीमती पत्थरों से की गई पच्चीकार
और सुन्दर रंग बिरंगे फ़ूल--पत्तियों की मीनाकारी शाहजहाँ की कला
मुख्य विशेषता है। ताजमहल में ये सभी विशेषताएँ अंकित हैं। अस्

यह स्पष्ट है कि सुल्तान--कालीन इमारतों और मुगलकालीन इमारतों की बनावट, सजावट, ठाठ,--बाट, सौन्दर्य, निर्माण--सामग्री, चित्रकारी, मीनाकारी, चमक--दमक में अन्तर भी है। मुग़लकालीन इमारतों में सुल्तान--काल से अधिक ईरानी एवं हिन्दू तत्व हैं। विशेषतः शाहजहाँ के बाद के मुगलों की इमारतों में कुछ यूरोपीय प्रभाव भी देखा जाता है।

चित्र--कला

भारत के प्रारम्भिक मुसलमान बादशाहों ने इस कला पर उतना ध्यान नहीं दिया था या इसे उतना प्रोत्साहन नहीं दिया था जितना कि उन्होंने अन्य कला पर दिया था। इसका मुख्य कारण यह था कि मूर्ति--पूजा से इसका निकट सम्बन्ध होने के कारण इसको हेय माना जाता था। जिन हिन्दुओं ने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया था उन्होंने इसे फैलाया और मुग़ल इसे ईरान (फारस) से ले आए। केवल सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी ने अपने मुईज़ी के क़िले में चित्रकारी कराई थी।

बाबर अपने पूर्वजों (तैमूरी) के पुस्तकालय से इस कला के कुछ चुने हुए नमूने ले आया था। उसे बिहज़ाद और ईरान (फारस) स्थित अपने मदरसे (School) से भी प्रेरणा मिली थी। यह कला मुख्यतः मनुष्यों से सम्बन्धित और वीरतापूर्ण थे। इसमें युद्ध और विजय करने के दृश्यों और दिखावटी (नकली) लड़ाइयों के दृश्यों का प्रमुख स्थान था। इसमें प्रेम सम्बन्धी और गूढ़ विषय भी थे। हुमाँयू ईरान से नई फारसी (ईरानी) कला के दो प्रसिद्ध चित्रकारों को भारत में लाया था। अकबर के काल में इसका और अधिक विकास हुआ था। वह कहा करता था कि "मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि चित्रकार के पास, मानों, ईश्वर को पहचानने के अद्‌भुत साधन हैं; क्योंकि किसी भी वस्तु को, जिसमें जीवन है, चित्रित करने में अन्ततः उसे यह विश्वास हो जाता है कि वह अपनी कृतियों को व्यक्तित्व (जीवन) नहीं प्रदान कर सकता और इस प्रकार वह जीवनदाता ईश्वर के विषय में सोचने के लिए वाध्य हो जाता है।" अकबर ने एक राजकीय चित्रशाला (State Gallary) की स्थापना की थी जहाँ परस्पर प्रतिद्वन्द्विता करने के लिए दूर--दूर से चित्रकार आया करते थे। फतेहपुर सीकरी की इमारतों की पक्की दीवालों पर की चित्रकारी इस कला का शानदार और ज्वलन्त उदाहरण है। जहाँगीर "कलाकारों का राजा" और कला का अत्यन्त सूक्ष्म आलोचक था।

मुग़ल चित्र-कला में पुस्तकों के चित्र तथा छोटी चित्रावलियाँ भी हैं यह दरबारी तथा रईसी चित्रकला है तथा वास्तविकता से पूर्ण और प्रे सम्बन्धी है। यह पूर्णत: धर्मनिरपेक्ष तथा ग्राम्य भावना से बिल्कुल दू है। यह वैयक्तिक चरित्र तथा दरबारों के तड़क-भड़कदार जीवन सम्बन्धित है। अस्तु इसका मुख्य विषय चित्रों की सजावट, वास्तवि सादृश्य एवं सत्याभास रहा है। इस चित्रकला के तत्व बुख़ारा, समरक़न और चीन से लिए गए थे। कुछ ईरानी तथा यूरोपीय तत्व भी इस प्रविष्ट हो गए थे। इसका अपना निजी व्यक्तित्व है। इसमें चाँदनी पूर्ण दालान जैसी राजपूत कला की कुछ विशेषताएँ भी ले ली गई हैं मुग़ल चित्रकला की जड़ कभी गहरी नहीं जमी और यह दरबारों कं कृत्रिम उपज है। यही कारण है कि शाहजहाँ के बाद इसका पतन हं गया। फिर भी मुग़ल चित्रकला का ऐतिहासिक मूल्य है और इसम इस काल के अनेक दृश्य सुरक्षित हैं। (अगला अध्याय भी देखिए)

छोटे कला-कौशल

अब हम कुछ छोटे कला-कौशल (साधारण) का वर्णन करते हैं पुस्तकों पर सुनहली पट्टियाँ (किनारी) बनाने की कला भी थी और जिल्दें को सोने से सजाया जाता था। पुस्तकों में चित्रावलियाँ होती थीं। सुन्दर और अच्छी लिखावट की भी कला थी तथा इमारतों, मुद्रा तथा पुस्तकों में सुन्दर लिखावट रहती थी। नसीरुद्दीन, मुहम्मद तुग़लक और औरंगजेब इस कला में अत्यधिक निपुण थे। अबुल फ़ज़ल ने अक़बर के समय मं प्रचलित सुन्दर लिखावट के आठ तरीकों का वर्णन किया है।

अक़बर, जहाँगीर और शाहजहाँ के काल में लकड़ी तथा पत्थर पर की जाने वाली शृंगारयुक्त चित्रकारी अपने लावण्य की चरम सीमा पर पहुँच गई थी। इस चित्रकारी में सुन्दर लिखावट की सजावट, बादल, पेड़-पौधे, फूल, तितलियाँ, कीडे-मकोड़ों के चित्र होते थे। इस काल में दरवाज़ों पर बेल-बूटे की चित्रकारी, पच्चीकारी, मीनाकारी, जड़ाऊ काम तथा जाली काढ़ने की कलाएँ अत्यधिक पूर्ण थीं। अकबर के बाद जवाहरातों पर की जाने वाली पच्चीकारी का विकास हुआ। आभूषणों तथा बर्तनों को चमकीले बनाने तथा उन पर पच्चीकारी का भी काम होता था। मुग़लों में तड़क-भड़क और विलासिता का जो प्रेम था उससे पच्ची-कारी और आभूषण आदि बनाने की कला को पर्याप्त लाभ हुआ। कोहनूर

और मयूर सिंहासन (तख्त ताऊस) इस ठाठ-बाट के युग के प्रतीक हैं। कपड़ों पर फूल-पत्ती, बेल-बूटे काढ़ने की कला, भोजन बनाने की कला (पाक-विद्या) तथा बाग़वानी की कला भी अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। हैवेल के अनुसार भारतीय कला में मुग़लों का सबसे बड़ा योगदान बाग़वानी की कला है। कई उद्यान तो इस प्रकार के बनाए थे जिसमें शाही दरबार के योग्य स्थान था। मध्यकाल सम्बन्धी अन्य अध्यायों में चित्रकला और बाग़वानी के कई चरणों पर विचार किया गया है और, इसलिए, हम अब मुस्लिम ललित कलाओं के वर्णन को समाप्त करते हैं।

ऊपर हमने जो अध्ययन किया है उससे यह स्पष्ट है कि हमारी संस्कृति में मुसलमानों का योगदान मध्यकाल में अद्वितीय था। मुसलमान बड़ी-बड़ी इमारतों के निर्माता, संगीत में नवीन स्वरों के प्रणेता, नृत्य में नई गतियों के आविष्कारक तथा साहित्य में नई शैलियों के जन्मदाता थे। वे लोग ऐसी धार्मिक परम्परा के उत्तराधिकारी थे जो भारतीय सूफीवाद के रूप में विकसित हुई। मुसलमान चित्रकला की नवीन शैलियों के आविष्कारक तथा विरोधी धर्मों में समन्वय करने वाले थे। मुगलकाल ने निर्माण-कला तथा अन्य कलाओं से सम्बन्धित जो सम्पत्ति हमारे देश में छोड़ गया है उसमें तत्कालीन शासकों की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। परन्तु उनमें त्रुटियाँ और दोष भी थे। विशेषतः उन्होंने जनता के आर्थिक कल्याण के प्रश्न को उपेक्षित रक्खा था। परन्तु, यह दृष्टिकोण उस रूढ़िवादी काल का परिणाम था जब कि मनुष्य के मस्तिष्क परम्परागत निश्चित गति से काम करते थे और कोई दूसरा दृष्टिकोण, चाहे वह कितना ही हितकारी क्यों न हो, उस काल की भावना से भिन्न था। हम एडवर्डस तथा गैरेट द्वारा उद्धृत एक फ्रांसीसी महिला की निम्नांकित उक्ति से सहमत हैं:—

"उस पर निर्भर करिये, महाशय, ईश्वर मनुष्य को दण्ड देने के पूर्व दो बार सोचता है।"

हिन्दू-मुस्लिम साँस्कृतिक सामंजस्य क्यों नहीं पूरी तरह लाया जा सका इस पर कुछ रायें प्रकट करके हम इस अध्याय को समाप्त करेंगे। पहला कारण यह है कि इसकाल में इन दो धर्मों में सामंजस्य नहीं लाया गया। इस काल में बार-बार धार्मिक कट्टरता के विस्फोट होते रहे और साँस्कृतिक समन्वय को भारी आघात पहुँचते रहे। इन घावों के पूरने में कई दशाब्दियाँ लगी। दूसरा कारण यह है कि दोनों धर्मों के सामाजिक आचार-

व्यवहारों का संघर्ष हो गया। हिन्दुओं ने मुसलमानों के साथ भोजन करने या उनसे विवाह करने से इन्कार किया। मुसलमान भी कई ऐसी बातों पर डटे थे जो भारत के लिए विदेशी थीं। यदि वे चीनियों की भांति धर्म को छोड़कर अन्य सब बातों में भारतीय हो गये होते तो संभवतः पूर्ण सामंजस्य हो गया होता। जो हिन्दू मुसलमान हो गए थे वे आमतौर से निर्धन थे और उनमें हिन्दू उच्चवर्ग के प्रति घृणा की भावना थी। यह भावना भारतीय राजनीति में नासूर के समान बनी रही। साथ ही, मुसलमान मूर्तिपूजकों से सामंजस्य न कर सके। हिन्दुओं की जाति-प्रथा सामाजिक दृढ़ता के लिए सदा भयोत्पादक थी। मुसलमान भी इस बात को न भुला सके कि हम विजेता हैं और वे हिन्दुओं से घृणा करते थे। इस प्रकार इन दोनों सम्प्रदायों में लम्बी-चौड़ी खाई बनी रही और जब कभी राजनीतिक पक्षपात का प्रवेश हुआ यह और भी चौड़ी होती गई। आधुनिक काल में अंग्रेजों ने हमारे अन्दर छिपी हुई फूट की चिनगारियों को "फूट डालो और शासन करो" की नीति से प्रज्वलित कर दिया और विशेषतः मुसलमानों के उच्चवर्ग ने पाकिस्तान को जन्म देने के लिए इस स्थिति का फायदा उठाया।

अब, इसका इलाज क्या है ? हमारे पास इस समस्या के ऐसे हल हैं जिन्हें "वाह्य हल" कहा जा सकता है। साँस्कृतिक सादृश्य, सामान्य नाम भाषा और रस्म-रिवाज अपनाना, एक दूसरे के दुख-सुःख, मेला, उत्सव आदि में शामिल होना, सहभोज तथा अन्तर्जातीय विवाह आदि हल प्रस्तावित किए जाते हैं। मुसलमानों से प्राचीन काल के भारतीय इतिहास को अपना समझने तथा अतिरिक्त प्रदेश सम्बन्धी देशभक्ति या भावना को अपने हृदय में से निकाल देने के लिए कहा जाता है। परन्तु ये समस्त इलाज किये जा चुके हैं। इस सम्बन्ध में अकबर के प्रयास उल्लेखनीय हैं। अनेक भारतीय मुसलमानों ने अपने हिन्दू नाम तथा रस्म-रिवाज बनाए रक्खे थे और गाँवों में सामान्य मेला-उत्सव आदि होते थे। सहभोज शिक्षित वर्ग का एक फैशन हो गया है और और अन्तर्जातीय विवाह भी मान्य है। परन्तु, फिर भी, सामंजस्य नहीं हो सका। वास्तविकता यह है कि यदि सामंजस्य लाने में सफलता प्राप्त करना है तो मनोवैज्ञानिक या अध्यात्मिक स्तर पर इसके लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए। यदि ईश्वर-प्रेम में आत्माएँ एक हो जाती हैं तो वाह्य अन्तरों का कोई महत्व नहीं रह जाता। केवल उसी समय वास्तविक

सामंजस्य हो सकता है जबकि जीवन और मानवता के मूल्य गूढ़ अनूभूति और अध्यात्मिक आत्मपूर्णता के मूल्य एकरूपी हो जाएँ। अन्य सभी इलाज अस्थायी हैं और उनको असफलता ही मिलेगी।

१—"दि वायजेज आफ पी० डी० लावल"—पृष्ठ २४८–२४९।

२—"दि आर्ट्स एन्ड क्राफ्ट आफ इंडिया एन्ड सीलोन"—ए० के० कुमारस्वामी–पृष्ठ २१५–२१८।

३—आइबिड–पृष्ठ २२१

४—"मुग़ल रूल इन इंडिया"—एडवर्ड्स एन्ड गैरेट–पृष्ठ ३०२

५—"आर्कलाजी इन इंडिया"—भारत सरकार प्रकाशन–पृष्ठ १०९

चौदहवाँ अध्याय

हिन्दू-मुस्लिम सामञ्जस्य

पूर्व अध्यायों में यह बताया जा चुका है कि हर्ष के शासन के अन्त तक हिन्दू धर्म के सभी सांस्कृतिक अंग एक में मिल गए थे और उनमें सामञ्जस्य कर दिया गया था। बाद के काल में जो नया हिन्दू धर्म प्रचलित हुआ उसका बीजा रोपण भी प्राचीन अतीत में हुआ था। भिन्न-भिन्न सुधारकों ने केवल वेदों, उपनिषदों तथा वीरगाथाओं की पुनर्व्याख्या का ही दावा किया है। यह भी बताया जा चुका है कि शंकराचार्य के माया-दर्शन के कारण जनता में कुछ अन्य सान्सारिक दृष्टिकोण प्रविष्ट हो गए। भाग्य के भरोसे रहने की भावना बढ़ गयी, आत्मा और 'भूत' दोनों अलग-अलग कर दिए गए थे और भक्तिवाद के उदय के साथ ही जीवन के समस्त अंगों के प्रगतिशील विकास, जो प्राचीन मौर्य तथा गुप्त सभ्यताओं का विशिष्ट लक्षण था, का ह्रास हो गया था। प्राचीन भारत में अध्यात्मिकता की उन्नति का अर्थ यह नहीं था कि जीवन की आवश्यकताओं का त्याग कर दिया जाय। संसार और आत्मा दोनों ही ब्रह्म के थे। जिस काल में उपनिषदों, वीरगाथाओं एवं गीता का जन्म हुआ था उसी काल में साहित्य, कला तथा जीवन के अन्य अंगों में भी भारतीय प्रतिभा विकसित हुई थी। यहाँ तक कि हमने सांस्कृतिक उद्देश्यों के लिए (साँस्कृतिक शिष्टमण्डलों के रूप में) विदेशों की यात्राएँ भी की थीं और हम एशिया के विभिन्न भागों तथा अन्य निकटस्थ द्वीपों में गए थे, यद्यपि हमारे शिष्टमण्डलों की यात्राएँ आधुनिक साम्राज्यवादी साहसिक यात्राओं जैसी नहीं थीं।

किन्तु मध्यकाल में धीरे-धीरे हमने जीवन और आत्मा—तथा भूत-के समन्वय के दृष्टिकोण को समाप्त कर दिया था। सन्यास की भावना बढ़ गई थी, भक्ति का विकास हो गया था, कर्मकाण्ड बढ़ गये थे, जाति-प्रथा कठोर हो गई थी और विदेश--यात्राओं पर रोक लगा दी

गई थी। वाह्य संसार में जो विकास हो रहे थे उनसे हमारा सम्पर्क नहीं रह गया था। हमारे जोवन की गति बदल गयी थी और वह रचनात्मक के बजाय नियमित हो गया था। साहसपूर्ण कल्पना का स्थान रूढ़िवादिता ने ले लिया था। दूसरी ओर छठवीं शताब्दी से ११ वीं शताब्दी तक हम विदेशी आक्रमणों से सुरक्षित थे जिससे हमारा जीवन स्थिर हो गया था। इसके फलस्वरूप हम सरलता से उन आक्रमणों के शिकार हो गये जो उत्तर-पश्चिम से आये थे।

इसलिए, यदि साँस्कृतिक दृष्टि से मध्यकाल की प्राचीन काल से तुलना की जाय तो यह प्रकट है कि मध्यकाल ने जीवन के प्रति उतना गहन और समन्वयपूर्ण दृष्टिकोण हमें नहीं दिया जितना कि प्राचीनकाल ने दिया था। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इस काल ने हमे संस्कृति के क्षेत्र में कोई नई या महत्वपूर्ण वस्तु नहीं दी। विशेषता, इस काल ने हिन्दू और इस्लामी दो संस्कृतियों की दृढ़ता और टक्कर को देखा था। इसके फल-स्वरूप एक नया ढाँचे-नवीन परिस्थिति-का जन्म हुआ था जिस पर अभी तक हमनें बहुत थोड़ा ध्यान दिया हैं। हमारी ऐतिहासिक पुस्तकों (विशेषतः अंग्रेजों द्वारा लिखित) ने इस विश्वास को सदैव दृढ़ बनाए रक्खा कि १३ वीं शताब्दी से आगे तक जिन रक्त पियासु शासकों ने भारत पर शासन किया उनकी विशेषताएँ लड़ाइयाँ, रक्तपात, अत्याचार तथा निरंकुशता आदि थी। परन्तु, अब यह ऐतिहासिक दृष्टिकोण बदल रहा है और मध्यकालीन भारतीय इतिहास की ओर अधिक पूर्ण व्याख्या प्रकट हो गई है।

इसलिए अब यह सब लोग स्वीकार करते है कि मध्यकाल में हिन्दू इस्लामी संस्कृतियों का बहुत बड़ा समागम हुआ। यह प्रभाव या समागम किस सीमा तक हुआ इस विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ लोगों का मत है कि नयी संस्कृति का हिन्दूधर्म पर मौलिक प्रभाव पड़ा और कुछ लोगों की यह धारणा है कि हिन्दू धर्म ने इस्लाम से बहुत अधिक नहीं लिया बल्कि इसके बदले उसने इस्लाम पर अपनी मुहर लगा दी। पहली धारणा डा० ताराचन्द्र सरीखे विद्वानों की है जिन्होंने यह लिखा है कि "न केवल हिन्दू धर्म, हिन्दू कला, हिन्दू साहित्य तथा हिन्दू विज्ञान ने ही मुस्लिम तत्वों को अपना लिया अपितु हिन्दू संस्कृति की भावना तथा हिन्दू मस्तिष्क की विचारधारा ही बदल गई।" [1] अन्य लोगों का मत है कि राजनीतिक दुर्बलता के बावजूद भी मध्यकालीन भारत में

इतनी अधिक सांस्कृतिक जीवन-शक्ति थी कि प्रसिद्ध बंगाली ऋषि चैतन्य की कहावत के अनुसार भारत उस वृक्ष के समान था जो अपनी ही डालों को काटने वाले तक को छाया देता है। इसी सम्बन्ध में ई० बी० हैवेल ने यह मत प्रकट किया है "इस्लाम ने भारत की राजनीतिक राजधानियों पर अधिकार कर लिया था, उसने भारत की सैनिक शक्तियों पर नियंत्रण कर लिया था, उसने भारत के राजस्व को नियंत्रित कर लिया था परन्तु फिर भी भारत ने अपने बौद्धिक साम्राज्य को बनाए रक्खा और उसकी आत्मा कभी भी पराधीन नहीं हुई।" वास्तव में भारत ने युद्ध क्षेत्र में जो खोया था उसे अध्यात्मिक अस्त्रों से पुनः जीत लिया था।

सत्यता यह है कि इन दोनों संस्कृतियों ने पूरे हृदय से कभी सामञ्जस्य नहीं किया। इस्लामी संस्कृति के द्वारा हिन्दू धर्म की गहरी नीवों में कोई रूपान्तर नहीं हुआ। दोनों के प्रभाव आत्मा के बजाय जीवन के वाह्य तत्वों पर अधिक पड़े। भारत की आत्मा पर विशेष प्रभाव नहीं हुआ। अकबर के पूर्व हिन्दू संस्कृति का इस्लामी संस्कृति पर या इस्लामी संस्कृति का हिन्दू संस्कृति पर जो प्रभाव पड़ा था वह अधिकांशतः परोक्ष रूप में नहीं था। यह प्रभाव अधिकांशतः नगरों या उच्चवर्ग तक ही सीमित था। और इस्लामी संस्कृति पर ही हिन्दू संस्कृति का अधिक प्रभाव पड़ा था। हिन्दू संस्कृति पर इस्लामी संस्कृति का इससे बहुत कम प्रभाव पड़ा।

फिर भी यह सत्य है कि एक संस्कृति ने दूसरी को बहुत प्रभावित किया और समन्वय के बहुत प्रयत्न हुए। इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। मुसलमान शासक सदैव युद्ध करने के इच्छुक नहीं रह सके इसके कारणों को समझना आसान है। पहला कारण यह है कि सैनिकों तथा सामरिक सामग्री के साधन सीमित होने के कारण वे इस विस्तृत देश को स्थायी रूप में कभी पराधीन नहीं कर सके। शान्ति और व्यवस्था क़ायम रखने के लिए उन्हें, इच्छा या अनिच्छा से, यहाँ की जनता की स्वीकृति प्राप्त करनी ही पड़ी। फिर, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रक्तपिपासा मानवमस्तिष्क का अनवरत गुण नहीं है। कुछ समय तक रक्तपात और युद्ध में उलझे रहने के बाद बादशाहों को शांतिपूर्ण जीवन की कलाओं की शरण लेनी ही पड़ी। भारत में इस्लाम का प्रसार तलवार से उतना अधिक नहीं हुआ जितना कि उसके सन्तों और विचारकों के प्रभाव से हुआ। इसके अलावा प्रशासन व्यवस्था में हिन्दुओं को स्थान देना या

उच्च पदों पर उनको नियुक्त करना उनके शासन के लिए आवश्यक था । जब कुतबुद्दीन ऐबक ने हिन्दुस्तान में रहने का निश्चय किया तब उसके लिए हिन्दू कर्मचारियों को, जो नागरिक शासन व्यवस्था से परिचित थे, उनके पदों पर बनाए रखने के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं था, क्यों कि बिना इसके शासन की पूरी व्यवस्था में अराजकता आ जाती । मुसलमान अपने साथ कारीगर, हिसाब किताब रखने वाले (मुनीम) और लिपिक (क्लर्क) नहीं लाये थे । उनको इमारतें हिन्दुओं द्वारा निर्मित की गई थीं, हिन्दू सुनार उनके सिक्के बनाते थे, ब्राह्मण विधानशास्त्री बादशाह को हिन्दू कानून संबंधी प्रशासन पर परामर्श देते थे तथा ब्राह्मण खगोल विशेषज्ञ उनको अन्य समारोहों को सम्पन्न करने में सहायता देते थे । इस प्रकार देश के आर्थिक ढाँचे ने सबसे अधिक ईर्ष्यालु और कट्टर बादशाहों तक को हिन्दुओं के प्रति उदार नीति गृहण करने को बाध्य कर दिया । कृषि और वाणिज्य हिन्दुओं के हाथों में ही बने रहे । नौकरशाही की निम्न श्रेणी की शासन-व्यवस्था में हिन्दुओं को रहना ही पड़ा । । इसके अतिरिक्त जिन लोगों ने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया था उनके पुराने रस्म-रिवाज वैसे ही बने रहे । इन समस्त तरीकों से हिन्दू धर्म ने मुसलमान शासकों को, कम या अधिक, हिन्दू समर्थक बनने के लिए बाध्य कर दिया था । हिन्दुओं को भी अपनी स्वतन्त्रता गवाने का दु:ख अवश्य हुआ होगा । हृदय-मन्थन करने पर उनको इस्लाम की अच्छी बातों को अवश्य अपनाना पड़ा होगा। इन समस्त कारणों से मध्यकाल में इन दोनों का समन्वय प्रारम्भ हो गया था । यह समन्वय संभवतः पूरा हो जाता परन्तु भारत में यूरोपवासियों के आगमन के कारण ऐसा नहीं हो सका । इसलिए इस काल में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच जो समन्वय हुआ उसे भूलकर उनमें मतभेद और संघर्ष के इतिहास पर जोर देते रहना गलत है । इसके अतिरिक्त यह भी सन्दिग्ध है कि मुसलमानों का कोई आक्रमण बिल्कुल धार्मिक था । उनके आक्रमण धार्मिक उद्देश्यों से नहीं बल्कि राज्य-विस्तार के तथा भौतिक उद्देश्यों से हुए थे । इन मुसलमान आक्रामकों को प्रायः उन मुसलमानों से भी लड़ना पड़ा जो भारत में बसे हुए थे । इसके अतिरिक्त भारत में कई स्वतंत्र मुस्लिम राज्य हो गये थे । वे न केवल एक दूसरे के विरुद्ध अपितु दिल्ली के केन्द्रीय मुस्लिम शासन के विरुद्ध भी लड़ रहे थे । हिन्दू दोनों ही पक्षों में थे । जब बाबर ने मेवाड़ के राणा सांगा से युद्ध किया था तब मेवाड़ के हसन खाँ और

सुल्तान महमूद लोदी ने राणा की सहायता की थी। सन् ११९३ और १५२६ के बीच सिंहासनारूढ़ होने वाले ३५ बादशाहों मे से कम से कम १९ या इन बादशाहों में से अधिकांश ऐसे थे जो हिन्दुओं द्वारा नहीं वरन् मुसलमानों द्वारा मार डाले गए थे। जहाँ औरंगजेब ने अपनी लड़ाइयों में हिन्दू सेनापतियों को नियुक्त किया था वही उसके हिन्दू प्रतिद्वन्दी शिवाजी की सेना में भी काफी संख्या में मुसलमान सैनिक अधिकारी थे। इनमें सेनापति सिद्दीहलाल और नूरखाँ सरीखे कुछ लोग महत्वपूर्ण पदों पर थे। शिवाजी के समुद्री बेड़े में भी सिद्दीसांबल, सिद्दीमिस्त्री और दौलतखाँ नामक तीन मुस्लिम जल सेनापति (एडमिरल) थे। इस प्रकार भारत में भारतीय-मुस्लिम शासन के ६०० वर्षों की अवधि में मुसलमान हिन्दुओं के बजाय मुसलमानों से ही अधिक लड़े। इसलिए यह गलत है कि वे देश के बहुसंख्यकों पर सदैव अत्याचार करते थे या उनको सताते रहते थे। उन्होंने इससे भी एक क़दम और आगे बढ़ाकर भारत में राष्ट्रीय राज्य की स्थापना की थी, कला और साहित्य को प्रोत्साहन दिया था और जिस समय यूरोप धर्म-युद्धों से नष्ट हो गया था उस समय भारत में उन्होंने सहिष्णुता की भावना पैदा की थी।

भारत में गुलामवंश की स्थापना से लेकर इन दो संस्कृतियों के प्रभावों का अध्ययन करना उचित होगा परन्तु इस्लामी तथा हिन्दू जनता के बीच इससे भी पहले समागम प्रारम्भ हो गया था। मलाबार में अरबी व्यापारियों के बस जाने का उल्लेख किया जा चुका है। एक अरबी नाविक ने खलीफा उमर को बताया था कि "भारत की नदियाँ मोती हैं, भारत के पर्वत पुखराज हैं तथा भारत के समस्त वृक्ष इत्र–तेल फुलेल हैं।" लोगों ने उमर से भारत पर आक्रमण करने की आज्ञा माँगी थी परन्तु उसने अस्वीकृत कर दिया था। नवीं शताब्दी में मलाबार के अन्तिम चेरामन पेरूमल राजा ने इस्लाम धर्म ग्रहण किया था। इसने अपने राज्य में मस्जिदें बनवाई थीं और त्रावणकोर के राजा अपने शपथ लेने के अवसर पर यह कहा करते थे कि "मैं इस तलवार को तब तक रखूँगा जब तक मेरे चाचा, जो मक्का गए हैं, वहाँ से वापस नहीं आ जाते।" यह वाक्य इस बात का स्मरण कराता है कि त्रावणकोर का कोई राजा मक्का गया था। मलाबार के जमोरिन अरबी व्यापारियों के संरक्षक हो गये थे। गुजरात में भी अरब के लोगों ने मस्जिदें बनवाई थीं और उनको वहां के राजाओं ने संरक्षण दिया था। सिन्ध में आक्रमण के प्रथम

तरंग के बाद प्रशासन की व्यवस्था की बागडोर हिन्दुओं के हाथों में छोड़ दी गयी थी और वे स्वतन्त्र रूप से अपनी पूजा पाठ करते थे। अरबी भूगोल शास्त्री अस्ताख़री ने दसवीं शताब्दी के मध्य में सिन्ध का भ्रमण करते हुए यह मत प्रकट किया था कि "हिन्दुओं और मुसलमानों का अपने सामाजिक समागम में अपने-अपने सामाजिक आचार-व्यवहारों (रस्म-रिवाजों) में समता लाने का प्रयास चल रहा था और दोनों का ही इस दिशा में रुझान था।" बग़दाद का अब्बासिद दरबार विद्या को संरक्षण देने के लिए प्रसिद्ध था। औषधि (चिकित्सा) विज्ञान तथा खगोल विद्या में हिन्दू विद्वानों ने जो अनुपम देन दिये थे उनकी बड़ी प्रशंसा करते हुए इस दरबार ने हिन्दू विद्वानों को आमंत्रित किया था। चिकित्सा-विज्ञान, दर्शन तथा धर्म एवं खगोल विद्या संबंधी ग्रन्थों के अरबी एवं फ़ारसी भाषाओं में अनुवाद कराये गये थे। विद्या के क्षेत्र में भारतीय-मुस्लिम बन्धुत्व के इतिहास में अलबरूनी की भारत-यात्रा उल्लेखनीय घटना है। अलबरूनी महमूद के समकालीन थे। इन्होंने भारत का एक इतिहास लिखा था जिसमें उन्होंने इस देश के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन का वर्णन किया है। अलबरूनी ने लिखा है कि "ईश्वर के संबंध में हिन्दुओं का यह विश्वास है कि वह एक है अनादि है, अनन्त है, वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा से कार्य करता है, सर्व शक्ति-शाली है, सर्व बुद्धिमान है, जीवित है, जीवन देता है, शासन करता है, रक्षा करता है, वह ऐसा है जिसकी सार्वभौमिकता अद्भुत है, वह इच्छा या अनिच्छा से परे है और वह किसी चीज से मिलता जुलता नहीं है और न कोई वस्तु उससे मिलती-जुलती है। "उन्होंने हिन्दुओं की प्रशंसा की है और उनकी त्रुटियों, उनके मिथ्याभिमान तथा आत्म-निर्भता की ओर भी संकेत किया है और यह विचार भी प्रकट किया है कि यदि भारतीयों ने विदेशयात्राएँ की होतीं तो वे इतने संकीर्ण विचार के न होते। इस समय कई मुसलमान सन्त और सूफ़ी लोग भी भारत आये थे और उन्होंने यहां अपने-अपने उपदेशों (मतों) का प्रचार किया था। उनकी ईश्वरभक्ति, उदारता तथा धार्मिक संयम का भी प्रभाव पड़ा था और इससे अनेक हिन्दू मुसलमान हो गये थे। उन्होंने हिन्दू दर्शन को प्रभावित किया था। और वे स्वयं हिन्दू दर्शन से प्रभावित हुए थे। भारत में सबसे पहले आकर बसने वाले सूफ़ी संभवत: अल-हुजवीरी थे जिनकी मृत्यु सन् १०७२ ई० में हो गयी थी। इस प्रकार भारतीय दर्शन अरबों और सूफ़ियों के द्वारा एशिया के अनेक

भागों में फ़ैल गया। भारत का वाह्य जगत् से पुनः सम्बन्ध स्थापित हो गया। इस प्रकार इस्लामी संस्कृति से भारत के सम्पर्क की कहानी बहुत पुरानी है परन्तु इस सम्पर्क का सुदृढ़ विकास भारत में भारतीय-मुस्लिम राज्यों की स्थापना से हुआ। इस साँस्कृतिक सम्पर्क का अध्ययन हम धर्म, कला, समाज, साहित्य और शिक्षा आदि शीर्षकों के अन्तर्गत कर रहे हैं। हम पहले सुल्तानकाल में हुई प्रगति का वर्णन करेंगे और बाद में मुग़लकाल में हुई प्रगति का।

धर्म

धर्म के क्षेत्र में इस साँस्कृतिक सम्पर्क के प्रथम परिणाम कबीर की धार्मिक कविताओं में पाये जाते हैं। कबीर रामानन्द के शिष्य थे। रामानंद दक्षिण और उत्तर के भक्ति–आन्दोलन के पुल माने जाते हैं। रामानंद का समय अब भी अनिश्चित है फिर भी यह कहा जा सकता है कि वे १४वीं शताब्दी में जीवित थे। वे पहले वैष्णव धर्म के रामानुज सम्प्रदाय में थे। परन्तु बनारस में विद्वान मुसलमानों के सम्पर्क में आने के बाद उन्होंने अपनी व्यवस्था को संशोधित किया और विष्णु के स्थान पर राम की पूजा प्रचलित की। उन्होंने समस्त जातियों एवं वर्गों के लिए अपने मत का द्वार खोल दिया। यहाँ तक कि मुसलमान भी उनके भक्ति–धर्म में सम्मिलित हो सकते थे। सहभोज संबंधी प्रतिबन्ध भी संशोधित किए गये। इनके उपदेश से 'रूढ़िवादी' और 'प्रगतिशील' दो विचार धाराओं का उदय हुआ। 'प्रगतिशील' विचारधारा ने ऐसे सिद्धाँतों को प्रचलित करने की चेष्टा की जिन्हें हिन्दू और मुसलमान दोनों ही स्वीकार कर सकते थे। १५वीं शताब्दी में कबीर इस प्रगति–शील विचारधारा के सर्वाधिक ज्वलन्त उदाहरण थे। इनका जीवन रहस्य के आवरण में छिपा हुआ है। इनके जन्म तथा मृत्यु की तिथि के संबंध में कुछ भी निश्चित नहीं है। कहा जाता है कि ये एक ब्राह्मण विधवा के पुत्र थे जिसने अपनी लज्जा छिपाने के लिए इन्हें बनारस के एक तालाब के किनारे छोड़ दिया था। यहाँ एक मुसलमान जुलाहे ने इन्हें पाया और उसने वहाँ से इन्हें अपने घर ले जाकर इनका पालन-पोषण किया। बनारस के धार्मिक वातावरण ने इनको अत्यधिक प्रभावित किया। आगे चलकर रामानंद इनके गुरु हो गये और उन्होंने इनको हिन्दू दर्शन और धर्म का ज्ञान कराया। कबीर सभी प्रकार के धार्मिक

सन्यासियों और सब धर्मों तथा वर्गों के सन्तों के साथ रहते थे। परन्
कबीर विद्वान या सुशिक्षित नहीं थे ।

कुछ समय बाद वे बनारस में जाकर बस गए लेकिन उनकी स्वतन्
विचारधारा के कारण हिन्दू और मुसलमान धर्मोपदेशक उनके शत्रु ब
गये और कबीर वहाँ से निर्वासित कर दिए गए । बाद में वे पुन
बनारस में वापस आकर बस गए । वे विवाहित थे और गृहस्थ जीव
में रहते थे । सन्यास में उनका विश्वास नहीं था । वे कपड़ा बुन
(जुलाहे) का काम भी करते थे । बस्ती और गोरखपुर के बीच रेल
लाइन पर स्थित मगहर नामक स्थान में उनका देहावसान हुआ था
इनके शव को प्राप्त करने का दावा हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों
किया था । यह उनके विचारों की व्यापकता का द्योतक है । कबी
का सन्देश या उपदेश क्या था ? उन्होंने हिन्दुओं के जातिभेद के साम
झुकना तथा ब्राह्मणवाद के कर्मकान्डों को मानना अस्वीकृत कर दिय
था । उनके लिए भक्ति या ईश्वर की उपासन सर्वोपरि वस्तु थी
उन्होंने हिन्दू धर्म और इस्लाम की उन बातों को अस्वीकृत किया थ
जो प्रेम और भ्रातृत्व के विरुद्ध थे वे अपने अनुयायियों में यही भावन
विकसित करना चाहते थे । उन्होंने अपनी विचारधारा दोनों धर्मों से ल
थी । और उनकी भाषा भी संस्कृत, फ़ारसी तथा रेख्ता एवं भाषा सरीख
देशी भाषाओं का मिश्रण थी । वे दिखावटीपन की निन्दा करते थ
और धर्म की आंतरिकता को बड़ा महत्व देते थे । वे पूजा-पाठ, कर्म-
कांड आदि वाह्याडंबरों के बजाय अन्तरात्मा तथा आत्मा में स्थित परमात्मा
के प्रति सच्चा होने को बड़ा महत्व देते थे । कबीर कहते हैं कि
"सत्यवादी बनो, प्राकृतिक बनो । केवल मात्र सत्य ही प्राकृतिक है
अपनी अन्तरात्मा में इस सत्य को ढूँढ़ो, क्योंकि वाह्य धार्मिक कर्मकांडों
सम्प्रदायों (मतों), पवित्र प्रतिज्ञाओं, धार्मिक वेशभूषा अथवा तीर्थयात्राओं
में सत्य नहीं है । सत्य अन्तरात्मा में रहता है और प्रेम, शक्ति तथ
दया में प्रकट होता है । घृणा पर विजय प्राप्त करो और समस्त मानव
जाति से प्रेम करो क्योंकि ईश्वर सबमें निवास करता है । केवल नामें
में अन्तर होने के कारण धर्मों में अन्तर है, सब जगह उसी एक ईश्व
की चाह है । हिन्दू और मुसलमान व्यर्थ क्यों लड़ते हैं ? जीवन नाश
वान है, अनित्य है, अपना समय नष्ट मत करो बल्कि ईश्वर की शरण
में जाओ । "कबीर निरर्थक इन्द्रियदमन (तपस्या) के पक्ष में नहीं थे

वे महान् कवि तथा महान् गायक थे। मध्यकालीन भारत के सभ
धार्मिक एवं बौद्धिक आन्दोलनों पर उनका प्रभाव पड़ा था। वे ईश्व
को विभिन्न नामों से सम्बोधित करते थे परन्तु "साहिब" उनका प्रियना
था। यहाँ उनके कुछ छन्दों को उद्धृत करते हैं—"ऐ गुलाम' तू मु
कहाँ ढूँढता है। मैं वास्तव में तेरे निकट हूँ मैं मन्दिर में नहीं हूं
मस्जिद में नहीं हूँ, काबा में नहीं हूँ और न कैलाश में हूँ। यदि
सच्चा खोज करने वाला है तो मैं तुझे तुरन्त एक क्षण की खोज में मिर
जाऊँगा। कबीर कहते हैं—ऐ साधू, वह श्वांस-प्रश्वाँस में है।"

इस प्रकार हिन्दू धर्म और इस्लाम में समन्वय करने का सर्वप्रथम
प्रयास कबीर का था। इनका प्रभाव–दूर दूर तक फैल गया था औ
देश भर में ऐसे कई सन्त हो गए थे जो विभिन्न रूपों और भाषाओं
में उन्हीं के उपदेशों का प्रचार करते थे। यहाँ यह भी उल्लेखनोय है
कि कबीर के उपदेशों में सूफीमत के कई तत्व थे और इसलिए सूफी
मत का यह आन्दोलन उस नए समन्वय का एक विशिष्ट अंग था
जिसके लिए प्रयत्न किए जा रहे थे। सूफ़ीमत के विषय में यहाँ कुछ
बातें उल्लेखनीय हैं। सूफीमत के वेदान्त का मूल मुहम्मद के अनुभव
तथा उपदेशों में था किन्तु इस मत के प्रमुख तत्व दो वाह्य स्रोतों से आये
थे। पहला स्रोत प्लेटों का नवीन मत था जो यवन दर्शन "ज्ञान मार्ग" के
द्वारा इस्लाम में प्रविष्ट हो गया था। दूसरा स्रोत भारतीय दर्शन
था जो बौद्ध धर्म और वेदान्त मत के द्वारा इस्लाम में
प्रविष्ट हो गया था। ईश्वर के विषय में सूफी विचारधारा इन्द्रियागम के
बजाय आन्तारिक थी। ईश्वर हर जगह विशेषतः मानव के आत्मा में कार्य
करता है। कई सूफी 'फना' नामक परमानन्द की स्थिति की कल्पना
करते हैं। इसमें और हिन्दू विश्वास में निकटतम सामंजस्य है। प्रबुद्ध
होंने तथा ईश्वर में मिलने के लिए कई चरणों भें विभाजित जीवन–मार्ग
से गुजरना आवश्यक है। ईश्वर से मिलने की स्थिति को "आहक" कहा
जाता है। कुछ लोगों के अनुसार तप के आधार पर ऐसे जीवन–मार्ग पर
चला जा सकता है और कुछ लोगों के अनुसार जीविकोपार्जन करने वाला
एक गृहस्थ भी इस जीवन–मार्ग पर चल सकता है। गुरु, (शेख, पीर या
मुर्शिद) की आज्ञा का पूर्णरूपेण पालन करना होगा। हमारे "योग" तथा
सूफियों के आचार–व्यवहार में बहुत अधिक सामंजस्य है। योग का उद्देश्य
भी यह अनुभव करना है कि ईश्वर ही एकमात्र सत्य है। सूफियों के
लिए सब धर्मों का मूल्य समान है।

कबीर के बाद जो अनेक मत प्रचलित हुए उनमें भी कबीर का प्रभाव पाया जाता है। "दि रिलीजियस क्वेस्ट आफ इन्डिया" (पृष्ठ ३३४) नामक अपनी पुस्तक में "फर्कुहर" ने ऐसे ११ मतों की सूची दी ह। इन मतों की सामान्य बातें निम्नलिखित हैं:—

(१) केवल ईश्वर की उपासना, मूर्ति पूजा का निषेध (२) सभी जाति के लोग एक समूह में मिल सकते हैं (३) हिन्दू और मुसलमान दोनों ही आर्कषित होते हैं और अनुयायी बनते हैं (४) गुरु के महत्व पर जोर (५) देशी भाषा में काव्य में साहित्य का होना।

दादू और नानक दो सन्त उल्लेखनीय हैं जिन्होंने कबीर के उपदेशों का प्रचार किया और उन्हे प्रचलित किया। दादू का जन्म सन् १५४४ ई० में 'नराना' या 'नारायण' (राजपूताना) में हुआ था। ये समस्त विरोधी मतों को प्रेम और बन्धुत्व के बन्धन के एक सूत्र में मिलाना चाहते थे और इसलिए इन्होंने परब्रह्म सम्प्रदाय की स्थापना की थी। इनका विश्वास धर्मशास्त्रों में नहीं वरन् "आत्मा को पहचानने" में था। इस "स्वानुभूति" को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपने को सभी भावनाओं से मुक्त होकर स्वयं को पवित्र बनाना और ईश्वर को अपने को पूर्ण समर्पित कर देना आवश्यक है। इनके अनुयायियों ने विभिन्न मतों के उन भक्ति विषयक लेखों का संकलन किया था जो ईश्वर-प्राप्ति में मनुष्य के सहायक समझे गये थे। दादू की प्रार्थनाएँ और कविताएँ ईश्वर-भक्ति तथा ईश्वर-प्रेम से परिपूर्ण है।

नानक सिख धर्म के प्रवर्तक हैं। इनका जन्म सन् १४६९ में गुजरांवाला जिले की शर्कपुर तहसील के लालवन्डी गाँव मे हुआ था। ये बेदी खत्री (जाति) थे। इनके पिता एक जमींदार के मुनीम थे। इन्होंने हिन्दी संस्कृत और फारसी सीखी थी। इनका विवाह ३० वर्ष की आयु में हो गया था परन्तु बाद में गृहस्थ जीवन त्याग कर फकीर या सन्यासी हो गये। कहा जाता है कि इन्होंने न केवल भारत-भ्रमण ही किया था अपितु ये अध्यात्मिक अनुभव प्राप्त करते हुए लंका, ईरान तथा अरब भी गये थे कबीर की भाँति इनके शव के लिए भी हिन्दुओं और मुसलमानों में वाद-विवाद हुआ था और हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों ने उनके स्मारक बनवाये थे।

इनका लक्ष्य हिन्दुओं और मुसलमानों को एक करना था। उनका यह उपदेश था कि "संसार में ईश्वर एक है दूसरा कोई नहीं, और नानक (ईश्वर–पुत्र) सच कहता है।" इनका ईश्वर सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु वह सबके अन्दर रहता है। नानक पूजा–पाठ या मूर्ति के रूप में ईश्वर–पूजा की चिन्ता नहीं करते थे। "हिन्दू और मुसलमान फकीर (सन्त) उस रक्षक (परवरदिगार) के दीवान हैं, पीर उसके सिकदार और करोड़ी हैं, तथा रिश्ते उसके मुनीम और खजांची (बोटेदार) हैं। अहदी इजराइल अज्ञानी तथा पशुवत् मनुष्यों को बाँध लेते हैं और गिरफ्तार कर लेते हैं और उनका ह्रास कर देते हैं।" नानक निम्न शब्दों में हिन्दू या मुसलमान सबके अंध विश्वासों तथा वाह्य डम्बरों का खण्डन करते हैं:—

"क्या अठारहों पुरान तेरे पास हैं,
क्या तू चारों वेदों का पाठ कर सकता है,
क्या तूने पवित्र दिनों पर स्नान किया है
और लोगों को जाति के अनुसार दान दिया है,
क्या तूने उपवास (व्रत) किया है और दिन--रात
धार्मिक कर्मकाण्ड सम्पन्न किये है।
क्या तू काजी या मुल्ला या शेख
या जोगी या जंगम था–क्या तूने रंगीन
वेश पहने थे या गृहस्थ के कर्तव्य
पूरे किये थे--बिना ईश्वर के जाने हुए,
मृत्यु सब मनुष्यों को ले जायगा।"
नानक मुसलमानों से कहते हैं:—
"तू दयालुता को अपना मस्जिद बना ले,
निष्कपटता को "नमाज का गलीचा" बना ले,
जो न्यायपूर्ण हो उसे अपना कुरान बना ले,
नम्रता को अपना सुन्नत बना ले,
शिष्टाचार को अपना व्रत (रोजा) बना ले,
इस प्रकार तू मुसलमान बन जायगा।"

नानक सदैव "पुण्य की प्रशंसा" और "पाप की निन्दा" इन दो विषयों पर जोर देते थे। उनके उपदेशों की पवित्रता तथा कठोर नैतिकता ने उनके अनुयायियों पर ऐसी मुहर लगा दी थी जिनसे कि वे औरंगजेब के लिए

कभी न टूटने वाले कठोर पत्थर सिद्ध हुए किन्तु दुर्भाग्यवश सिक्ख धर्म इस्लाम के, जिससे सिक्खधर्म के प्रवर्तक नानक अत्यधिक प्रेम था, कट्टर समर्थक औरंगज़ेब के साथ युद्धरत रहा।

कबीर के समकालीन एक अन्य सन्त रैदास थे जो जाति के चमार थे। इनका जन्म बनारस में हुआ था। कहा जाता है कि मीराबाई इनकी भक्त तथा शिष्या थीं। इनके भजनों में नम्रता तथा आत्मसमर्पण है। रैदास कहते थे कि "हरि सब में है और हरि में हैं।" इनके उपदेश थे कि "सब अहम्वाद तथा सब पूजा–पाठ को छोड़ दो, केवल उसी एक की आराधना करो, अपनी आत्मा को "उसमें" उसी प्रकार खो दो जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में अपने को खो देती हैं। "इनकी शिष्या मीराबाई भारत के भक्ति सम्बन्धी धार्मिक इतिहास में बहुत प्रसिद्ध हैं। मीरा का मेवाड़ के राणा कुम्भा के पुत्र के साथ विवाह हो गया था। मीरा के देवर ने इनके साथ अनुचित व्यवहार किया था और इसलिए उन्होंने सन्त रैदास की शिष्या होकर चित्तौड़ छोड़ दिया था। ब्रजभाषा में उनके राधा–कृष्ण से सम्बन्धित गीत बहुत प्रसिद्ध हैं। गुजराती में भी इनके असंख्य गीत हैं ये १५ वीं शताब्दी के द्वितीयार्ध में जीवित थीं।

हिन्दूधर्म और इस्लाम के एक दूसरे प्रभावित होने के फलस्वरूप बंगाल में भी अनेक समकालीन मत प्रचलित हो गये थे। हिन्दू लोग मुसलमानों के धार्मिक स्थानों (मस्जिद–क़ब्र–मकबरा) पर मिठाइयाँ चढ़ाते थे, क़ुरान पढ़ते थे और मुसलमानों के त्योहार मनाते थे तथा मुसलमान भी ऐसा ही करते थे। इस निकटतम बन्धुत्व के कारण सत्यपीर नामक ऐसे देवता की पूजा प्रचलित हो गयी जिसकी पूजा हिन्दू और मुसलमान समान रूप से करते थे। गौदा के सम्राट हुसेनशाह इस मत के प्रवर्तक माने जाते हैं। परन्तु चैतन्य ने जिस आन्दोलन का सूत्रपात किया उसमें इस सामंजस्य का सबसे अधिक प्रभाव जाता है। सन् १४८५ में नदिया में इनका जन्म हुआ था। इनके माता–पिता ब्राह्मण थे। बीस वर्ष की आयु में वे अध्यापक का कार्य करने लगे। परन्तु बाद में इस जीवन से पृथक होकर वे पर्यटक हो गए और उन्होंने सम्पूर्ण देश का पर्यटन किया। उनके उपदेशों का सार तत्व कृष्ण की आराधना और अपने गुरु की सेवा है। जाति के आधार पर बनी समस्त धार्मिक व्यवस्थाएँ निरर्थक हैं। इनकी "आराधना" प्रेम और भक्ति, गायन तथा नृत्य की थी जिससे उस

परमानन्द की स्थिति उत्पन्न हो जाय जिसमें "ईश्वर" के होने की अनुभूति हो जाय। वे अनुयायियों के लिए श्री गौरांग–सर्वोपरि देवता, हरि या भागवत के कृष्ण–हो गये थे और "उन्हीं" के समान वे रासलीला (परमानन्द की चरम सीमा) करते थे। उनके प्रमुख शिष्यों में तीन मुसलमान थे। उन्होंने यह शिक्षा दी थी कि विश्वव्यापी प्रेम विश्वधर्म की कुंजी है। उन्होंने अपना उदाहरण प्रस्तुत करके यह दिखा दिया था कि ईश्वर एक मनुष्य के द्वारा कैसे पहचाना जा सकता है। इस प्रकार चैतन्य उस महान् समन्वय के एक प्रमुख निर्माता थे जो मध्यकाल में किया गया था।

महाराष्ट्र में भी इस समन्वयात्मक रूप में भक्ति--आन्दोलन का प्रसार हो रहा था। वहाँ ज्ञानेश्वर से भक्ति–आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। ज्ञानेश्वर की गीता पर टिप्पणी बहुत प्रसिद्ध है। यह टिप्पणी सन् १२९० ई० में पूर्ण हुई थी। किन्तु महाराष्ट्र सन्तों की लम्बी सूची में नामदेव का नाम प्रथम और सबसे बड़ा है जो कर्मकाण्डों और संस्कारों से ऊपर उठ गये थे। किम्वदन्ती के अनुसार इनका जन्म सन् १२७० में हुआ था। नामदेव मूर्तिपूजा के विरोधी थे। वे कहते थे कि "व्रत, उपवास एवं तपस्या बिल्कुल आवश्यक नहीं हैं; और न तीर्थयात्रा करना ही आवश्यक है। अपने हृदय का मन्थन करो और सदा हरि के नाम के गीत गावो।" इनके अनुयायियों में मुसलमान और अछूत जाति के लोग थे।

इस धार्मिक सामंजस्य का एक अन्य साधन सूफी विचारधाराओं की धार्मिक व्यवस्थाएँ थीं। हिन्दू तथा मुसलमान दोनों सूफी सन्तों की पूजा करते थे। इसके फलस्वरूप सामान्य दृष्टिकोण तथा पूजा की सामान्य विधियों का प्रचलन हुआ। उनकी समाधियाँ (क़ब्रें) सब प्रकार के भक्तों के लिए तीर्थ स्थान हो गयी हैं। सूफी सन्तों की सबसे पुरानी व्यवस्था "चिश्ती" व्यवस्था है। इसकी स्थापना आबू अब्दल चिश्ती से हुई थी जिनकी मृत्यु सन् ९६६ ई० में हुयी थी। भारत में ख़्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती ने इस व्यवस्था को प्रचलित किया। इनका जन्म अफ-गानिस्तान में सन् ११४२ ई० में हुआ था। वे सन् ११९२ ई० में भारत में आये थे और सन् ११९५ में अजमेर जाकर उन्होंने वहाँ अपना प्रधान स्थान क़ायम किया था। सन् ११९५ में ही वहाँ उनकी मृत्यु हो गयी थी। उनकी समाधि ख़्वाजा साहब (अजमेर) के दरगाह के नाम से प्रसिद्ध है। ख़्वाजा साहब की मृत्यु की वार्षिकी के अवसर पर प्रतिवर्ष वहाँ पर

"उर्स" लगता है और मुसलमान तथा हिन्दुओं के आकर्षण का यह केन्द्र है। चिश्ती व्यवस्था के भारत में कई सन्त हुए जिनमें नाजिमुद्दीन औलिया (जिनका जन्म सन् १२३८ में हुआ था) तथा शेख सलीम चिश्ती प्रसिद्ध हैं। शेख सलीम की मृत्यु सन् १५७१ ई० में हुयी थी। मुग़ल सम्राटों पर चिश्ती व्यवस्था का अत्यधिक प्रभाव था। सुहरावर्दी, छत्तारी तथा क़ादिरी अन्य प्रसिद्ध धार्मिक व्यवस्थाएँ हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य असंख्य साधु या पीर हुए हैं जिनकी हिन्दू तथा मुसलमान दोनों पूजा करते हैं। एक मदारी व्यवस्था है जिसकी स्थापना शाह बदीउद्दीन कुत्बुलमदार ने की थी। कहा जाता है कि इन्होंने मकनदेव नामक एक हिन्दू भूत को उतारा था। इनका दरगाह मकनपुर (जिला कानपुर) में है जो हजारों मुसलमानों और हिन्दुओं का तीर्थ स्थान है तथा दोनों सम्प्रदायों के हजारों लोग वहाँ जाकर शाह की पूजा करते हैं। अस्तु, गुरु-चेला भक्ति की हिन्दू प्रथा के कारण सरलता से सन्त-पूजा मुस्लिम धार्मिक जीवन का एक निश्चित अंग बन गयी। इस्लाम मूर्तिपूजा का विरोधी रहा होगा परन्तु भारतीय वातावरण में उसे सन्त-पूजा, जिसमें हिन्दुओं में प्रचलित पूजा-पाठ की सभी प्रणालियाँ थीं को अपनाना पड़ा। "इंडियन इस्लाम" नामक अपनी पुस्तक में टाइटस ने कई हिन्दू-मुस्लिम सन्तों का वर्णन किया है। ऐसे ही एक सन्त गंगापीर थे जो हिन्दू से मुसलमान हो गये थे। उत्तर भारत के अनेक भागों में इनके भक्त तथा अनुयायी पाये जाते हैं। एक अन्य सन्त बेग हो गए हैं जिनकी पूजा मेहतर लोग करते हैं। पंजपीर नामक सन्तों के एक दल के अनुयायी भी भारत में हैं ख्वाजा खिद्र एक दूसरे सन्त हैं जिनकी पूजा जलते दीपों (चिरागों) से होती है और ये दीप बड़ेरियों या बेड़ों पर रखे जाते हैं।

किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि अकबर के पहले दिल्ली में जो मुसलमान बादशाह हुए उन्होंने धर्म के क्षेत्र में इस साँस्कृतिक सामंजस्य में बहुत थोड़ा योगदान किया। यह कार्य मुख्यतः सन्तों, विचारकों और सन्यासियों ने किया था। प्रान्तों के राजाओं में कई ऐसे थे जो हिन्दू धर्म और हिन्दू सन्तों का बड़ा सम्मान करते थे और इसलिए यह सामंजस्य केन्द्र के बजाय प्रान्तों में अधिक हुआ। ऐसे प्रातों में गुजरात, जौनपुर, मालवा, बंगाल तथा बहमनी राज्य उल्लेखनीय हैं। यहाँ पर हम प्रान्तों में हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

सन् १३४५ ई० में बंगाल स्वतंत्र हो गया था। कहा जाता है कि सन् १४१२ ई० में राजा गणेश नामक एक हिन्दू जमींदार ने बंगाल के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया था और उसका पुत्र मुसलमान हो गया था जिसने जलालुद्दीन के नाम से १९ वर्ष तक राज्य किया था। उसके मुसलमान अधिकारियों ने बिना किसी सन्देश के उसे स्वीकार किया था। उन लोगों ने उससे यहाँ तक कहा था कि उसके धर्म से उनको कोई चिन्ता नहीं है। इसलिए जो संस्कृति फैली वह अनिवार्यतः हिन्दू संस्कृति थी। बंगाल के मुसलमान राजाओं ने हिन्दू साधु-सन्तों को संरक्षण दिया और हिन्दू धर्म के ग्रन्थों को फारसी तथा बंगला भाषाओं में अनूदित कराया। साथ ही राजकीय संरक्षणों में सामान्य उपासना (पूजा-पाठ) प्रचलित हुई। और अकबर के पूर्व ही सत्यपरि नानक सन्त के हिन्दू और मुसलमान समान रूप से भक्त हुए। हुसेनशाह ने, जो सन् १४९३ में गद्दीनसीन हुए थे, हिन्दू-मुस्लिम सामंजस्य के लिए सब से अधिक प्रयत्न किया था।

शर्की राजवंश के आधीन जौमपुर प्रान्त संस्कृति का केन्द्र हो गया था। हैवेल के शब्दों में "यह कहा जाता है कि जौनपुर के मुस्लिम महाविद्यालयों ने १६ वीं शताब्दी के आरम्भ में वैष्णव धर्म को पुनर्जीवित करने के हेतु मार्ग प्रस्तुत करने में बड़ी सहायता होगी।

बहमनी राज्य में, मुसलमान राजाओं के राजस्व पर ब्राह्मणों का नियंत्रण था। फिरोजशाह ने, जो सन् १३९७ में सिंहासनारूढ़ हुए थे, हिन्दुओं को बहुत संरक्षण दिया। उसने दक्षिण के कई भागों की हिन्दू स्त्रियों से विवाह किया और धार्मिक कट्टरता को दूर करने का प्रयत्न किया।

१५ वीं शताब्दी के मध्य में गुजरात तथा मालवा ने भारतीय राजनीति में सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग लिया क्योंकि सुल्तानों के बुरे दिन आ गये थे। उनके कई राजा हिन्दू से मुसलमान हो गये थे। हिन्दू या अपने पड़ोसी मुसलमान राजाओं से युद्ध छोड़ कर उन्होंने धार्मिक साहिष्णुता की भावना को जीवित रखा। इसी प्रकार जैनुल आब्दीन के आधीन काश्मीर ने भी धार्मिक सहिष्णुता की परम्पराओं को कायम रखा। बीजापुर के इब्राहीम आदिलशाह को उनकी मुसलमान प्रजा "जगतगुरु" कहती थी क्योंकि वे अपनी हिन्दू प्रजा को पर्याप्त संरक्षण देते थे।

यहाँ तक हमने सुल्तान–काल के अन्त तक हिन्दू–इस्लाम संस्कृति के एक दूसरे पर (धर्म के क्षेत्र मे) जो प्रभाव पड़े उनका हमने अध्ययन किया है। उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि धीरे–धीरे हिन्दू–मुस्लिम सामंजस्यका विकास हो रहा था। हो सकता है कि दिल्ली के बादशाहों ने जान–बूझ कर इस आन्दोलन को निर्देशित न किया हो या इसमें सहायता न की हो परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि इसमें उन्होंने बाधा डाली थी। इस धार्मिक सामंजस्य के फलस्वरूप कबीर, रैदास, दादूदयाल तथा नामदेव सरीखे सन्तों द्वारा प्रेरित भक्ति–आन्दोलन में नए–नए विकास हुए। इनसे न केवल हिन्दू अपितु मुसलमान भी प्रभावित हुए। इस पारस्परिक प्रभाव के फलस्वरूप जो एक मनोरंजक स्थिति उत्पन्न हो गयी थी उसे स्पष्ट कर देना उचित है। इस काल में मुसलमानों के अन्तर्गत पंथी साहित्य का विकास प्रारम्भ हो गया था। हिन्दुओं मे वीरगाथाएँ और पुराण कहानियों के भंडार थे। पर मुसलमानों में कहानियों का अभाव था कारण इस्लाम में पौराणिक कथायें उपेक्षित हैं। चूँकि मुसलमानों के इतिहास ने कहानियाँ नहीं दी थी इसलिए इनका आविष्कार किया गया। जहाँ हिन्दू राम और लक्ष्मण तथा उनकी पारस्परिक भक्ति के गीत गाते थे वहाँ मुसलमानों ने हसन और हुसेन के भाई हनीफ़ के सुकृत्यों के गीत गाने लगे। वे भीम और अर्जुन के सदृस योद्धा हो गये। हनुमान के समान अमीर उम्मिया का मुसलमानों में आविष्कार हो गया था। भिन्न–भिन्न प्रान्तों में इन कहानियों के भिन्न–भिन्न रूप थे और कहानी कहने वाला प्रायः तत्कालीन आचार व्यवहार का इतिहासज्ञ माना जाता था।

मुसलमान बादशाहों द्वारा हिन्दू मन्दिरों तथा धार्मिक स्थानों को विभिन्न प्रकार के अनुदान दिए गए थे। ऐसा विशेषतः प्रान्तों में हुआ था। बोध गया के महन्त की विस्तृत जमीन्दारी मुहम्मदशाह द्वारा दान में हुई थी। शेरशाह ने शिक्षा को प्रोत्साहन देने के हेतु अपनी हिन्दू प्रजा को 'वक्फ़' के अनुदान दिए थे। काश्मीर के सुल्तान जैनुल आब्दीन प्रायः अमरनाथ तथा शारदादेवी के मन्दिरों में दर्शन करने जाया करते थे। उन्होंने वहाँ तीर्थ यात्रियों के विश्राम करने के लिए अनेक भवन बनवा दिए थे।

इन समस्त रुझानों को अकबर के शासनकाल मे सफलता मिली जिसे मध्यकाल में भारत का प्रथम राष्ट्रीय बादशाह मानना उचित

होगा । अकबर हिन्दू और मुसलमानों के समस्त भेदों का उन्मूलन करने वाला पहला बादशाह था । इस प्रकार उसने मुस्लिम राज्य के स्वरूप को संशोधित किया । "दि दीनइलाही" नामक अपनी पुस्तक में राय चौधरी ने "दीनइलाही" के विकास पर प्रकाश डाला है और इस नए धर्म के विकास में मध्य एशिया, ईरान, भारतीय धर्मों, ईसाई मत तथा इस्लाम के प्रभावों को स्पष्ट किया है । अकबर आकस्मिक घटना नहीं वरन् उस युग का उपज था । उसके "दीनइलाही" धर्म के जन्म के पीछे एक लम्बी बपौती थी जिसमें अतीत के भारत ने उल्लेखनीय तत्व प्रदान किए थे । चौधरी ने धार्मिक सामंजस्य, जो अकबर का लक्ष्य था, में अबुल फज़ल, फैज़ी, बीरबल, मानसिंह तथा टोडरमल के उल्लेखनीय योगदानों पर भी प्रकाश डाला है । इबादतखाना (पूजा-मंडप) में हिन्दू सम्मिलित किए गए थे । हिन्दू ग्रन्थों के अनुवाद कराये गए थे । फैज़ी ने योगवाशिष्ठ, लीलावती, नल–दमयन्ती तथा बत्तीसी सिंहासन का अनुवाद किया था । अथर्ववेद का अनुवाद हाजी इब्राहीम ने किया था । रामायण और महाभारत का अनुवाद कुछ विद्वानों ने मिलकर किया था । मधु सरस्वती, नारायण मिश्र, दामोदर भट्ट, राम तीर्थ तथा आदित्य सरीखे हिन्दू विद्वान् अकबर के दरबार में आते थे । महान संगीतज्ञ तानसेन उसके नवरत्नों में थे । तुलसीदास, सूर दास और दादू से उसका सम्पर्क था । इस सम्बन्ध में कई कहानियां प्रचलित हैं । अकबर के 'हरम' में हिन्दू पत्नियों (बेग़मों) के रहने के फलस्वरूप हिन्दुओं के कई रस्म–रिवाज चग़ताई हरम में प्रचलित हो गए थे । चौधरी के शब्दों में "योधाबाई के महल को बादशाह के कक्ष से सम्बन्ध करने वाली सड़क बिल्कुल पृथक थी जिसका उपयोग अन्य लोग नहीं कर सकते थे । योधाबाई के महल में तुलसी का एक पौधा तथा होम और यज्ञ की वेदी दोनों थे ।"[२] अकबर के दीर्घ अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया था कि हिन्दुओं के भूमि पर शासन करने के लिए हिन्दुओं की सहायता अत्यन्त आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है । हिन्दुओं के दोषों पर भी अकबर की दृष्टि गयी थी । हिन्दुओं में उसने जो सुधार लागू किए थे वे उसके दृष्टिकोण एवं बुद्धि तथा विचारशक्ति के पर्याप्त उदाहरण हैं ।

सन् १५८२ के आरम्भ में अकबर ने "दीन–इलाही" मत को प्रचलित किया था । इसे "अकबर की मूर्खता का स्मारक" कहा जाता है ।

परन्तु इस प्रकार की कोई बात नहीं थी। भारत में इस्लाम के बाद से धार्मिक सामंजस्य के जो प्रयत्न चल रहे थे यह उन्हीं की चरम सीमा थी। अन्य लोग इसे इस्लाम के अन्तर्गत सूफीमत की एक नवीन व्यवस्था कहते हैं। उनका कथन है कि अकबर की नया धर्म प्रचलित करने की इच्छा नहीं थीं।

अकबर अपनी अन्तरात्मा में अन्वेषक था और आयु के साथ-साथ उसका अन्वेषण भी गहरा होता गया। अबुल फ़ज़ल ने लिखा है कि "अकबर प्रायः अपने राजमहल के निकट एकान्त स्थान में स्थित एक पुरानी इमारत के वृहत् पत्थर के चबूतरे पर बैठकर समाधिस्थ होकर अपना प्रात:काल व्यतीत करता था। समाधि की अवस्था में उसका सिर छाती की ओर झुका रहता था। धर्म के मामले में वह अपने दादा बाबर के पद-चिन्हों का अनुकरण कर रहा था जिसने अपनी मृत्यु के समय पर अपने बेटे को अपनी विरासत में हिन्दुस्तान के प्रजा के प्रति सहिष्णु होने के लिए कहा था। इस प्रकार, जिस समय इंगलैन्ड मे कैथोलिकों, फ्रान्स में प्रोटेस्टेन्टों, स्पेन में यहूदियों की हत्याएँ हो रही थीं और इटली में ब्रुनो जलाया जा रहा था, उस समय अकबर ने अपने साम्राज्य में सब धर्मों के प्रतिनिधियों को एक सम्मेलन में आमन्त्रित किया था और सब धर्मों के प्रतिनिधियों का सम्मान किया था और शाँति एवं सहिष्णुता का प्रचार किया था। अकबर यह अनुभव करता था कि राजा को राष्ट्रीय एकता का प्रतीक होना चाहिए जिसके प्रति वफादार होने से प्रजा में पूर्ण सद्भावना, बन्धुत्व और एकता रहेगी। उसके इसी विचार के आगे चलकर "दीनइलाही" का रूप धारण किया। इस मत के अनुयायियों को हमेशा पादिशाह, जो एकमात्र रक्षक माना जाता था, के लिए सर्वस्व बलिदान करने के निमित्त तैयार रहना पड़ता था। अतः "दीन-इलाही" ने, जिसमें विभिन्न धर्मों के सत्य निहित थे, यह निश्चित कर दिया था कि ईश्वर की श्रद्धा करनी चाहिए, तथा प्रजा में शान्ति और साम्राज्य में सुरक्षा रखनी चाहिए। परन्तु अकबर ने अपनी विचारधारा को प्रजा पर लादा नहीं था और इससे दीन-इलाही कुछ चुने हुए लोगों तकही सीमित रह गया। अकबर के विचार में यह बृहत देश एक और अविभाज्य था तथा यहाँ एक जनता और एक जाति थी। वह जातियों के सम्मिश्रण को प्रोत्साहन देता था ताकि इस सम्मिश्रण से एक नए प्रकार की मानवता की उत्पत्ति हो। अकबर ने अपनी

हिन्दू प्रजा की विचारधारा (कल्पना) को पकड़ लिया था। अकबर को हिन्दू लोग "दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा" कह कर उसका सम्मान करते थे।

अस्तु, अकबर ने ऐसे संयुक्त भारत का महान् स्वप्न देखा था जो पूर्ण पल्लवित राष्ट्रीय जीवन की समाप्त भिन्नताओं, धर्म एवं संस्कृति में एक था। "दि विजन आफ इन्डिया" के लेखक के अनुसार "वह महान् दूरदर्शी था उसके विचार महान थे, वह निर्णय करने में साहसी था, वह राजनीतिक स्वप्नदर्शकों का बादशाह था, वह राजनीतिक निर्मा-ताओं में सबसे अधिक शक्तिशाली था, विधान निर्माताओं एवं प्रशासकों में सबसे अधिक उदार था, अकबर इतिहास में अद्‌भुत व्यक्तित्व है। सिकन्दर, कैसर या नेपोलियन में से किसी में भी उतनी गहरी और विस्तीर्ण मानवता, दूरदर्शिता, शक्ति तथा रचनात्मक प्रतिभा नहीं थी जितनी अकबर में थी।"[1] अस्तु, "दीन-इलाही" सम्राट के राष्ट्रीय आदर्श-वाद का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक था।

बाबर से लेकर शाहजहां तक यह धार्मिक सामंजस्य या सहिष्णुता का भाव तीव्रगति से अनवरत प्रवाहित रहा। जिसके फलस्वरूप यहाँ के सभी धर्मों के अनुयायियों में शाँति मैत्री की भावना रही। किन्तु अचा-नक औरंगजेब ने इस परम्परा को भंग करने का निश्चय कर लिया। उसने धार्मिक सहिष्णुता की परम्परा पर गहरे आघात किए। इसके प्रभाव दूर तक पहुँचने वाले हुए। श्री मुहम्मद अली जिन्ना के अनुयायियों द्वारा अकबर की निन्दा और औरंगजेब की प्रशंसा किए जाने की घटना हाल की है और पुनः यह भावना उभाड़ दी गयी कि मध्यकालीन धार्मिक सामंजस्य पूर्ण नहीं था। "इन्डिया थ्रू दि एजेज" में यदुनाथ सरकार लिखते हैं कि, भारतीय मुसलमानों ने, समस्त शता-ब्दियों में, अपने हृदयों की वाह्य-भारतीय दिशाको कायम रखा। उनके चेहरे आज भी नमाज के वक्त मक्का की ओर घूमे हुए रहते हैं, अंग्रेजी शिक्षा द्वारा भारत को आधुनिक बनाए जाने के पूर्व उनके मस्तिष्क, उनके विधान तथा उनकी प्रशासन व्यवस्था अरब, सीरिया, ईरान मिस्र आदि भारत के बाहरी देशों के नमूने के होते थे। संसार भर में सब मुसलमानों की एक सी धार्मिक भाषा, एकसा साहित्य, एक सम्बतसर, एक से शिक्षक, सन्त तथा धार्मिक स्थान थे।"[2] कुछ लोग

यह अनुभव करते हैं कि भारत (पाकिस्तान को छोड़कर) के मुसलमानों को भारत को अपना घर मानना तथा इस्लाम के आगमन के पूर्व की भारतीय संस्कृति को अपनी पैतृक सम्पत्ति का भाग मानना सीखना चाहिए और भारतीय संस्कृति का उचित सम्मान करना चाहिए, साथ ही हिन्दुओं को भी भोजन, विवाह तथा सामाजिक प्रथाओं (रस्म-रिवाज) से संबंधित भेदों प्रतिबन्धों को मिटा देना चाहिए । केवल इसी प्रकार से सच्चा सामंजस्य विकसित हो सकता है ।

कला के क्षेत्र में समन्वय के जो प्रयास किए गए थे अब हम उनका वर्णन कर रहे हैं ।

कला

कला के क्षेत्र में निर्माण-कला का विशिष्ट एवं प्रमुख स्थान है कारण यह कला हिन्दुओं तथा मुसलमानों की संयुक्त प्रतिभा का पूर्ण प्रतीक है । इस क्षेत्र में भी सुल्तान-काल में बड़ा विकास हुआ । किस सीमा तक (इन्डो-सारासेनिक) कला भारत का कितना ऋणी है यह सदा विवादनीय प्रश्न रहा है । हैवेल का मत है कि भारत की इस्लामी कला की पृष्ठभूमि हिन्दू कला है और यह हिन्दू कला की विभिन्नता है । परंतु अन्य लोगों का मत है कि इन्डो-मुस्लिम निर्माण कला बाहर से आयी हुई है । भारत जैसे विस्तृत देश में इन दोनों विचारों के पक्ष में प्रमाण मिल सकते हैं । अत: अंत में, हम यह कह सकते हैं कि भारतीय-मुस्लिम निर्माण-कला हिन्दू कला तथा विदेशी कला दोनों की ऋणी थी और जो इमारतें बनवाई गई थीं उनमें वह स्पष्ट है । इन इमारतों में से कुछ में विदेशी कला के अधिक लक्षण देखे जाते हैं और कुछ तो ऐसी हैं जिनमें पुरानी हिन्दू कला से कोई भी भिन्नता नहीं है ।

भारत में इस्लाम के आने के समय तक इस कला का पर्याप्त विकास हो चुका था और इसमें सुविकसित आकार-प्रकार आ गये थे । और इसमें ग्रीस, रोम, स्पेन, उत्तरी अफ्रीका, ईरान एवं मिस्र की विकसित कलाओं के योगदान हो चुके थे । जो मुसलमान शासक भारत में आकर स्थायी रूप में बस गये थे उनमें इमारतें बनवाने की प्राकृतिक प्रतिभा एवं सुरुचि थी । चूंकि उनमें कलाकारिता की प्राकृतिक रुचि थी इसलिए उन्होंने शीघ्र ही भारतीय कारीगरों की प्रतिभा को महसूस किया और उसकी क़द्र की ।

और उनकी इन्हीं योग्यताओं को अपनी इमारतों में प्रकट किया। यह स्मरणीय है कि पहले इस्लामी तथा हिन्दू धार्मिक निर्माण–कला में बड़ा अन्तर था। हिन्दू निर्माण–कला खंभों तथा शहतीरों और मुस्लिम कला मेहराबों, गुम्बजों पर आधारित थी। मन्दिरों के ऊपर स्तूपाकार स्तम्भ होते थे और मस्जिदों के ऊपर विस्तृत गुम्बज होते थे। हिन्दू कला में शिल्प एवं मूर्तियाँ थीं। मुसलमान सादगी पसन्द और मूर्तिभंजक थे। इसके बावजूद भी दोनों में कुछ सामान्य विशेषताएँ थीं जिससे सामान्य स्वरूप के विकास में सहायता मिली। दोनों में ही खूब सजावट थी। मुसलमानों ने हिन्दू कला की कई विशेषताएँ ले ली थीं। मार्शल के मतानुसार उन्होंने "शक्ति और चमक" ये दो विशेषताएँ हिन्दूकला से ली थीं। भारत के अलावा किसी भी देश की कला में इतनी समरूपी शक्ति और चमक नहीं पायी जाती। साथ ही, भारत म इस्लामी निर्माण–कला ने स्थानीय वातावरण के अनुसार अपने भिन्न–भिन्न रूप धारण किये। दिल्ली में यह कला अधिक मुसलमानी ढंग की है परन्तु जौनपुर जैसे प्रान्तों में इसमें स्थानीय वातावरण का अधिक प्रभाव पाया जाता है। विशेषतः बंगाल में राजाओं ने न केवल पक्की ईंटों की इमारतों का ढंग अपनाया वरन् उनकी इमारतों में पूर्णतः हिन्दू ढंग की बनावट, सजावट तथा शिल्प है। गुजरात और काश्मीर की भी वर्तमान इमारतों में हिन्दू कला की नक़ल है।

मुसलमानों ने भारतीय इमारतों को विस्तृतता प्रदान की तथा नये-नये आकार–प्रकार और रंग दिये। मुसलमानों के आगमन के पूर्व भारत में ईंट, पत्थर, चूना, सुर्ख़ी, बालू आदि का बहुत कम उपयोग होता था परन्तु बाद में इनका खूब उपयोग हुआ और भारतीय कला में मीनारों के अलावा विस्तृता, मेहराब और गुम्बज भी शामिल हो गये। सजावट में मुसलमानों ने रेखागणित के से जटिल दृश्यों, अपने धार्मिक ग्रन्थों के वाक्यों तथा ऐतिहासिक लेखों को अंकित करने का प्रचलन किया। उन्होंने रंग–बिरंगे पत्थरों का उपयोग किया। बाद में चमकदार पालिश का ढंग निकाला गया।

साथ ही, हिन्दू सजावट ने भी इस्लामी स्वरूपों पर आक्रमण किया। गुम्बज की सादगी का स्थान कलश या कमल के फूल ने ले लिया और इसमें पत्थरों पर की गई चित्रकारी भी प्रचलित हो गई। विशेषतः, इमारतों को अनुपाततः भिन्न–भिन्न भागों में विभाजित करने की कला

मुसलमानों ने हमसे सीखी थी। इस प्रकार हिन्दू एवं मुस्लिम कला में सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया था। उक्त तथ्यों के उदाहरण के रूप में हम यहाँ कुछ इमारतों पर प्रकाश डाल रहे हैं।

पृथ्वीराज के नगर दिल्ली में विजेताओं ने अनेक शानदार स्मारक बनवाये थे। इनमें क़वातुल इस्लाम मस्जिद सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। कुतुबुद्दीन ऐबक ने इस्लाम की शक्ति तथा दिल्ली पर कब्जा करने की स्मृति के रूप में सन् ११९१ ई० में इसको बनवाया था। इस इमारत में, जैसी यह पहले बनायी गयी थी, हिन्दू प्रभाव स्पष्ट दिखाई देते हैं। यह इमारत जिस आधार पर स्थिति है उसका आधा भाग वैसा ही है जैसी हिन्दू मन्दिरों का होता है। इसके खंभे, दीवाल, शहतीर आदि के निर्माण में वैसी ही सामग्री का उपयोग किया गया है जैसी हिन्दू मन्दिरों में प्रयुक्त होती थी। बाद में इसमें नमाज़ के मंडप के बाहरी भाग में मुसलमानी ढंग का मेहराबदार पर्दा लगाया गया। इस पर्दे में पवित्र ग्रन्थों के लेख तथा शृंगारयुक्त चित्रकारी अंकित है। इसमें जो शृंगार है वह भारतीय प्रतिभा का प्रतीक है। प्रसिद्ध कुतुबमीनार इसी इमारत से सम्बन्धित है। कुतुबमीनार का निर्माण कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा प्रारम्भ तथा इल्तुतमिश द्वारा पूर्ण किया गया था। कुछ लोगों के मतानुसार इस मीनार को पहले पृथ्वीराज या उनके पितामह ने विजय-स्तम्भ के रूप में बनवाया था। परन्तु मुस्लिम शासकों द्वारा इसके बनवाये जाने की राय अधिक पुष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह मीनार इसलिए बनवाया गया था कि उस पर से मुअज्जिन नमाज पढ़ने का सन्देश दे सके। परन्तु शीघ्र ही इसे विजयस्तम्भ मान लिया गया। पहले यह २२५ फीट ऊँचा और चार मंजिल का था। इसके प्रत्येक मंजिल पर शृंगारयुक्त छज्जे थे इनमें लेखादि अंकित थे। फिरोजशाह तुग़लक के शासन काल में इस पर बिजली आ गिरी थी जिसके फलस्वरूप चौथा मंजिल दो छोटे-छोटे मंजिलों में विभाजित हो गया था। इस इमारत के अन्दर कई नागरी लेख भी हैं। मुस्लिम निर्माण-कला तथा पच्चीकारी का यह सबसे उपयुक्त प्रतीक है। फलोरेन्स स्थित ग्रेटो स्तम्भ तथा चित्तौड़ में जो रहस्य तथा प्रेममय चित्र हैं केवल उनका इसमें अभाव है।

इल्तुतमिश से लेकर अलाउद्दीन के समय तक इस बात के प्रयास जारी रहे कि मुस्लिम निर्माण-कला में भारतीयता न आने पाये जिसके फल-

स्वरू ल्तमश के मकबरे जैसी कला विहीन इमारतों का निर्माण हुआ। अल्तमश से सम्बन्धित सबसे प्रसिद्ध इमारत अजमेर स्थित अरहईदीन-का झोपड़ा है जो किम्बदन्ती के अनुसार ढाई दिन में बना था। मराठा काल में २॥ दिन का एक मेला लगा था। संभवतः यह इमारत इसी मेले की स्मारक है। यह कुतुबुद्दीन के लिए बनवाया गया था। इसमें अल्तमश द्वारा सजावट की गयी थी। इस मस्जिद में एक वृहत् मण्डप हैं जो वास्तव में अनुपम सौन्दर्य से परिपूर्ण है। यह इमारत भी हिन्दू मन्दिरों के बिगड़े हुए आकार-प्रकार की बनवायी गयी थी। निजामुद्दीन औलिया के दरगाह में स्थित जमातखाना मस्जिद अलाउद्दीन खिलजी के समय में बनवायी गयी थी और इसमें भारतीयता के विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया स्पष्ट प्रकट है। कुतुबमीनार का अलोई दरवाजा भी अलाउद्दीन के शासन काल में बनवाया गया था। यह इस्लामी निर्माण-कला के तत्वों का सर्वश्रेष्ठ भण्डार है। कट्टर तुग़लकों ने भी हिन्दू प्रभाव को मिटा देने का प्रयास किया था परन्तु फिर भी वे हिन्दू कला को मुस्लिम कला से बिल्कुल नहीं निकाल सके। इस में निर्मित स्तम्भों, कठघरों, खिड़कियों आदि में यह बात स्पष्ट है।

परन्तु सैयदों तथा लोदियों के शासनकाल में हिन्दुस्तान की अप्रकट प्रतिभा को पुनर्जीविन मिला। इसकाल की सबसे अच्छी इमारतें बादशाहों तथा उनके सामन्तों की क़ब्रे (मकबरे) हैं। इनके द्वारों, बाहरी भाग, मस्जिद तथा गुम्बजों के अन्दरूनी भाग की चमकीली सजावट हिन्दू ढंग की है। इसकाल की इमारतों ने मुग़ल निर्माण-कला का मार्ग तैयार किया। सिकन्दरशाह के प्रधान मंत्री द्वारा बनवाया गया सिकन्दर लोदी का मकबरा और मोथ-की-मस्जिद इसकाल की प्रसिद्ध इमारतें हैं।

भारतीय निर्माण-कला पर इस्लाम के प्रभाव का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए हम प्रान्तों की कुछ महत्वपूर्ण इमारतों का वर्णन कर रहे हैं। बंगाल में भारतीय-मुस्लिम निर्माण-कला का सबसे पूर्ण प्रतीक गौड़ स्थित दाखिल दरवाजा है जिसको बरबकशाह ने (१४५९-७४) में बनवाया था। पक्की ईंट और मिट्टी की इमारत में जितनी कला प्रस्तुत की जा सकती है वह सब इसमें प्रस्तुत है। यह ६० फीट ऊँचा, और ११३ फीट लम्बा है। इसमे एक केन्द्रीय मेहराबदार द्वार है जिनके दोनों ओर रक्षकों के कमरे हैं। इसके चारों कोनों पर पांच-मंजिलदार कँगूरे हैं। इन कँगूरों

के ऊपर गुम्बज है। इस दरवाजे की पूरी इमारत में हिन्दू कला है और कुशल कारीगरी का ज्वलंत प्रतीक है। गौड़ में बड़ा सोना मस्जिद एक दूसरी इमारत है जिसे फर्गुसन गौड़ में अब बचा हुआ सबसे सुन्दर स्मारक कहते हैं।

गुजरात में दिल्ली की कला तथा हिन्दू कलाओं की पूर्ण मिलावट है। यहाँ की इमारतों की चौड़ाई, फैलाव तथा रोब में हिन्दू ढंग है। साथ ही इसमें इस्लामी ढंग का भी पर्याप्त पुट है। खंभात की जामी मस्जिद (सन् १३२५) तथा अहमदाबाद में निर्मित अन्य इमारतों में दोनों कलाओं का सम्मिश्रण स्पष्ट है। अहमदाबाद को अहमदशाह ने बसाया था। यह नगर उसके राजवंश के प्रारम्भ होने का स्मारक है। यहाँ का टीन दरवाजा, जामी मस्जिद तथा सरखेज स्थित शेख़ अहमद खत्री की मस्जिद और समाधि एवं महमूद बेगढ़ा द्वारा बनवायी गयी इमारतें, जो इस काल की सबसे शानदान इमारतें हैं, सर्वाधिक विख्यात हैं। शेख अहमद खत्री की मस्जिद में एक वृहत् मण्डप बना हुआ है जिसमें विशुद्ध हिन्दू कला है। महमूद बेगढ़ा की चम्पानेर की जामी मस्जिद सबसे अधिक आश्चर्यजनक इमारत है। इस काल में जो कुएँ बनवाये गये थे वे भी हिन्दू कला की नक़ल हैं। साथ ही रानी सिपारी की मस्जिद संसार की सबसे सुन्दर इमारतों में मानी जाती है। यह मस्जिद सन् १५१४ में अहमदाबाद में बनवायी गयी थी।

सीदी सैयद की मस्जिद भी एक विश्वविख्यात इमारत है। इसके अन्दर जो चित्रकारी है वह अद्वितीय तथा अनुपम है। इसके पर्देदार खिड़कियों के खोलने के तरीके भी अद्वितीय हैं। गुजरात से २०० मील दूरस्थ धार और मांडू की इमारतों में हिन्दू-इस्लामी कला के सम्मिश्रण के बजाय इस्लामी कला अधिक है।

जौनपुर एक दूसरा प्रान्त है। फिरोजशाह तुग़लक ने इस नगर की स्थापना की थी। इसकी इमारतों में दोनों कलाओं का सम्मिश्रण दिखाई देता है। इसका सबसे सुन्दर उदाहरण अताला मस्जिद है जिसकी नींव सन् १३७७ ई० में डाली गयी थी और जो सन् १४०८ में बनकर तैयार हुई थी। इस मस्जिद में जो टट्टियाँ (पर्दे) बनी हैं वे बहुत ही आकर्षक हैं। इन पर्दों तथा मस्जिद की जमीन की सजावट पूर्णतः हिन्दू ढंग की है। इसके समान सुन्दर मस्जिदें इस देश में थोड़ी होंगी। लाल दरवाजा में भी पूर्णतः हिन्दू कला है।

बहमनी राज्य से लेकर १५ वीं शताब्दी के आरम्भ तक निर्माण–कला में ईरानी और दिल्ली कला का प्रमुख भाग रहा। इसमें स्थानीय कलाओं का भाग बहुत कम रहा। फिर भी दौलताबाद की जामी मस्जिद तथा वोधन की देवल मस्जिद हिन्दू मन्दिरों के बनावट की हैं। गुलबर्गा और बीदर में इस काल के अधिक स्मारक पाये जाते हैं। गुलबर्गा का फिरोज-शाह का शानदार मक़बरा हिन्दू प्रभाव की बढ़ती हुई शक्ति का द्योतक है। इसके चित्रकारी युक्त पालिशदार खंभों तथा सुन्दर कठघरों में हिन्दू प्रभाव स्पष्ट है। बीजापुर की इमारतों में विदेशी प्रभाव से कहीं अधिक हिन्दू प्रतिभा है। यहाँ की इमारतों पर हिन्दू कला की अधिक छाप है। किन्तु इन इमारतों की कहानी मुग़ल काल की है अस्तु इनका वर्णन आगे किया जायगा।

काश्मीर में लकड़ी की इमारतों के निर्माण में जैनुल आबदीन प्राचीन काश्मीरी कला पर डटा रहा। मदानी तथा उसकी माँ के मक़बरे यहाँ की प्रसिद्ध इमारतें हैं। श्रीनगर की लकड़ी की बनी हुई जामी मस्जिद सबसे सुन्दर इमारत है। मार्शल के अनुसार काश्मीर की इमारतें हिन्दू-मुस्लिम कला के सम्मिश्रण की द्योतक हैं।

अस्तु, निर्माण–कला के क्षेत्र में प्रारम्भिक मुसलमान शासकों ने उल्ले-खनीय प्रगति की थी। फर्गुसन के शब्दों में "भारत में इन पठानों ने इमारतों के निर्माण का जो कार्य प्रारम्भ किया उससे अधिक विशेष कार्य कोई नहीं हो सकता। इन इमारतों की तड़क–भड़क अनुपम है।" "मुस्लिम निर्माण–कला की सादगी का अन्त हो गया था और हिन्दू चमक-दमक सयंमित कर दी गई थी। इन मुस्लिम इमारतों की कारीगरी, सजावट और बनावट अधिकांशतः हिन्दू ढंग की है। तथा इसकी चिकनी दीवालें, अन्दरूनी फैलाव तथा सादे गुम्बज मुसलमानी ढंग के हैं।"[१]

अन्य कलाओं के क्षेत्र में भी सामंजस्य के वही प्रयास किये गये। उदाहरणार्थ, संगीत में पहले तो मुसलमानों ने अधिक प्रगति नहीं की थी कारण इसमें इस्लाम के एकेश्वरवाद का अधिक प्रभाव था, किन्तु बाद में, विशेषतः सूफियों के बाद, संगीत की चर्चा प्रारम्भ हो गई और भक्ति विषयक गीतों और कविता का विकास हुआ। जिस समय हमारे देश में मुसलमान आये थे उस समय संगीत–कला खूब विकसित थी। उन्होंने तुरन्त ही इसे अपना लिया था। भारतीय मुसलमानों में से अधिकांश

में भक्ति विषयक तथा अन्य गीतों का प्रचलन जारी रहा। इसलिए सुल्तान कालीन समाज में संगीत कला समृद्धिशाली रही। हिन्दुओं ने मुसलमानों को अपने वाद्य यंत्र और ध्रुपद दिये और मुसलमानों ने क़व्वाली और ख़याल दिये तथा सितार और तबला का प्रचलन किया। क़व्वाली और ख़याल का आविष्कार ख़ुसरो तथा उसके सहयोगियों ने किया था। संक्षेप में, संगीत ने भारत के इन दो सम्प्रदायों के बीच समागम का एक नया स्रोत खोल दिया। कहा जाता है कि अलाउद्दीन ने दक्षिण से हिन्दू संगीतज्ञों को बुलवाया था और वह उनके गीत सुना करता था। मुद्रा-विद्या-विशेषज्ञों ने भी उस सामंजस्य की ओर संकेत किया है जो इस काल में हो रहा था। सबसे प्राचीन मुद्राओं में नागरी का भी एक लेख है। मुहम्मद गोरी की स्वर्ण मुद्राओं को बनाने में कन्नौज के राजाओं के (लक्ष्मी देवी वाले) सिक्कों की नक़ल की गयी थी। ये स्वर्णमुद्राएँ मुस्लिम इतिहास में अद्वितीय हैं। अन्य मुद्राएँ भी थी जिन्हें "दिल्ली वाला" कहा जाता है। इनमें एक ओर शिव का कुबड़ा साँड़ (नन्दी) चित्रित रहता था और नागरी में बादशाह का नाम रहता था और दूसरी ओर दिल्ली के चौहानों जैसा घुड़सवार अंकित रहता था। इस प्रकार की कुछ मुद्राओं में अल्तमश के नाम के साथ-साथ नारवार के चाहाददेव का नाम भी अंकित है। एक विचित्र मुद्रा ऐसी है जिसमें एक ओर मुहम्मद बिन साम और दूसरी ओर पृथ्वीराज के नाम अंकित हैं। इस काल में कागज, सुलेख और सुन्दर हस्तलिपियों का भी प्रचलन हुआ था और युद्ध की कलाओं एवं शस्त्रास्त्रों में भी विकास हुए थे।

मुग़ल काल में अन्य क्षेत्रों की भांति कला के क्षेत्र में भी अत्यधिक विकास हुआ और अकबर के समय में कला अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गई थी। निर्माण-कला, चित्रकला और संगीत के शीर्षकों के अंतर्गत हम मुग़लकाल में कला के क्षेत्र में हुए विकास का वर्णन कर रहे हैं।

भारत में, पूर्व मुग़ल काल में जो इस्लामी निर्माण-कला थी उसकी व्याख्याओं की भिन्नताओं का वर्णन किया जा चुका है। उसी प्रकार, इस काल की इस्लामी निर्माण-कला के सम्बन्ध में भी दो विचारधाराएँ है। एक विचारधारा इस पर अधिक जोर देती है कि मुग़ल निर्माण-कला में ईरानी तथा यूरोपीय प्रवृत्तियाँ अधिक हैं। दूसरी विचारधारा हैवेल की है जो मुग़ल निर्माण-कला को हिन्दू कला या उस भारतीय-मुस्लिम

कला से अधिक भिन्न नहीं मानते जो १५ वीं शताब्दी के अन्त में विकसित हुई थी। इन दोनों मतों के बीच की विचारधारा में सत्यता है।

कहा जाता है कि गुजरात कला और राजपूताना कला सहित बीजापुर कला तीन तत्त्वों का ऐसा पुल है कि जिसके द्वारा प्राचीन कला मुग़ल भारत में आयी थी। अब हम बीजापुर निर्माण–कला का वर्णन कर रहे हैं जो अद्वितीय मानी जाती है। आदिल शाही राजवंश ने अपनी राजधानी को ऐसा नगर बनाया था जो सम्पूर्ण भारत में सबसे अधिक शानदार नगरों में माना जाता था।

बीजापुर के राजाओं ने अपने दरबारों को विद्या तथा कला का ऐसा केन्द्र बनाया था जहाँ ईरान, मध्य एशिया, कुस्तुन्तुनिया, पुर्तगाल तथा भारत के कई भागों से विद्वान तथा कलाकार लोग आया करते थे। अस्तु, जो कला बीजापुर में विकसित हुयी थी उसने मुग़ल निर्माण कला की नींव डाली होगी। गोलगुम्बज और मिहतर महल यहाँ की दो प्रसिद्ध इमारतें हैं। गोलगुम्बज में रोम के "पैन्थियन" से भी बड़ा एक गुम्बज है और इस इमारत का कुल क्षेत्रफल १८,००० वर्ग फीट से अधिक है। गोधूलिवेला में यह मैदानों से घिरे हुए वृहत् पर्वत के समान दिखाई देता और ऐसा नहीं प्रतीत होता है कि इसे किसी मनुष्य ने बनाया होगा। मिहतर महल अपने निर्माण की कला के अमूल्य रत्नों का वृहत् भण्डार है। यह लम्बी और रोबदार इमारत है। इसके ऊपर के मंजिल में एक वृहत् सभा मण्डप तथा उसके ऊपर खुली दालान है। यह इमारत चारों ओर एक ऊँची दीवाल से घिरी हुयी है और इस दीवाल में झरोखे-दार खिड़कियाँ और झंझरीदार मुड़ेर है। इमारत के अगवारे पर दोनों ओर दो पतली मीनारें हैं परन्तु छज्जे की जो खिड़की है वह सर्वाधिक आश्चर्यजनक है। इसके पत्थरों की इतनी सुन्दर खुदाई की गई है कि वे लकड़ी जैसे दीख पड़ते हैं। इसकी सुन्दरता और विचित्रता कलाकार की अद्‌भुत कल्पनाशक्ति की द्योतक है। इब्राहिम रौजा मुग़लों की सुन्दरतम इमारतों के टक्कर की इमारत है। इसमें मक़बरा और मस्जिद दो इमारतें हैं। इस मक़बरे (इमारत) में अद्वितीय कलात्मक प्रतिभा है।

मुग़लकाल की सबसे अच्छी इमारतों का निर्माण अकबर और शाहजहाँ के समय में हुआ था। अकबर को निर्माण–कला का पूर्ण ज्ञान था और उसके मस्तिष्क ने कला की सभी विचारधाराओं का सामंजस्य किया था।

फ़तेहपुर सीकरी में बुलन्द दरवाज़ा, दीवाने-खास पंचमहल सबसे प्रसिद्ध इमारतें हैं।

दीवाने ख़ास के बीच में एक कमल सिंहासनाकार स्तम्भ है जिसकी बनावट हिन्दू ढंग की है और पंचमहल भारतीय बौद्ध विहारों की सी बनावट का पाँच मंजिल का कलशदार भवन है। नूरजहाँ द्वारा बनवाया गया इत्मादुद्दौला के मक़बरे को देख कर उदयपुर के गोल मण्डल का स्मरण आता है अर्थात् यह इमारत पूर्णतः गोलमण्डल के बनावट की है। मुग़लों ने भी भारतीय कला की सजावट तड़क-भड़क में अपने मौलिक तत्व दिये थे। साहराम स्थित शेरशाह द्वारा बनवाया गया मक़बरा पूर्णतः भारतीय बनावट का है। मक़बरे को एक बगीचे के बीचोबीच बनवाना, उस बगीचे में पगडंडियाँ (परी हुई सड़कें) रखना, इन पगडंडियों के दोनों ओर फ़ूलों के तथा अन्यान्य पेड़ रखना, उनमें कई जलमार्ग, तालाब और झरने रखना आदि नई बातें मुग़लों ने ही प्रचलित की थीं। उन्होंने गुम्बज की बनावट को भी बदल दिया था। उनके गुम्बज दोहरे हैं अर्थात् एक गुम्बज बाहरी और एक अन्दरूनी। ग्वालियर में मुहम्मद ग़ौस का मक़बरा भारतीय-मुस्लिम बनावट का नमूना है। आगरा और लाहौर स्थित अकबर के क़िले भी रोबदार बनावट के हैं और कहा जाता है कि इनमें पत्थरों को एक दूसरे से इतने निकट जोड़ा गया है कि उनकी संधियों के बीच एक बाल भी प्रविष्ट नहीं हो सकता। आगरा के क़िले के अन्दर अकबर ने बंगाली तथा गुजराती ढंग की कई इमारतें बनवायी थीं। पर्सी ब्राउन का भी मत है कि इस क़िले की बनावट राजपूतों के कोट (गढ़) की सी है। फतेहपुर में भी कई इमारतों की सजावट उसी ढंग की नक़ल है जैसी हिन्दुओं और जैनियों के मन्दिरों में पायी जाती है।

"जिस प्रकार आगस्टस की यह दंभपूर्ण उक्ति है कि उसने रोम को ईंट का बना पाया था और संगमर्मर का बना कर छोड़ गया था उसी प्रकार शाहजहाँ ने मुग़ल शहरों को पत्थर का बना हुआ पाया था और संगमर्मर का बना कर छोड़ गया। (पर्सी ब्राउन)

इस प्रकार शाहजहाँ के समय में निर्माण-कला के साधनों और सिद्धान्तों में परिवर्तन हुए। पत्थर के काटने की कला में निपुण कारीगर का स्थान संगमर्मर के काटने और पालिश करने की कला में निपुण कारीगर ने ले लिया तथा आयताकार भवनों का स्थान चौकोर, लहरदार-सजावट पूर्ण

प्रसादों ने ले लिया। सबसे अधिक मौलिक परिवर्तन मेहराब की बनावट में हुआ और इनमे लहरनार सजावट, पच्चीकारी और नजाकत-पूर्ण सौन्दर्य आ गया। इस प्रकार मुग़ल कला का सुवर्ण-काल प्रारम्भ हुआ। आगरा, लाहौर तथा और नगरों में पुराने महलों का नवनिर्माण हुआ और नवीन भवन बनवाए गए। कलाकारिता अपने सर्वोत्कृष्ट शिखर पर पहुँची। आगरे में दीवान-ए-आम व ख़ास, खास महल, शीश महल, मुसम्मन बुर्ज, अंगूरी बाग, मच्छी भवन और मोती मस्जिद इस कला के उदाहरण हैं। शाहजहाँ ने दिल्ली को भी नवनिर्मित किया। उसी ने वहाँ जामा मस्जिद बनवाई जो भारतवर्ष में अद्वितीय है।

परन्तु कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण ताजमहल है जो उसकी रानी मुमताज़ बेगम के प्रेम की यादगार है। ताजमहल में ही उसकी क़ब्र है और उस सुन्दर कृति के निर्माण के लिए एशिया और योरप से कारीगर बुलवाए गये थे। इस प्रकार इस कृति के पीछे नवीन कलात्मक विचारों का जन्म हुआ और यह एक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का उदाहरण है। फिर भी मुख्य सजावट हिन्दू कारीगरों ने की थी विशेषकर कन्नौज के एक संघ ने। उस्ताद ईसा मुख्य कलाकार और निर्देशक थे।

ताजमहल की सम्पूर्ण योजना, जिसमें बगीचा भी शामिल है, एक समकोण के आकार का और इसकी लम्बी धुरी उत्तर और दक्षिण की ओर है तथा मक़बरा उत्तरी सिरे पर स्थित है। यह समकोण चारों ओर से एक ऊँची दीवाल से घिरा हुआ है। इस दीवाल के चारों कोनों पर मेहराबदार कलश (गुमट) हैं। इसका मुख्यद्वार दक्षिण में है। यह मकबरा चौकोर है और हर ओर १८६ फीट लम्बा है। सके अगवारे की चौड़ाई पूरी इमारत की ऊँचाई के बराबर है। इसका सर्वश्रेष्ठ अंग वह वृहत् गुम्बज है जो आकाश में सफेद बादल के समान लटका हुआ है। इस इमारत के पत्थर रंग-बिरंगे है और उनमें सर्वोत्कृष्ट पच्चीकारी की हुई है जो मुख्य सजावट है। बड़े-बड़े मेहराबों के ऊपर लहरदार सजावट, छत्रों में छोटे-छोटे फूल और छेददार पर्दों के काम मुख्यत: भारतीय कलाकारों के हैं। यह सब अनुपम कला की कृति है और इसमें अद्भुत एवं आकर्षक सौन्दर्य है। इसके गुम्मट हिन्दू मन्दिरों के बनावट के हैं। यह इमारत कलाकारिता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। पूर्णिमा की रात्रि को चाँदनी में "ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति और मनुष्य के हाथों ने मिल कर इस सर्वोत्कृष्ट आश्चर्यपूर्ण इमारत का निर्माण किया है।"

मुग़लकाल में हिन्दू तथा मुस्लिम निर्माण-कला का जो समन्वय हुआ था अब हम यहाँ उसके अध्ययन को समाप्त करते हैं, क्योंकि ताजमहल में यह सामंजस्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। इसमें एकरूपता की सारसेनिक विचारधारा का स्थान भारतीय चमक-दमक और सजावट ने ले लिया है। इस काल की राजपूत इमारतों में भी यह सामंजस्य है।

मुग़लकाल में चित्रकला को भी सबसे बड़ा बल मिला और अकबर के समय में चीनी, ईरानी और हिन्दू कला का पूर्ण सम्मिश्रण दिखाई देता है। शाहजहाँ के समय तक चीनी प्रभाव समाप्त हो गया था और भारतीय बनावट का प्रभुत्व हो रहा था। यह पहले ही बताया जा चुका है कि प्राचीन भारत में यह कला अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गयी थी जिसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण अजन्ता की गुफाओं में आज भी देखा जा सकता है। अबुल फ़ज़ल ने इस काल के १७ अत्यधिक विख्यात कलाकारों का वर्णन किया है जिनमें १३ हिन्दू थे। अजन्ता की हिन्दू चित्रकला में राजकीय तड़क-भड़क, युद्ध-विजय के गर्वपूर्ण दृश्य प्रकट हैं और तत्कालीन जनता की दिन-चर्या, प्रणय--गाथा, आनन्ददायक उत्सव, नृत्य-गान तथा धार्मिक दृश्य चित्रित हैं। इसमें महात्मा बुद्ध के जीवन--लीला के भिन्न-भिन्न चित्र भी चित्रित हैं। इन चित्रों में अनेकता में एकता का हिन्दू धर्म का आदर्श चित्रित है। रेखाओं (लकीरों) के माध्यम से भावना चित्रित की गयी है। इसमें कलाकार ने प्रकृति और मानव के समस्त स्वरूपों को चित्रित कर दिया है और वह इसमें पूर्ण सफल रहा है। बाबर भारत में अपने साथ बिहज़ाद की कला लाया था। बिहज़ाद छठवीं शताब्दी में तैमूरी चित्र कला के सर्वश्रेष्ठ चित्रकार माने जाते थे। तैमूरी चित्रकला भी मध्य एशियाई चित्रकला के द्वारा चीनी चित्रकला की ऋणी है। यह कला अत्यधिक व्यक्तिवादी है। यह जनता और भीड़ से संबंधित नहीं है। इसमें अत्यधिक सादगी और कठोरता है और चमक--दमक बिल्कुल नहीं है। बाद में, इसमें सूफी रहस्यवाद या आत्म-बलिदान तथा प्रणय के भी कुछ तत्व आ गये।

मुग़लों के समय में एक नवीन सामंजस्य लाने के लिए ये दोनों कलाएं मिल गयीं। अजन्ता की चिकनाहट पर समरकन्द और हेरात की सुडौलता, अनुपात तथा फैलाव की नयी प्रणालियां लागू कर दी गयीं। पुरानी तड़क-भड़क में नई चमक-दमक मिला दी गई और पुराने स्वतंत्र और सरल जीवन के स्थान पर दरबारी ढंग और कठोर अनुशासन आ गया।

इस प्रकार मुसलमानों और हिन्दुओं ने एक नये ढंग की भारतीय चित्रकला को प्रचलित किया। इस कला के कई चित्रकार थे जिनमें से आईने अक़बरी में दसवन्त, केशोलाल, माधो तथा राम का वर्णन है। इस समय अन्य कई चित्र-कला प्रचलित हुयीं जिनमें से कुछ बाँकीपुर (पटना) के खुदाबख्श पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। इन कलाओं में से अनेक ग्वालियर, गुजरात और काश्मीर से आयीं थीं। यह इस बात का द्योतक है कि इन स्थानों में भारतीय कला अवश्य पनपी होगी और मुग़लकला भारतीय कला से सम्बन्धित थी। जहाँगीर चित्रकला का पारखी था और उसके समय में नक़ल करने की प्रवृत्ति से भारतीय कला पूर्णतः मुक्त हो गयी थी। उसके समय मे सुडौल चित्र खींचने तथा शिकार के दृश्यों के चित्रण का बहुत प्रचलन हो गया था। शाहजहाँ के समय में चित्र (तस्वीर) बनाने की कला और अधिक विकसित हो गयी थी। कहा जाता है कि इस कला की नई शाखाएँ हो गयीं जिनमें जयपुर, काँगड़ा और हिमालय स्थित हिन्दू राज्यों की "राजपूत" तथा "पहाड़ी", दक्षिण, लखनऊ, काश्मीर, पटना की "क़लम" और सिखों की "क़लम" (शाखाएँ) प्रसिद्ध हैं। इनका वर्णन इसी अध्याय में आगे चल कर किया जायगा।

समस्त कलाएँ दो भिन्न एवं विपरीत प्रवृत्तियों द्वारा शासित रहती हैं। एक प्रवृत्ति का लक्ष्य राज-शृंगार, विस्तृतता तथा तड़क-भड़क रहता है तथा दूसरी में सादगी, मितव्ययिता तथा गंभीरता का प्रभुत्व रहता है। पूर्णकला में इन दोनो प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण रहता है। भारतीय तथा सारसेनिक कलाओं ने ऐसे पूरक तत्व दिए हैं जिनके मिश्रण ने न केवल महान कला अपितु गहरी एवं स्थायी संस्कृति को जन्म दिया है।

संगीत कला में भी यह समन्वय जारी रहा। अबुल फ़ज़ल का कथन है कि अकबर संगीत कला पर अत्यधिक ध्यान देता था और संगीतज्ञों को संरक्षण देता था। उत्सवों तथा त्योहारों पर संगीत का आयोजन करने की प्रथा प्रचलित हो गयी थी। पेशेवर गवैयों के भक्ति सम्बन्धी गीत सुनने के लिए आर्द्धधार्मिक मंडलियाँ एकत्रित होती थीं। रबाब, सरोद, बीन तथा दिलरुबा सरीखे यंत्रों का आविष्कार किया गया था या उनको नया रुप दिया गया था। अकबर असंख्य संगीतज्ञों को संरक्षण देता था जिनमें से तानसेन सर्वाधिक विख्यात हैं। हरिदास, रामदास सरीखे अन्य कई प्रसिद्ध संगीतज्ञ भी इसी समय में थे। इस समय यह कला अपनी

पराकाष्ठा पर पहुँच गयी थी। शाहजहाँ भी संगीत का महान् संरक्षक था और वह स्वयं भी अच्छी तरह गाता था। रामदास तथा महापत्तर उसके दो प्रमुख गायक थे। प्रान्तीय राज्यों में भी यह कला खूब पनपी हुई थी और मालवा के बाज़ बहादुर इस काल में संगीत-विज्ञान तथा हिन्दी गीतों के विशेषज्ञ माने जाते थे। ग्वालियर के राजा मानसिंह तनवार, जिनकी अपनी संगीत-कला इस काल में बहुत प्रसिद्ध थी, भी संगीत के महान् संरक्षक थे। कहा जाता है कि गोलकुन्डा में २०,००० संगीतज्ञ रखे जाते थे। मुसलमान गायकों द्वारा हिन्दू (शास्त्रीय) राग संशोधित किये गये थे। इस संगीत-सम्पर्क का एक मनोरंजक विकास उल्लेखनीय है। हिन्दू संगीत-कला प्रमुखत: धार्मिक थी और इसलिए सभी वर्ग के हिन्दू इसके भक्त थे। मुस्लिम दरबारों में इस कला ने पतित रूप धारण कर लिया था, कई लोगों ने इसे पेशा बना लिया था तथा संगीत में प्रेम एवं वासनापूर्ण विषयों का प्रभुत्व हो गया था। साथ ही मुस्लिम दरबारों के गायकों में ऐसी स्त्रियाँ अधिक होती थीं जो प्राय: कुख्यात थीं। इसके फलस्वरूप उच्चवर्ग तथा साधारण जनता के बीच एक खाई बन गयी थी और जनता में लोक-संगीत प्रचलित हो गये। दक्षिण में संगीत कला राजाओं तथा किसानों दोनों की समान सम्पत्ति बनी रही। अस्तु, मुसलमानों के आगमन के बाद संगीत के इतिहास ने हिन्दू मुस्लिम सहयोग का एक नया अध्याय खोला।

मुग़लों ने वसीयत के रूप में हमको ऐसे-ऐसे सुन्दर सुव्यवस्थित उद्यान दिये हैं जहाँ हम सौन्दर्य तथा मनोरंजन पाते हैं और ठंढक का उपयोग करते हैं। मुग़लों में प्राकृतिक सौन्दर्य की बड़ी अनुभूति थी और उन्होंने काश्मीर में शालीमार तथा निशात एवं लाहौर तथा अन्य स्थानों में शालीमार बनवाये थे। इन उद्यानों के फलस्वरूप सुन्दर एवं अनुपम काव्य के भण्डार की सृष्टि हुयी।

पुस्तकों की सजावट तथा सुलेख की कला का भी विकास जारी रहा तथा औरंगज़ेब सर्वश्रेष्ठ सुलेखकों में था। अकबर ने कई कारखाने बनवाए थे। अबुल फजल नें उसके द्वारा बनवाए गए १०० से अधिक ऐसे कारखाने का वर्णन किया है जहाँ कला-कौशल के नयें-नये ढंगों का आविष्कार होता था। इस काल में बनवाये गये हिन्दू मन्दिरों में, विशेषत: वृन्दावन के, इस्लामी कला के प्रभाव दिखाई देते हैं।

अस्तु, मुग़ल काल ने कलाओं तथा निर्माणकला के क्षेत्र में दोनों

संस्कृतियों का सबसे सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया। हिन्दुओं मुसलमानों ने मिल कर ऐसी संयुक्त संस्कृति के विकास के लिए परिश्रम किया जिसमें इस समन्वय के सबसे अधिक प्रभावशाली प्रतीक के रूप में कलाओं का प्रमुख स्थान था।

सामाजिक दशा

भारत में पहले जो मुस्लिम शासन था उसकी तुलना सैनिक शिविर से की जाती है। मुसलमान बादशाह सैनिक तथा स्वच्छन्द मनोवृत्ति के थे। वे अपने अनुचरों से घिरे रहते थे। और दूसरी ओर उनकी हिन्दू प्रजा साम्राज्य की गुलाम थी। परन्तु ऊपर जो कुछ वर्णन किया गया है उसे देखते हुए यह दृष्टिकोण अधिकारपूर्ण नहीं है। हिन्दुओं और मुसलमानों में सामाजिक समागम होने तथा रहन-सहन के सामान्य ढंग के विकसित होने के कई विभिन्न प्रकार के कारण थे। पहला कारण यह है कि किसी स्थिति में विजय भी बहुत क़ीमती हो जाते हैं और शाँति अनिवार्य हो जाती है। शाँतिके लिए समुचित शासनतंत्र का संगठन या प्रशासकीय यंत्र आवश्यक होता है। यह केवल तभी संभव हो सकता है जब कि विभिन्न वर्गों में कुछ न्याय–व्यवस्था रखी जाय और उसका पालन किया जाय। करों तथा सरकारी धन की वसूली के लिए किसान और कारीगरों तथा शासक वर्ग के विरोधियों तक के लिए सुरक्षा और संरक्षण का प्रबन्ध करना अत्यावश्यक था। मुसलमानों के लिए हिन्दू रस्म-रिवाजों का उपहास करना या उनको दबाना संभव नहीं था। वास्तव में मुसलमानों ने शीघ्र ही हिन्दू धर्म तथा भारतीय रस्म–रिवाजों की प्रशंसा करना तथा उसको अपने में मिलाना सीख लिया। यह मनोवृत्ति मुसलमानों में यहाँ तक बढ़ गयी कि धार्मिक मुस्लिम आक्रामक तैमूर ने दिल्ली के मुस्लिम राज्य पर आक्रमण करने के लिए इसी को बहाना बना लिया। दूसरा कारण यह है कि सुल्तान लोग साहूकारों से ऋण माँगते थे। वे न केवल आमदनी अपितु, वाह्य जगत से, सभ्य जीवनयापन के लिए सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए व्यापार वाणिज्य को विकसित करना चाहते थे। इनमें हिन्दुओं ने नेतृत्व किया और इस प्रकार सामाजिक समागम का दूसरा मार्ग प्रस्तुत किया। तीसरा कारण यह है कि मुसलमान इस देश में अधिक संख्या में नहीं आए थे। विशेषतः वे अपने साथ स्त्रियाँ नहीं लाए थे। स्वभावतः हिन्दू–मुसलमान में अकसर विवाह होने लगे। उदाहरण के लिए, अलाउद्दीन खिलजी ने गुजरात के राजा की हिन्दू पत्नी रानी कमला देवी से विवाह किया था। कमला देवी

के पूर्व पति से जो लड़की थी उसका विवाह, बाद में, अलाउद्दीन के ज्येष्ठ पुत्र खिज्रखां से हुआ था। हिन्दू स्त्रियों ने नए घरों में जाकर अपनी सामाजिक प्रथाएँ प्रचलित करदीं। साथ ही, गांव के लोगों ने मुसलमान हो जाने के बावजूद भी अपनी प्रथाओं को जारी रखा और वे अपने हिन्दू भाइयों से खुलकर मिलते जुलते रहे। चौथा कारण यह है कि मुसलमान और हिन्दू सन्तों के अनुयायी दोनों धर्मों के मानने वाले हुए। इसके फलस्वरूप सामाजिक रस्म-रिवाजों का विनिमय हुआ। पाँचवाँ तथा अन्तिम कारण यह है कि बादशाहों ने, विशेषतः प्रान्तीय राजाओं ने, हिन्दू विद्वानों तथा दूसरे लोगों को कलात्मक तथा साहित्यिक संरक्षण दिया। इसके फलस्वरूप भी अनिवार्यतः सामाजिक सम्पर्क (समागम) हुआ। सुल्तान के अंत तक परस्पर एक दूसरे से मिलना-जुलना यहाँ तक आगे बढ़ गया था कि बाबर के समय में सामाजिक सम्मिलन के लिए "हिन्दुस्तानी" ढंग (रहन-सहन) का विकास हो गया। बाबर ने शासक वर्ग तथा जनता में इस सामाजिक सम्मिलन को देखा था। मुस्लिम सम्पर्क के फलस्वरूप सामाजिक विभागों में समानता लायी गयी, धार्मिक प्रवृत्तियों को नई दिशा एवं शक्ति मिली तथा भारत को सामान्य मातृभूमि माना गया। इस काल में भारत की ये रचनात्मक शक्तियाँ मुस्लिम सम्पर्क का परिणाम थीं। अकबर के समय तक इसकी जमीन तैयार हो चुकी थी और अकबर तथा उसके उत्तराधिकारी उसी मार्ग पर चले जिसे उनके तुर्की तथा अफगानी पूर्वजों ने उनके लिए बनाया था। अस्तु, मुसलमानों का यह प्रारम्भिक काल हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क के फलस्वरूप विकसित सामाजिक समन्वय में मुख्य पद-चिन्ह था।

मुसलमानों तथा हिन्दुओं दोनों ने ही विभिन्न लक्षणों को अपना लिया था। यहां उनमें से कुछ का वर्णन किया जाता है। प्रारम्भिक काल में मुस्लिम बादशाहों के दरबारी जीवन एवं समारोहों में कई ऐसे लक्षण मिलते हैं जो हिन्दुओं से लिए गए थे। उदाहरणार्थ, "बुरी आँख" का जादू-टोना प्रचलित था। इसमें और हिन्दुओं की "उतारा" प्रथा में बहुत सामंजस्य है। आरती-उत्सव भी प्रचलित था। इसे "निसार" कहा जाता था और इस उत्सव पर सोने और चांदी के सिक्कों तथा बहुमूल्य जवाहरात से भरे थाल लेकर बादशाह के सिर पर से उन्हें कई बार उतार कर गरीबों में बांट दिया जाता था। साथ ही, दरबारी शिष्टा-चार तथा अनुशासन के फलस्वरूप अहले दौलत (शासकवर्ग), अहले

सआदत (बुद्धिजीवी वर्ग), अहले मुराद (मनोरंजन करने वाला वर्ग) आदि विभिन्न वर्गों के लिए दरबारों में बैठने की क्रमवार पृथक–पृथक व्यवस्था होने लगी। हिन्दू राज्यों में भी यह व्यवस्था अपनाई गयी। धीरे–धीरे हिन्दू लोग उच्च शासकीय पदों पर नियुक्त होने लगे। बाबर ने एक ऐसे हिन्दू का वर्णन किया है जिसकी उपाधि "खानेजहाँ" थी और जो मुग़लों को परेशान किया करता था। हेमू नामक एक हिन्दू अफ़गानों का सेनापति था। जब वह अफगानों के एक दल को पराजित करके लौटा था तब उसके सुल्तान ने उसे "विक्रमादित्य" की उपाधि तथा कई पुरस्कार दिए थे। राजपूत सरदार राजा और सामंत, विशेषतः काल के अन्त में मित्र हो गए थे।

वंशानुगत हिन्दू मठों में गुरुओं और चेलों की जो व्यवस्था थी उसी के अनुसार मुसलमानों में न केवल पीर या शेख के पदों का जन्म हुआ बल्कि पीरज़ादा और मखदूमज़ादा (पीरों और शेखों के वंशज) की प्रथा प्रचलित हो गयी। मुहम्मद तुग़लक सरीखे मुसलमान बादशाह अपनी आभ्यन्तरिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए हिन्दू योगियों और साधुओं के पास पहुँचने लगे।

हिन्दू राजाओं ने मुसलमानों की दास–प्रथा के कुछ तत्वों को अपना लिया। मुसलमानों में भी जाति प्रथा का विकास होने लगा। मुसलमानों के विभिन्न वर्ग एक दूसरे से पृथक और एक ही नगर में अलग–अलग क्षेत्रों में रहने लगे। गजेटियर आफ इन्डिया के लेखक के शब्दों में "जाति-प्रथा भारत की वायु में प्रविष्ट है, इसके संक्रामक कीटाणु मुसलमानों तक में फैल गए और मुसलमानों में हिन्दू ढंग पर ही इसका विकास हो गया। दोनों सम्प्रदायों में विदेशी तत्व समाज में सबसे ऊँचे होने का दावा करते हैं। हिन्दुओं में यह परम्परागत प्रथा थी कि उच्च वर्ग के पुरुष निम्न वर्ग की स्त्री के साथ विवाह कर सकते थे। ठीक इसी प्रकार मुसलमानों में भी प्रथा प्रचलित हो गयी। एक सैयद शेख की लड़की से शादी कर सकता है परन्तु वह अपनी लड़की शेख को नहीं दे सकता। निम्न वर्ग नियमित जाति के आधार पर संगठित हैं। इनमें ऐसे सलाहकार तथा अधिकारी होते हैं जो जाति के नियमों का उचित सख्ती से पालन कराते हैं। इनमें बहिष्कार की प्रथा भी प्रचलित है। "पारस्परिक सम्पर्क के फलस्वरूप नई–नई जातियों तथा उपजातियों का जन्म हो गया। सुल्तानों

के विदेशी तथा भारतीय मुस्लिम सामन्तों में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष था। जिस समय मुहम्मद तुग़लक ने अपने शासन का उग्र प्रजातंत्रीकरण किया था, इतिहासकार बारनी तथा अन्य लोग उससे क्रुद्ध हो गए थे।

जाति प्रथा पर मुसलमानों की टक्कर से दो प्रकार के फल हुए। पहली यह कि उदार और जनप्रिय धर्म का पुनरोदय हुआ और उच्च जातियों को सुविधाएँ दी गयी। दूसरी यह कि जाति प्रथा में कठोरता आगयी और विशेषतः निम्न जाति के लोगों की दशा दयनीय एवं चिन्तनीय हो गयी। साथ ही समाज में सीधे विभाजन हो गये। कहा जाता है कि इस्लाम ने प्रारम्भ से ही भारतीय समाज को, नीचे से ऊपर तक, दो टुकड़ों में विभाजित कर दिया। ये ही टुकड़े आज दो पृथक राष्ट्र माने जाते हैं।

जहाँ हिन्दुओं ने मुसलमानों को जाति-प्रथा दी वहीं मुसलमानों ने हिन्दुओं को पर्दा प्रथा दी। यह प्रथा हिन्दुओं में कब से आई इसका अन्वेषण करने के प्रयत्न कुछ लोगों द्वारा किये गये हैं। श्री जाफर महाभारत में द्रौपदी को पर्दा करते हुए दिखाते हैं परन्तु इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि "पर्दा प्रथा का वर्तमान व्यवस्थित रूप मुसलमानों के शासनकाल से विकसित हुआ।"[१] रज़िया का उदाहरण प्रसिद्ध है और यह इस बात को सिद्ध करता है कि शाही हरम में पर्दा-प्रथा थी। फिरोज़शाह ने दिल्ली से बाहर के मकबरों पर स्त्रियों के जाने पर रोक लगा दी थी। स्त्रियाँ कपड़ों से ढकी हुई पालकी में बाहर निकलती थीं। पुरी के राजा रुद्र प्रताप की रानियाँ ऐसी ही पालकी में "चैतन्य" के दर्शन के लिए गयीं थीं।

कुछ मुसलमानों, सामन्तों (जागीरदारों, दरबारियों) ने जौहर प्रथा तक को अपना लिया था। उदाहरणार्थ, भटनायर के सूबेदार कमलुद्दीन तथा उनके दरबारियों ने अपनी स्त्रियों और सम्पत्ति को जला दिया था और उसके बाद वे तैमूर से लड़ने गये थे।

वेश-भूषा में भी विनिमय तथा परिवर्तन हुआ था। मुसलमानों के उच्च वर्गों में हिन्दू पगड़ी तथा हिन्दुओं के उच्च वर्गों मे मुस्लिम वेश-भूषा प्रचलित हो गयी थी। मुसलमानों ने हिन्दुओं की स्नान, हाथ-मुँह धोने, उत्सवों पर स्नानादि करने की प्रथा को अपना लिया था। हिन्दू

त्योहारों की कई विशेषताओं को भी मुसलमानों ने अपना लिया था। डाक्टर अशरफ़ के अनुसार शब्बेरात संभवतः हिन्दुओं की शिवरात्रि की नक़ल है। सुल्तानों ने इसे शीघ्र ही अपना लिया था और यह तीव्रगति से फैल गयी थी। कई हिन्दुओं ने कुछ कुप्रथाओं को भी अपना लिया था। उदाहरण के लिए अस्वास्थ्यकर योनि-सम्पर्क भी प्रचलित हो गया था। मलिक काफ़ूर से अलाउद्दीन का ऐसा सम्बन्ध प्रसिद्ध है।

अस्तु, सुल्तान-काल के अन्त तक दोनों सम्प्रदायों के बीच सामाजिक सम्बन्धों का विकास होता है और एक के उच्चवर्ग और निम्नवर्ग के लोग दूसरे सम्प्रदाय के उच्चवर्ग तथा निम्नवर्ग के लोगों मे मिलते हुए पाये जाते हैं। भारतीय संस्कृति पर इस्लाम के प्रभाव के फलस्वरूप जाति-प्रथा कठोर हो गयी और पर्दा-प्रथा व्यवस्थित हो गयी। परन्तु इसकाल में ये प्रवृत्तियाँ केवल रचनात्मक स्थिति में थीं। मुग़लकाल में ये पूर्णतः विकसित हो गयीं और इनके वर्तमान स्वरूप हो गये। इसलिए मुग़लकाल सामाजिक दृष्टि से भी अधिक महत्वपूर्ण है।

मुग़लकाल में समाज में धन-धान्य-सम्पत्ति आदि की विपुलता अपनी चरम-सीमा पर पहुँच गई थी। सामंतों और जागीरदारों के पास अपार धन हो गया था और वे विलासिता में मग्न थे। परन्तु उच्च वर्ग को देखते हुए निम्न वर्ग की जनता अत्यधिक निर्धन थी।

अकबर की तुष्टीकरण की धार्मिक नीति तथा जनता में एकता या सामाजिक समिश्रण लाने की इच्छा के कारण दोनों मुख्य सम्प्रदायों में विचारों के आदान-प्रदान हुए तथा हिन्दुओं को शासन-व्यवस्था में उचित भाग दिया गया। इस प्रकार, इस्लाम की पहले की कट्टरता और अंध-विश्वास का अन्त हो गया था। हिन्दू और मुसलमान दोनों एक दूसरे की प्रथाओं की प्रशंसा करने लगे थे और उन्होंने एक दूसरे के रस्म-रिवाजों को, जहाँ तक संभव था, अपना लिया था। अकबर हिन्दुओं या मुसलमानों में बाल-विवाह, निकट सम्बंधियों में विवाह तथा बहु-विवाह को प्रोत्साहन नहीं देता था और वह इन विवाहों को हतोत्साहित करता था। उसने यह व्यवस्था करदी थी कि विवाह के पूर्व वर तथा कन्या की स्वीकृति भी प्राप्त कर ली जाय। दहेज और सती प्रथा को भी वह प्रोत्साहन नहीं देता था और इन प्रथाओं को वह हेय समझता था। हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के उत्सवों और त्योहारों में सुल

कर भाग लेते थे। अधिकाधिक हिन्दू स्त्रियों के विवाह मुसलमान शासकों (बादशाहों) के साथ किए जाते थे। उसने हिन्दुओं को विधवा-विवाह तक की स्वीकृति दे दी थी। उसने गोवध तथा घृणित जजिया कर का उन्मूलन कर दिया था। वह सूर्य की पूजा करता था और अपने मस्तक पर हिन्दुओं की भाँति चन्दन-तिलक आदि लगाता था। वह रक्षाबन्धन और दीवाली सरीखे हिन्दू त्योहार मनाता था और कुछ निश्चित दिनों पर माँसाहार नहीं करता था।

उसके उत्तराधिकारियों ने हिन्दुओं के प्रति प्रेम तथा सहिष्णुता की उसकी नीति का अनुकरण किया था और दाराशिकोह के समय में यह घनिष्ठ सामाजिक सम्बन्ध (बन्धुत्व) अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। अपने जीवन भर वह हिन्दुओं के धर्म और दर्शन संबंधी ज्ञान की खोज करता रहा। विशेषतया, वह आत्म-ज्ञान के अन्वेषण में संलग्न रहा। इस उद्देश्य से उसने न केवल संस्कृत ग्रंथों का फारसी में अनुवाद कराया अपितु उसने हिन्दू सन्यासियों का भी साथ किया। उसका विश्वास था कि हिन्दू और मुस्लिम आत्म-ज्ञान में केवल मौखिक अन्तर है। और ये दोनों आत्म-ज्ञान संबंधी विचारधारायें जहाँ मिलती हैं उसे दिखाने के लिए उसने "मज्माउल-बहरायन" लिखा था।

दोनों सम्प्रदायों में इस निकट सम्पर्क के फलस्वरूप सामान्य सामाजिक रस्म-रिवाज प्रचलित हो गए। मुसलमानों में आज तक उन प्रथाओं के अवशेष जीवित हैं जो हिन्दुओं से ली गयी थीं। काश्मीर भ्रमण करते हुए जहाँगीर को वहाँ कुछ ऐसे मुसलमान मिले थे जिनके सरदार हिन्दू राजाओं के ढंग पर रहते थे और जिनमें विधवाओं को जला डालने की प्रथा (सती-प्रथा) जैसी हिन्दू प्रथाएँ प्रचलित थीं। उनमें हिन्दुओं के साथ अंतर्जाती विवाह भी प्रचलित थे। आगरा तथा उसके निकटवर्ती जिलों में मलकाना राजपूतों का एक सम्प्रदाय है। "ये लोग मियाँ ठाकुर कहा जाना पसन्द करते हैं। किन्तु इनके नाम हिन्दू हैं, ये मन्दिरों में पूजा करते हैं, "जय राम" कह कर परस्पर नमस्कार करते हैं, मृतक को जलाते हैं परन्तु इसके साथ-साथ इनमें खतना (मुसलमानी) की प्रथा भी प्रचलित है। गुजरात में कच्छ के मैमन लोग हैं जो माँस नहीं खाते, उनमें खतना की प्रथा नहीं है, ब्रह्मा, विष्णु शिव (हिन्दू त्रिदेव) की पूजा करते हैं और इमामशाह को, जिन्होंने उनको मुसलमान बनाया था, ब्रह्मा का अवतार मानते हैं। भारत के अन्य भागों में भी इसी

प्रकार की स्थिति पायी जाती है। उत्तर प्रदेश में अनेक मुसलमान "कालका सहजा माई" की पूजा करते हैं। अमृतसर के "मिरासी" दुर्गा भवानी तथा बंगाल के तुर्क नवास लक्ष्मीदेवी की पूजा करते हैं। मैसूर के मुसलमानों में, ग्रामीण क्षेत्रों में, हिन्दुओं की संयुक्त परिवार की प्रथा प्रचलित है। सामान्य धार्मिक विश्वास तथा कर्मकांड के कई मत भी प्रचलित हैं। उदाहरणार्थ, पीरजादाओं के धार्मिक ग्रन्थों में चुने हुए हिन्दू लेख हैं और वे विष्णु के दसवें अवतार की पूजा करते हैं। इस मत की स्थापना सातवीं शताब्दी में हुयी थी। पंजाब के "शम्सी" वाह्यतः पूर्णरूपेण हिन्दू हैं परन्तु वे हिन्दु त्रिदेव के अवतार के रूप में आगाखाँ की पूजा करते हैं।

इस्लाम के विचार सादे, सरल, निश्चित और स्पष्ट थे जिसके कारण इसने कई हिन्दुओं को प्रभावित किया। इसका सामाजिक प्रजातंत्र जाति प्रथा के बंधन से मुक्ति पाने का सुन्दर उपाय था। इसलिए भी हिन्दू इससे अधिक प्रभावित हुए। परन्तु, यदि पूर्णरूपेण अध्ययन किया जाय तो इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि हिन्दू धर्म ने इस्लाम में उससे बहुत अधिक परिवर्तन किए हैं जितना कि इस्लाम ने हिन्दू धर्म में किये हैं।

हिन्दुओं ने (विशेषतः उच्चवर्ग) शीघ्र ही मुसलमानों की वेशभूषा तथा उनके अहारों को अपना लिया था। हिन्दुओं में पुलाव, बिरियानी तथा मध्यपूर्व के अन्यान्य प्रकार के खाद्य–पदार्थ प्रचलित हो गये। निराले फल–फलहरी, रहस्यपूर्ण आसव आदि प्रचलित हो गये थे तथा पाक-कला में नई–नई विधियाँ प्रचलित हो गयी थीं। हिन्दुओं तथा मुसलमानों में समान रूप से वे खाद्य-पदार्थ प्रचलित हो गये थे जो फारस के उच्चवर्ग में, रोम, चीन तथा मिस्र के सम्पर्क के फलस्वरूप बहुत समय पूर्व से प्रचलित थे। नानक ने हिन्दुओं में मुसलमानी वेशभूषा तथा रहन–सहन के ढंग पाये थे। पायजामा तथा चपकन शिक्षित वर्ग में प्रचलित हो गये थे। हिन्दू परिवारों में हुक्का पीने तक का रिवाज हो गया था। संक्षेप में, मुसलमानों ने जो वेशभूषा, रस्म रिवाज आदि प्रचलित किये थे वे विदेशी नहीं रह गये थे तथा हर जगह उच्चवर्ग ने उनको अपना लिया था।

अस्तु, हिन्दुओं ने मुसलमानों के सामाजिक जीवन तथा रस्मरिवाज पर और मुसलमानों ने हिन्दुओं के सामाजिक जीवन तथा रस्मरिवाज पर

जो प्रभाव डाले थे वे उल्लेखनीय हैं। श्री राजेन्द्रप्रसाद ने "डिवाइडेड इंडिया" नामक अपनी पुस्तक में बिहार के कुछ उदाहरण लेकर यह प्रकट किया है कि जन्म, मृत्यु तथा विवाह आदि सामाजिक संस्कारों में ये दोनों सम्प्रदाय एक दूसरे के कितने निकट आ गये हैं। यहाँ इस संबंध में कुछ उदाहरण हम प्रस्तुत कर रहे हैं। पुत्र-जन्म के अवसर पर कुछ गीत गाये जाते हैं जिन्हें "सोहर" कहा जाता है। दोनों सम्प्रदायों की स्त्रियाँ ये गीत गाती हैं। गर्भावस्था में स्त्रियाँ खाद्य-पदार्थों को नहीं स्पर्श करती हैं जो अन्य लोग खाते हैं। ऐसा माना जाता है कि घर में भूत-प्रेतों का आगमन होता है। बच्चों के बाल काट दिये जाते हैं। मुसलमानों में भी ये सब प्रथाएँ प्रचलित हैं।

हिन्दुओं में विवाह-समारोह बड़े उत्साह तथा धूम-धाम से मनाना जाता है। इस्लाम में इस कार्य में सादगी रहती है, परन्तु उनमें भी वर-यात्रा, समारोह, तड़क-भड़क, धूमधाम, दावत तथा विवाह में हँसी-मजाक आदि की हिन्दू प्रथाएँ प्रचलित हो गयीं। उदाहरणार्थ, मुसलमानों में भी जब वर-पक्ष के लोग कन्या-पक्ष के घर पर जाते हैं तब वे अपने साथ "सोहागपुरा" नामक एक प्रकार की टोकरी ले जाते हैं जिसमें, ठीक हिन्दुओं की भाँति, मसाले, फल, मिठाइयाँ, रंगीन सूत (कलावा), चावल आदि वस्तुएं रहती हैं। इसी प्रकार मृत्यु के बाद भी मुसलमानों में, कुछ ऐसी क्रियाएँ की जाती हैं जो हिन्दुओं की क्रियाओं से मिलती-जुलती हैं। मलाबार के "मोपला" लोग हिन्दू क़ानून पर चलते हैं और उन पर हिन्दू क़ानून लागू होता है। दोनों सम्प्रदायों की स्त्रियाँ कई प्रकार के सामान्य आभूषण पहनती हैं। "उपर्युक्त वर्णन से ऐसा प्रतीत होगा कि दोनों सम्प्रदायों ने एक दूसरे पर काफी प्रभाव डाला था।"

अन्य क्षेत्रों की भाँति इस क्षेत्र में अकबर ने बड़ा योगदान किया था। उसने दो भिन्न सम्प्रदायों के स्थान पर एक भारतीय राष्ट्र (क़ौम) की सृष्टि करने का प्रयास किया था। बारतोली के शब्दों में "एक शासक द्वारा शासित साम्राज्य के सदस्यों का परस्पर विभाजित रहना अनुचित है। इसलिए, हमें सबको इस ढंग से एक बनाना चाहिए ताकि वे एक तथा सब रहें, उनको इस बात की पूर्ण सुविधा रहे कि एक धर्म के लोग दूसरे धर्म की अच्छाइयों को ग्रहण कर सकें। इसलिए ईश्वर की भक्ति करनी चाहिए। जनता में शान्ती तथा साम्राज्य में सुरक्षा क़ायम रखनी चाहिए।"

साहित्य तथा शिक्षा

अंत में, हम इसका अध्ययन कर रहे हैं कि साहित्य के क्षेत्र में दोनों सम्प्रदायों ने एक दूसरे पर कहाँ तक प्रभाव डाला।

पहली बात यह है कि अकबर के पहले मुस्लिम आक्रमण मुख्यतः राजनीतिक दृष्टि से दमनात्मक था। जनता (हिन्दुओं) ने धर्म में, जो दुःख के समय जनता की पीड़ाहरन औषधि होती है, मुक्ति (राहत) पाने का प्रयत्न किया। इससे भक्ति का विकास हुआ जिसके फलस्वरूप प्रचुर मात्रा में धार्मिक साहित्य की रचना हुयी। यह साहित्य भारत के विभिन्न भागों की क्षेत्रीय भाषाओं में लिखा गया ताकि सब लोग उसे समझ सकें। इस प्रकार साहित्य के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का एक यह प्रभाव हुआ कि उसने प्रांतीय भाषाओं तथा साहित्य की उन्नति एवं विकास को शक्ति दी। यह भी समझ लेना चाहिए कि कई मुसलमान प्रचलित भाषाओं में लिखने लगे ताकि समस्त जनता उनके उपदेशों की ओर आकर्षित हो सके। इसके फलस्वरूप "हिन्दवी" भाषा का विकास हुआ जो बाद में उर्दू या हिन्दी में बदल गयी। ग्यारहवीं शताब्दी में प्रसिद्ध कवि मसूद अपनी रचनायें हिन्दवी भाषा में लिखते थे।

दूसरी बात यह है कि इसलाम ने उस भाषा को जन्म दिया जो आज "उर्दू" के नाम से प्रसिद्ध है। इसका विकास हिन्दुओं तथा मुसलमानों के विचारों को प्रकट करने के लिए सामान्य माध्यम के रूप में हुआ था।

तीसरी बात यह है कि मुसलमान अपने साथ ऐतिहासिक लेख की परिपाटी लाये थे। भारत के प्रत्येक मुस्लिम राजवंश तथा मुगलों के प्रत्येक बादशाह के शासन काल में जो फारसी इतिहास लिखे गये थे उन्होंने न केवल उन्हीं लोगों को अध्ययन की सामग्री दी थी अपितु हिन्दू लेखकों और राजाओं के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत किया था जिससे उनमें भी इसका शीघ्र विकास हो गया। इस प्रकार भारतीय साहित्य में एक नवीन तथा बहुत उपयोगी तत्व प्रचलित किया गया। यदि सभी इतिहासों, जीवन-चरित्रों तथा पत्रों को ले लिया जाय तो १७वीं और १८वीं शताब्दी में इसका सुन्दर स्वरूप हो गया। यदि इन सामग्रियों का अभाव होता तो, वास्तव में, मध्य कालीन भारत का इतिहास ही न लिखा गया होता।

चौथी बात यह है कि निम्न श्रेणी की नौकरशाही ने एक प्रशासकीय

गद्यशैली प्रचलित कर दी थी। इसमें कायस्थों तथा काश्मीरी ब्राह्मणों ने नेतृत्व किया था और मराठा चिटनिसों तक ने अपनी भाषा में इस गद्यशैली का अनुकरण किया था।

पांचवीं बात यह है कि हिन्दू संस्कृति को समझने के लिए अनेक मुसलमान संस्कृत ग्रन्थों के न केवल फारसी में बल्कि देशीय भाषाओं में भी अनुवाद किये जाने को प्रोत्साहन देते थे। उदाहरणार्थ, बंगाल के मुसलमान राजाओं ने वहाँ की भाषा में संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद कराये थे। इस प्रकार, तेरहवीं शताब्दी के बाद भारत में भारतीय साहित्य का रामानंद द्वारा चालित भक्ति-आन्दोलन के साथ नया पुनरोदय हुआ था।

और आखिरी बात यह है कि कागज, सुलेख तथा हस्तलिपियों को भूषित अक्षरों तथा सुन्दर चित्रों से सजाने की प्रथा प्रचलित करने के साथ-साथ मुसलमानों ने लेखन-कला को प्रोत्साहन दिया। संक्षेप में, भारत में मुसलमानों के आगमन का वैसा ही गंभीर प्रभाव हुआ जैसा कि यूरोप में उस समय हुआ था जबकि तुर्कीवासियों ने कुस्तुन्तुनिया से यूनानियों को भगा दिया था और इन्होंने अपनी सभ्यता को शेष यूरोप में फैलाया।

अब हम इस विषय के कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं कि मुसलमानों ने भारतीय साहित्य में क्या-क्या पूर्तियाँ कीं। भारतीय-मुस्लिम साहित्य के क्षेत्र में मुगलों से पूर्व खुसरो सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति था। खुसरो का कवित्व काल सन् १२५३ ई० से १३२५ ई० तक का है। ये कई भाषाओं, विशेषतः खड़ी बोली और ब्रजभाषा के मिश्रण हिन्दवी के प्रथम सर्वश्रेष्ठ कवि थे। इनमें विभिन्न प्रकार की प्रतिभा थी। ये संगीतज्ञ, कवि, इतिहासकार तथा गद्य-लेखक थे। खुसरो राजदरबारी (सामन्त) तथा विद्वान् माने जाते हैं किन्तु वे जनता के बीच से आये थे और उनमें तभी सच्ची अनुभूति होती थी जब वे जनता के बीच में रहते थे। इसलिए उनका हिन्दवी काव्य सरल है तथा वह जनता को प्रत्यक्ष रूप में आकर्षित करता है। उन्होंने गीतों के रूप में कई पहेलियाँ भी लिखी थीं। इस क्षेत्र में उनका सब से बड़ा योगदान काव्य की सरल शैली प्रस्तुत करना है और यह काव्य तत्कालीन जनता की प्रचलित भाषा के स्वरूप का भी संकेत करता है। उन्होंने अरबी, फारसी, तथा हिन्दवी शब्दों का एक शब्द-कोष भी लिखा था। इस लिए खुसरो को उर्दू का पिता मानना चाहिए।

शेरशाह के शासन-काल में अवध के प्रसिद्ध कवि मलिक मुहम्मद जायसी

की उन्नति हुई। वे सुमधुर अवधी भाषा में अपनी रचनाएँ करते थे और गाते थे। किसी अर्थ में वे अमीर खुसरो तक से श्रेष्ठ थे क्योंकि खुसरो मुस्लिम समाज तक ही सीमित थे किन्तु जायसी ने हिन्दू धर्म और इस्लाम दोनों का गहन अध्ययन किया था। वे भारत के क्षेत्रीय भाषा के सबसे प्राचीन कवि हैं और उनकी रचनाओं की समानता आज भी कोई रचना नहीं कर सकती। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "पदमावत" में उन्होंने चित्तौड़ के राजा रतनसेन की प्रसिद्ध कहानी की, लंका की राजकुमारी पदमावत के साथ राजा के विवाह, अलाउद्दीन खिलजी से उसके युद्ध, अलाउद्दीन द्वारा उसके कारावास, अपनी रानी की चाल से कारागार से निकल भागने, आदि मुख्य-मुख्य घटनाओं का वर्णन किया है।

प्रेम-कहानी के द्वारा जायसी ने "पद्मावत" में सूफीमत के सिद्धांत प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने मुख्यतः जो शैली चलाई थी उसके अनुयायी "मृगावती," के लेखक कुत्बुद्दीन शेख सरीखे लेखक थे। अब्दुर्रहमान, बब्बर, दाऊद सरीखे अन्यान्य मुसलमान कवि भी अपने-अपने समय की क्षेत्रीय भाषाओं में अपनी काव्य-रचना करते थे। धार्मिक साहित्य के क्षेत्र में इनके अतिरिक्त कबीर का नाम सबसे बड़ा है। कबीर के विषय में इसी अध्याय में पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है।

किंतु, भारतीय साहित्य का यह सब प्रोत्साहन मुख्यतः वैयक्तिक प्रयास का परिणाम था, दिल्ली के सुल्तानों में हिन्दू साहित्य अथवा संस्कृति के प्रति कोई प्रेम नहीं था केवल प्रांतों में, कुछ शासकों ने भारतीय शिक्षा में कुछ योग दिया था। इन शासकों में बंगाल के शासक प्रमुख तथा उल्लेखनीय थे। इस संबंध में हम यहाँ पर एन०एन०ला की "प्रोमोशन आफ़ लर्निंग इन इन्डिया" नामक पुस्तक का कुछ अंश उद्धृत करते हैं। "बंगाल के शासकों के प्रयत्न केवल मुसलमानी विद्या की उन्नति तक ही सीमित नहीं थे। उन्होंने विद्या (साहित्य) की प्रगति को एक ऐसे नए स्रोत में ढालने की ओर ध्यान दिया था जिसमें बंगाल-भाषी जनता की विशेष रुचि थी। बंगाल के मुसलमान शासकों का ध्यान सर्वप्रथम रामायण तथा महाभारत की ओर आकृष्ट हुआ था। उन्हीं के आदेश से इन दो वीरगाथाओं का उस प्रदेश की क्षेत्रीय भाषा-बंगला-में अनुवाद हुआ था। बंगाल के नसीरशाह (सन् १२८२-१३२५) के आदेश से महाभारत का प्रथम बंगला संस्करण लिखा गया था। नसीरशाह बंगाल प्रांत की क्षेत्रीय भाषा-बंगला भाषा-के महान् संरक्षक थे। महान् कवि विद्यापति ने उनको अपना एक गीत समर्पित करके उन्हें

अमर कर दिया है।" (पृष्ठ १०७)। "सम्राट हुसेनशाह भी बंगला भाषा के महान् संरक्षक थे। उन्होंने बंगला भाषा में भागवत पुराण का अनुवाद करने के लिए मालाधर बसु को नियुक्त किया था।" हुसेन शाह के पुत्र तथा उनके एक सेनापति परागल खां ने बंगाल भाषा में महाभारत के कुछ अंश का अनुवाद किया था। हिन्दू राजाओं ने भी इन उदाहरणों का अनुकरण किया था। इस प्रकार इन मुसलमान शासकों के प्रयत्नों से बंगला भाषा अपने निजी रूप में आ गयी थी।

शिक्षा के क्षेत्र में, शासकों ने इसके लिए कोई पृथक विभाग नहीं रखा था। उन्होंने इसे धार्मिक विभाग के अन्तर्गत रक्खा था। परन्तु वे विद्वानों तथा पाठशालों एवं महाविद्यालयों (मकतबों तथा मदरसों) को अनुदान–आर्थिक सहायता–दिया करते थे। फिरोजशाह द्वारा स्थापित मदरसे तथा जौनपुर के मदरसे सबसे आधिक विख्यात थे। ऐसा नहीं प्रतीत होता कि इस्लामी शिक्षण-संस्थाओं या शिक्षण-सिद्धान्तों ने भारतीय शिक्षा पर कोई प्रभाव डाला था। इसके बावजूद भी दोनों में बहुत बड़ा सामंजस्य था। जिस प्रकार हिन्दू पंडित लोग छात्रों को अपने घर पर शिक्षा देते थे, ठीक उसी प्रकार मौलवी लोग भी अपने घर पर विद्यार्थियों को पढाया करते थे। जिस प्रकार मन्दिरों में पाठशालाएं होती थीं उसी प्रकार मस्जिदों में मक़तब होते थे। जिस प्रकार हिन्दूओं में शिक्षा के क्षेत्र में वैय-क्तिक कार्य होता था उसी प्रकार मुसलमानों में भी शिक्षा के क्षेत्र में वैयक्तिक कार्य होता था। दोनों के पाठ्यक्रमों में, विशेषतः प्राथमिक शिक्षा में, भी बहुत व्यापक सामंजस्य था। प्राथमिक शिक्षा में, सामंजस्य भी था स्त्रियों को भी शिक्षा दी जाती थी, परंतु घर पर। ऐसा नहीं प्रतीत होताकि सुल्तान-काल में एक ही शिक्षण-संस्था में हिन्दू तथा मुसलमान छात्रोके पढने को प्रोत्साहन दिया जाता था।

परन्तु, जब सुल्तान-काल समाप्त होता है तब भारतीय शिक्षा एवं साहित्य के प्रति मुसलमानों के रूख में परिवर्तन देखने को मिलता है जब कि इसके पहले कुतुबुद्दीन ऐबक का सेनापति बख्त्यार खिलजी नालन्दा तथा नदियां के बौद्ध विश्वविद्यालय को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, अनेक विद्वानों की हत्या कर देता है और अनेक ग्रन्थ जला डालता है। फिर भी, दीर्घकालीन संसर्ग, भारतीय-मुसलमानों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि तथा भारत में कई उदार आंदोलनों के प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दुओं और मुसलमानों ने एक दूसरे के विचारों तथा रस्म-रिवाजों को अपना लिया। मध्य काल में भारत में

प्रसिद्ध मुसलमान विद्वान् तथा सन्त लोग रहते थे और कार्य करते थे। उन्होंने इस देश में इस्लामी दर्शन के सिद्धांतों तथा यौगिक शिक्षा (वेदान्त) के बीजारोपण में सहायता की थी। पारस्परिक सद्भावना और जानकारी प्राप्त करने की इच्छा के कारण ही काश्मीर के जैतुल आब्दीन तथा बंगाल के हुसेनशाह सरीखे मुसलमान शासकों के दरबारों में हिन्दू धर्म के साहित्य का अध्ययन तथा अनुवाद आदि किया गया था। मुस्लिम राजदरबार, उपदेशक तथा साधु-सन्त योग और वेदान्त सरीखे हिन्दू दर्शन, ज्योतिषविद्या, औषधिविज्ञान के अध्ययन की ओर आकर्षित हुए थे। इसी प्रकार हिन्दू खगोल विशेषज्ञों ने भी मुसलमानों से पारिभाषिक शब्द, अक्षांश तथा मध्यान्ह रेखा की गणना, पंचांग के कुछ विषय, जन्म-पत्री की "ताजिक" नामक एक शाखा, औषधियों में धातु संबंधी कुछ रसायन-द्रव्य तथा रसायन-विज्ञान की कुछ प्रणालियाँ ली थीं। फारसी, अरबी तथा तुर्की शब्दों एवं संस्कृत से निकली हुयी भाषाओं एवं विचारधाराओं के मिश्रण से उर्दू का विकास हिन्दुओं और मुसलमानों के भाषा संबंधी समन्वय का प्रमाण है। दो संस्कृतियों के इस सम्मिलन के फलस्वरूप कला, निर्माण-कला तथा संगीत में नई-नई शैलियों का विकास हुआ किन्तु उनके मौलिक तत्व प्राचीन हिन्दू ही बने रहे। केवल उनका वाह्य स्वरूप मुस्लिम राजदरबारों के उद्देश्य की पूर्ति के लिए अभारतीय हो गया। इस्लाम के पृष्ठों में कोई एवेंरो, एविसेना, तवरी या मसूदी नहीं हुआ परंतु भारतीय-फारसी साहित्य में कुछ ऐसे महान् साहित्यकारों के नाम हैं जिनके ग्रन्थ आज भी भारत की परम्परागत सम्पत्ति के अंग माने जाते हैं।

अस्तु, सुल्तान-काल साहित्य तथा शिक्षा के क्षेत्र में निर्माणकारी युग था जिसके परिणाम मुग़ल काल में एकत्रित किये गये थे। मुग़लों ने धार्मिक सहिष्णुता की विवेकपूर्ण नीति को प्रारम्भ किया था। इससे आरंभ से ही प्रभाव होता रहा। बाबर ने हुमायूं को जो वसीयतनामा दिया था यहाँ पर हम उसके एक अंश को उद्धृत करते हैं—"ऐ मेरे बेटे! भारत में भिन्न-भिन्न एवं विपरीत धर्मों के मानने वाले लोग रहते हैं। ईश्वर को धन्यवाद है कि बादशाहों के बादशाह ने तेरे हाथ में इस देश का शासन सौंपा है। इस लिए तेरे लिए यह उचित होगा कि:—

१—तू अपने मस्तिष्क को धार्मिक पक्षपात से कभी भी प्रभावित न होने देना और इस देश के सभी विचारों के लोगों की धार्मिक प्रथाओं एवं योग्यताओं का उचित सम्मान करते हुए निष्पक्ष न्याय करना।

२—विशेषतः गोवध से अपने को दूर रखना।

३—किसी भी सम्प्रदाय के पूजा-पाठ के स्थानों को कभी भी नष्ट मत करना।

बाबर के इस वसीयतनामा की एक प्रतिलिपि भोपाल सरकार के राजकीय पुस्तकालय में है।

हुमायूं ने सतर्कतापूर्वक इस नीति का अनुकरण किया और कालिंजर का हिन्दू राजा पहली बार साम्राज्य का एक सामन्त बनाया गया। अकबर के आधीन इस नीति को पूर्णतः कार्यान्वित किया गया। और अकबर के समय में हिन्दू साहित्य पर इस्लाम का और मुस्लिम साहित्य पर हिन्दू का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि एक लेखक ने इसे "क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्य का आगस्टन युग" तक कह डाला है। इस अध्याय के इस विभाग के प्रारम्भ में जिन प्रभावों का वर्णन किया गया है वे इस काल में पूर्णतः अपना काम कर रहे थे। उदाहरणार्थ, अकबर ने मनोहर, जयतराम, बीरबल, होलराय, टोडरमल राजा भगवानदास, राजा मानसिंह, नरहरि, गंगा तथा अन्य कई हिन्दू विद्वानों को संरक्षण दे रखा था। तानसेन तथा बिलास, नानक, सूरदास और रंगसेन को जो प्रोत्साहन दिया था वह उल्लेखनीय है। मुकुन्द, महेश, जगन, हरिबंस और राम सरीखे हिन्दू चित्रकारों को भी उसका संरक्षण प्राप्त था।

संस्कृत के अनेकानेक ग्रन्थों के अनुवाद किये जा चुके थे। उदाहरण के लिए नक़ीबखां, अब्दुलक़ादिर, हाजी, फ़ैजी तथा अन्य लोगों ने मिलकर 'महाभारत' का अनुवाद किया था। अब्दुलक़ादिर ने 'रामायण' का, हाजी इब्राहिम ने 'अथर्ववेद का, फ़ैजी ने 'लीलावती' का, नसरुल्ला मुस्तफा तथा हुसियानी वायज ने 'पंचतन्त्र' का अनुवाद किया था। "नल-दमयन्ती" का भी फ़ारसी छन्दों में अनुवाद हुआ था। एक सहस्र वर्ष के इतिहास के अतिरिक्त सिंहासन बत्तीसी, राजतरंगिणी तथा खगोल-विज्ञान संबंधी कुछ ग्रन्थ भी अनूदित किये गये या लिखे गये थे।

आलम, जमाल, क़ादिर, मुबारक, रहीम जैसे कई मुसलमान लेखकों ने हिन्दी में या भारतीय विषयों पर अपनी पुस्तकें लिखी थीं। इनमें रहीम सबसे प्रसिद्ध थे। इनका पूरा नाम अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना था। ये हिन्दी के महान् कवि हैं। साथ ही ये फ़ारसी, अरबी तथा संस्कृत के पूर्ण विद्वान् थे। ये इतने दानी और उदार थे कि एक बार इन्होंने हिन्दी के महान् कवि गंगा को पुरस्कार-

स्वरूप ३६लाख रुपए दे दिए थे। इनके उपदेश तथा नीति युक्त छन्द बहुत प्रसिद्ध हैं।

रहीम ने फ़ारसी में कुछ पुस्तकें तथा संस्कृत में कुछ छन्द लिखने के अतिरिक्त हिन्दी में लगभग आठ पुस्तकें लिखी हैं। उनकी कविताओं में उन्हें मानव–जीवन की समस्याओं का पूर्ण ज्ञान होने का प्रतिबिंब प्रकट है। वे ब्रजभाषा तथा अवधी एवं हिन्दी काव्य की कई शैलियों के अधिकारयुक्त विद्वान थे। बिहारी सरीखे कई महान हिन्दी कवियों तक ने रहीम के कई छन्दों के विचारों की चोरी की है। अस्तु, कबीर के बाद रहीम भारतीय-मुस्लिम साहित्य के सर्वश्रेष्ठ विद्वान थे।

सभी बादशाह ग्रंथों के महान् संग्रहकर्ता थे और वे सब प्रकार के लेखों को प्रोत्साहन देते थे। इतिहास, चरित्रोपाख्यान तथा कहानी आदि का बहुत प्रचलन हो गया था। चित्रकारों द्वारा पुस्तकें सुन्दर-सुन्दर चित्रों तथा रंग बिरंगे अक्षरों से सजा दी गयीं। सुलेख-कला भी खूब प्रचलित हो गई और वह उत्कृष्ट भी हो गयी। अकबर के रूप में भारत ने पहली बार एक ऐसा महान् मुसलमान बादशाह पाया था जो समान दृष्टि से हिंदुओं और मुसलमानों की शिक्षा को आगे बढ़ाने के लिए उत्सुक रहता था। उसके शासनकाल में हिन्दू-मुसलमान दोनों एक ही विद्यालय में पढ़ते थे। इन विद्यालयों में राजा तथा उसके परामर्शदाताओं द्वारा बताए गए अच्छे तरीकों से शिक्षा दी जाती थी। राजकीय संरक्षण के अधीन अनेकानेक मक़तब और मदरसे खुल गये। जाति-धर्म-भेद किये बिना छात्रोंको वृत्तियाँ तथा आर्थिक अनुदान दिये जाते थे।

दारा हिन्दुओं तथा उनके साहित्य को संरक्षण देता था यह पहले ही बताया जा चुका है। उसने अपनी अंगूठियों पर हिन्दी में "प्रभु" शब्द खुदवा रखे थे। जहाँगीर तथा शाहजहाँ ने भी हिन्दी साहित्यकारों को दिया जाने वाला संरक्षण जारी रखा था। जहाँगीर के समय में अहमद तथा सुन्दरदास प्रसिद्ध हिन्दी साहित्यकार थे। सुन्दरदास को शाहजहाँ ने "महाकविराज" की उपाधि दी थी।

इस काल में "दक्षिण" से हिन्दी गद्य-भी आगया था और गद्य लिखने का विकास भी प्रारंभ हो गया था। दक्षिण में गेसू दराज बन्दा नवाज शहबाज बुलन्द ने विक्रम संवत १३९३ में सर्वप्रथम हिंदी गद्य लिखना प्रारंभ किया था। अकबर के समय में, उत्तर में सर्वप्रथम "भुवनदीपक" तथा "चन्द छन्द वर्णन की महिमा" नामक हिन्दी गद्य की पुस्तकें लिखी गयी थीं।

स्त्री-शिक्षा को भी प्रोत्साहन दिया जाता था। हुमायूं की बहिन गुलबदन, नूरजहाँ, मुमताजमहल (शाहजहाँ की बेगम) तथा औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा और जहाँनारा नामक विदुषी महिलाएँ साहित्यकारों में थीं।

अस्तु, मुग़लकाल में भारतीय इस्लाम ने भारतीय संस्कृति के सामान्य भंडार में आश्चर्यजनक योगदान किये थे। अकबर द्वारा हिन्दुओं को संरक्षण दिये जाने का अनुकरण हिन्दू राजाओं ने भी किया था। इसलिए, इस काल में जीवन के सभी क्षेत्रों में हिन्दू प्रतिभा खूब पल्लवित हुई थी।

भारतीय संस्कृति पर इस्लाम के प्रभाव के वर्णन से संबंधित यह अध्याय अब समाप्त होता है। उक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस्लाम केवल विध्वंसक यंत्र ही नहीं अपितु, सभ्यता का प्रचारक (मिशन) भी था। सर सुलतान अहमद ने लिखा है कि "आज कल हिन्दूओं और मुसलमानों में जो मतभेद हैं उनसे इन दो सम्प्रदायों में मुग़लों के अधीन प्रारंभ होकर शताब्दियों तक जो ऐतिहासिक बन्धुत्व चला था उसके अन्त हो जाने का ख़तरा उपस्थित हो गया है। इस बात को शायद ही कभी महसूस किया जाता है कि हिन्दुस्तान को खंडित करना इस देश में मुस्लिम शासन के इतिहास के एक रचनात्मक अंग के विरुद्ध कार्य करना होगा। सुदूर अतीत के भारतीय नेताओं तथा विचारकों ने इन दोनों धर्मों में समता स्थापित करने का प्रयास किया था। राजकुमार दाराशिकोह ने दोनों की तुलना एक साथ मिल कर बहने वाली दो नदियों (मज्मुल बहरीन) से की थी। कबीर और नानक ने इन दोनों धर्मों को एक में मिला देने का प्रयत्न किया था। इन दो महान् सन्तों ने अपनी प्रार्थनाओं में "अल्लाह और राम" के नामों को साथ-साथ रखा था। हिन्दू तथा मुस्लिम कलाकारों ने ऐसे सामान्य कला-कौशलों को प्रचलित किया जो हिन्दू-मुसलमान दोनों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। आनंद और सौन्दर्य संबंधी सामान्य धारणाएं विकसित की गयी थीं।"

मुसलमान भारत भूमि के सन्तान हो गये थे। परंतु, औरंगजेब ने इस चक्र को विपरीत दिशा में घुमा दिया जिससे तत्कालीन भारतीय राजनीति को भारी धक्का लगा। फिर भी, भारतीय राजनीतिक एकता उतनी ही आवश्यक है कि जितनी साँस्कृतिक एकता। और इनकी पूर्ति में ही भारत की मुक्ति है। इस काल में भारतीयता का जो पुनर्जन्म हुआ उसकी कुछ सामान्य विशेषताओं का वर्णन करके हम इस अध्याय को समाप्त कर रहे हैं। बाद के मध्य कालों

में मुसलमान बादशाहों का आधिपत्य था। इसलिए ऐसा प्रतीत हो सकता है कि इन कालों ने हिन्दुओं पर समान प्रभाव डाला है परंतु तथ्यों का अध्ययन करने पर यह बात सत्य नहीं सिद्ध होती। यद्यपि केन्द्र में हिन्दुओं का प्रभाव नहीं था तथापि परिधि पर (प्रांतों में) हिन्दु धर्म का सुदृढ़ प्रभाव था। यह प्रभाव धीरे-धीरे केन्द्र में भी पहुंच गया। हिन्दुत्व के इस पुनर्जन्म तथा सुधार में कई जागृत मुसलमानों, राजाओं, सामंतों तथा साधारण लोगों की नीतियाँ सहायक अंग थीं। विशेषतः मुग़लों के आगमन के बाद भारत में हिन्दू या भारतीय संस्कृति के देदीप्यमान स्मारक हो गये। धर्म, साहित्य और कला के क्षेत्र में हम यहाँ पर इनमें से कुछ स्मारकों का अध्ययन कर रहे हैं।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि धर्म के क्षेत्र में मध्यकालों में भक्तिवाद का आधिपत्य था। कुछ लेखकों का मत है कि भारत में इस्लाम के प्रभाव से इस भक्ति-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ परंतु, हम यह बता चुके हैं कि यह स्वतंत्र आन्दोलन था और इसका सूत्रपात भागवत गीता से माना जा सकता है। परंतु, इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस आन्दोलन का एक अंग हमें सूफीमत से मिला था। परन्तु, इस अंग में भी ऐसे तत्व हैं जो भक्ति-वाद की अन्य विचारधाराओं में पाये जाते हैं। सूफीवाद द्वारा प्रेरित इस विचार धारा में केवल यही अन्तर है कि इसमें एकेश्वरवाद पर बहुत जोर दिया गया है तथा अवतारों के सिद्धांत, पूजा-पाठ (कर्मकांड), मूर्ति-पूजा और जाति-प्रथा का खंडन किया गया है। परंतु, उपनिषदों के व्यापक दर्शनों में ये तत्व भी मिलते हैं। इस विचारधारा के मुख्य प्रवर्तकों के विषय में पहले ही बताया जा चुका है।

इसकाल में (१२००-१७००) भक्ति-वाद की सभी क्षेत्रों में प्रगति जारी रही और इसके अनेक स्वरूप हो गये। हाल में ही "सिद्धों" का एक अन्य मत प्रचलित हुआ जो भक्ति-धर्मों के सन्तों के अगुआ माने जाते हैं। ये "सिद्ध" नाथ पंथियों से संबंधित थे। नाथ-पन्थियों के प्रधान गुरु गोरखनाथ हैं जो शाक्त-मत के बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। दक्षिण में भक्ति-वाद केवल शिक्षित वर्ग तक ही सीमित रहा, परंतु, उत्तर में, आम जनता में इसका प्रसार हो गया और इसमें कुछ अशुद्धताएं भी आ गयीं।

इसी काल में सिक्ख धर्म नामक एक नये मत का उदय हुआ। नानक के विषय में पहले ही बताया जा चुका है। नानक के बाद कई गुरू हुए। इन गुरुओं में गुरू गोविन्द सिंह सब से अधिक प्रसिद्ध हुए। इन्होंने ही सिक्ख-धर्म को दृढ़

आधारशिला रखी। पाँचवें गुरू अर्जुनदास अपने अनुयायियों का संगठित समुदाय बनाने वाले पहले गुरु थे। इन्होंने अमृतसर स्थित "अमरत्व का सागर" के निर्माण को पूरा किया था। इन्होंने अपने से पहले के गुरुओं तथा कई हिन्दू मुसलमान सन्तों के लेखों को संग्रहीत किया था। यही संग्रह "पवित्र ग्रन्थ साहब' कहा जाता है जो सिक्खों का प्रमुख धार्मिक ग्रन्थ है। जहाँगीर के हाथों से ये शहीद हुए थे। इससे सिक्खों में क्रोध और उत्तेजना फैल गयी थी जिस के कारण सिखों के समुदायने सैनिक समुदायका रूप धारण कर लिया। नवें गुरु तेग़बहादुर भी औरंगजेब के हाथों शहीद हुए थे। दसवें गुरु गोविन्दसिंह ने अपने अनुयायियों को समुचित सैनिक समुदाय के रूप में संगठित किया और "खालसा" सम्प्रदाय को जन्म दिया। तलवार के संस्कार से लोग इस सम्प्रदाय में शामिल होते थे। इसके बाद ही पंजाब में "सत श्री अकाल" (ईश्वर सत्य है) का सिक्खों का नारा सुनाई पड़ने लगा और मुग़लों के विरुद्ध होने वाले युद्धों में सहस्त्रों लोग शामिल हो गए। बाद में रणजीत सिंह के अधीन इन्होंने अपना एक पृथक राज्य स्थापित कर लिया। सन् १७०९ में गुरु गोविंद सिंह की मृत्यु हो गयी।

जिस प्रकार औरंगजेब की धर्मान्धता की प्रतिक्रिया के रूप में उत्तर में लड़ाकू सिक्ख धर्म की उन्नति हो रही थी ठीक उसी प्रकार दक्षिण में मराठों की लड़ाकू राष्ट्रीयता की उन्नति हो रही थी। इन दोनों के पीछे धार्मिक प्रेरणा थी। ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम तथा रामदास के नेतृत्व में चलने वाले महाराष्ट्र के धार्मिक आन्दोलन पर पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है। रामदास ने ही मराठों में राष्ट्रीयजागृति पैदा की थी और शिवाजी ने मराठों की एक सेना संगठित की थी।

मराठों ने अपना साहित्य विकसित किया था और हमारे प्राचीन अतीत के अन्वेषण को प्रोत्साहन दिया था। उन्होंने राजनीति, कूटनीति का आविष्कार किया था और अपनी सरकार में उन्हीं का उपयोग किया था।

जिस प्रकार उत्तर और दक्षिण में राजपूत, मराठा तथा सिक्खों ने औरंगजेब की धार्मिक दमन-नीति का राष्ट्रीय विरोध संगठित किया था उसी प्रकार पूर्व मुग़ल काल में विजयनगर राजवंश ने भी यही कार्य किया था। इस राज्य के महान् राजा दक्षिणी गढ़ के रक्षक थे और उन्होंने भारतीय संस्कृति को शुद्ध रूप में जीवित रखा था। यह राज्य हिन्दुत्व तथा संस्कृत एवं प्रादेशिक भाषाओं के पुनर्जन्म का केन्द्र था और हिन्दू साम्राज्य के सनातन सिद्धांत का घोषित उत्तराधिकारी था। बाद में जिस वैष्णवधर्म का प्रसार हुआ उसका इस राज्यवंश से निकट संबंध रहा। इस वंश के राजाओं ने जो मंदिर बनवाये थे और देश

भर में जो दान दिये थे वे तत्कालीन जनता की धार्मिक भावना के प्रमाण हैं। इस राज दरबार में सायण सरीखे महान् टीकाकार तथा विचारक और माधवाचार्य सरीखे महान् न्याय-शास्त्री रहते थे। सायण वेदों के अंतिम महान् टीकाकार थे और माधवाचार्य का "पाराशर माधवीय" अधिकारपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। इस वंश की रानियाँ भी प्रसिद्ध लेखिका तथा विदुषी थीं रानी गंगादेवी "मधुर विजयम्" की लेखिका थीं। इस वंश के सर्वश्रेष्ठ राजा कृष्णदेव राय स्वयं विद्वान तथा लेखक थे। इन राजाओं के संरक्षण में तेलगू तथा कन्नड़ भाषा का विकास भी हुआ था। इस राजदरबार के प्रसिद्ध कवि "पेदान" आज भी तेलगू भाषा के पिताओं (जन्मदाताओं) में माने जाते हैं। इस प्रकार, इस राज्य ने दक्षिण भारतीय संस्कृति का समन्वय प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार उत्तर में मेवाड़ के राजपूत हिन्दू संस्कृति के संरक्षक थे और कुंभ तथा संग्राम सरीखे अनेक प्रसिद्ध राणा मुस्लिम आक्रमण के विरुद्ध हिन्दू धर्म के रक्षक थे। राणा कुंभ स्वयं गीतगोविन्द के टीकाकार, 'संगीतराज' (संगीत-कोष) के लेखक तथा संस्कृत की असंख्य कविताओं के रचयिता थे। महाराणा प्रताप, जो हिन्दू भारत के देवता माने जाते हैं, के शासन काल में यह स्थिति पराकाष्ठा पर पहुँच गयी थी।

साहित्य के क्षेत्र में भी हिन्दू संस्कृति ने भारत के कुछ महानतम व्यक्तियों को जन्म दिया और इस काल में भारत के विभिन्न भागों के क्षेत्रीय साहित्य की सुदृढ आधारशिला रखी गयी। हिन्दी में तुलसी दास और सूरदास, बंगला में चन्डीदास और विद्यापति, उर्दू में खुसरो, मराठी में तुकाराम, गुजराती में नरसी मेहता आदि इसी काल के साहित्यकार हैं।

हिन्दू संस्कृति न केवल धर्म या साहित्य के क्षेत्र में अपितु कलाओं के क्षेत्र में भी महान् थी। इस कालमें हिन्दू संस्कृति ने उत्कृष्ट कलाओं का भी विकास किया। इस काल में विजय नगर, राजपूताना तथा वृन्दावन में बड़े-बड़े मंदिर बनवाये गये। एक नये प्रकार की चित्रकला का विकास इसी काल में हुआ जिसे आनन्द के० कुमारस्वामी ने "राजपूत चित्रकला" का नाम दिया है।

इस काल के संस्कृत साहित्य के विषय में हमने कुछ विशेष नहीं लिखा है परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि उस समय संस्कृत मृतभाषा थी। उस समय जैन धर्म की खूब उन्नति हो रही थी और गुजरात के हेमचन्द्र सूरी सरीखे महान् लेखक थे जिन्होंने संस्कृत में अपने ग्रन्थ लिखे थे। इसके अतिरिक्त, मुगल काल तक में, बनारस हिन्दू मस्तिष्क (बुद्धि) के उल्लेखनीय पुनरोदय का केन्द्र था।

धर्मशास्त्रों और नीतिशास्त्रों की नयी-नयी विचारधाराएं प्रचलित हो गयी थीं। और भारत के समस्त स्थानों के विद्वान् बनारस आया करते थे। इन विद्वानों में कवीन्द्राचार्य का नाम उल्लेखनीय है जिनसे मित्रता करने का उद्योग बर्नियर ने किया था। वे महान् कवि और विद्वान् थे तथा प्रतिष्ठित योगी माने जाते थे। वे दारा के एक गुरु और शाहजहाँ के मित्र थे। वे अपने समय के सबसे प्रसिद्ध अध्यापक थे। इस काल में भी विधान पर टीकाएं की गईं और मिताक्षर तथा दयाभाव विधानों का विकास हुआ। अस्तु, इस काल में संस्कृत साहित्य को भी बड़ा बल मिला था।

मध्य काल की मुख्य मुख्य साँस्कृतिक प्रवृतियों का अध्ययन करने के बाद इस काल का अध्ययन समाप्त होता है। उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो गया है कि भारत का मध्य काल धुंधला, अप्रसिद्ध या अंधकारपूर्ण नहीं था। यह अंधकार युग नहीं था। यूरोप में जो धार्मिक दमन (उग्र रूप में) चल रहा था वह भारत में नहीं था यह प्रत्यक्ष है, अन्यथा उत्तर प्रदेश में केवल १४ प्रतिशत मुसलमानों के रहने तथा लगभग ६०० वर्षों तक उनके यहाँ राज्य करने का स्पष्टीकरण हम कैसे कर सकते। भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव पूर्ण तथा दूर तक पहुँचने वाला था। इस्लाम ने यहाँ के क्षेत्रीय साहित्यों की उन्नति को जमीन तैयार करने के साथ-साथ भक्ति के एक नये मत को प्रचलित किया था, एकेश्वरवाद का प्रचार किया था, निर्माणकला तथा चित्रकला के नए-नए स्वरूप प्रचलित किया था तथा भारतीय समाज और असाम्प्रदायिक भारतीय साहित्य का आधुनिककरण किया था। इसने हमको उर्दू भाषा तथा दरबारी आचार व्यवहार दिया। किंतु यह बता देना उचित होगा कि जहाँ वाह्य रूप में इस्लाम भारत पर आधिपत्य जमाता हुआ दिखाई देता है वही यह भारत की आत्मा को अपने अधीन करने में असमर्थ तथा असफल रहा। इसके विपरीत इसका अपना स्वरूप इतना बदल गया कि आज भारतीय मुसलमानों का इस देश के बाहर के मुसलमानों से कहीं अधिक हिन्दुओं से सम्पर्क है। परन्तु मध्य काल का दुःखद अन्त हुआ। औरंगजेब की नीति ने मुग़ल साम्राज्य की मृत्यु की घंटी बजा दी थी। और अठारहवीं शताब्दी (विशेषतः उत्तरार्ध) भारतीय इतिहास का सबसे अधिक अंधकारपूर्ण युग था। यही इस बात का द्योतक है कि हमारी संस्कृति में अभी भी किसी वस्तु का अभाव था। अतीतकाल में हमनें आत्मा तथा भौतिकता का जो समन्वय तथा सन्तुलन किया था वह अस्तव्यस्त हो गया था और इस रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए एक दूसरी सांस्कृतिक शक्ति की आवश्यकता थी।

१—"इन्फ्लुएन्स आफ़ इस्लाम आन इंडियन कल्चर"—डा० ताराचन्द पृष्ठ १३७ ।

२—"दी दीनइलाही"—राय चौधरी—पृष्ठ १४३ ।

३—"दि विजन आफ इंडिया"—पृष्ठ ११४–११५ ।

४—"इंडिया थ्रू दि एजेज"—श्री यदुनाथ सरकार—पृष्ठ ४१ ।

५—"इन्फ्लुएंस आफ़ इस्लाम आन इंडियन कलचर"—डा० ताराचन्द पृष्ठ २४३ ।

६—"दि गज़ेटियर आफ इंडिया" (वालूम २) पृष्ठ ३२९ ।

७—"लाइफ एन्ड कन्डीशन आफ़ पीपुल आफ़ हिन्दुस्तान"—के० एम० अशरफ—पृष्ठ २४४ ।

८—"इंडिया डिवाइडेड"—राजेन्द्र प्रसाद—पृष्ठ ३८–४८ ।

९—"प्रोमोशन आफ़ लर्निंग इन इन्डिया"—एन० एन० लॉ —पृष्ठ १०७ ।

आधुनिक-काल

पन्द्रहवाँ अध्याय

आधुनिक संस्कृति

आधुनिक भारतीय संस्कृति का वर्णन करने के पूर्व आधुनिक काल के राजनीतिक इतिहास पर संक्षिप्त प्रकाश डाल देना उचित होगा। जिस समय भारत में मुग़ल साम्राज्य स्थापित किया जा रहा था उस समय यूरोप की मध्यकालीन निद्रा भंग हो रही थी और पुर्तगीज़, स्पेनवासी और अंग्रेज धन-प्राप्ति, व्यवसाय-वाणिज्य या साम्राज्य प्रसार के लिए यूरोप के बाहर साहसिक यात्राओं पर निकल रहे थे। भारत में पन्द्रहवीं शताब्दी में सर्वप्रथम पुर्तगीज़ लोग पहुँचे थे। उन्होंने भारत में आकर अरब व्यापारियों के व्यापार को दबा दिया और गोआ जैसे स्थानों में, जो आज भी भारत स्थित पुर्तगीज़ बस्तियों की राजधानी है, अपने उपनिवेश तथा कोठियाँ बना लिये।

सोलहवीं शताब्दी में ही पुर्तगीज़ों को नील के व्यापार में डचों तथा अंग्रेज़ों की प्रतिद्वन्दिता का सामना करना पड़ा। वे इन दोनों कौमों से परास्त हो गये। डचों का मुख्य स्वार्थ मसालों के द्वीपों तक ही सीमित रह गया और भारतीय व्यापार पर अंग्रेज़ों का एकाधिपत्य हो गया। हाकिन्स और सर टामसरो के द्वारा अंग्रेज़ों ने मुग़ल सम्राट जहाँगीर से कुछ सुविधाएं प्राप्त कर लीं और उन्होंने सूरत में अपनी मुख्य कोठी स्थापित कर ली अंग्रेजों के बाद फ्रांसीसी लोग भारत में आगये और सन् १६२२ ई० में उन्होंने भी सूरत में अपना व्यवसाय प्रारंभ कर दिया।

राजनीतिक दृष्टि से, औरंगजेब के बाद मुग़ल साम्राज्य के पतन के साथ ही भारत में अंग्रेज़ों ने अपना सर उठाया। इस प्रयत्न में उनको अन्य यूरोपवासियों, विशेषतः फ्रांसीसियों, से तथा उन भारतीय राजाओं से संघर्ष करना पड़ा जो मुग़ल साम्राज्य के पतन के बाद स्वतंत्र हो गये थे। सन् १७४४ से सन् १७६३ के बीच अंग्रेज़ों और फ्रान्सीसियों में कई युद्ध हुए। इन युद्धों के बाद फ्रान्सीसी हार गये। इस के बाद फ्रान्सीसियों के विरोध का मूल्य नगण्य रहा। वेलेज़ली के समय में तथा नेपोलियन (प्रथम) के पराजय के बाद यह विरोध भी शान्त हो गया। जहाँ तक भारतीय राज्यों का सम्बन्ध है, भारत पुनः विभिन्न शासकीय शक्तियों के बीच होने वाले युद्धों का युद्ध क्षेत्र बन गया था। इन शक्तियों में मराठे,

निज़ाम, मैसूर के राजा, हैदरअली और टीपू प्रमुख थे। इन लोगों ने इस बात को महसूस नहीं किया था कि एकता में ही उनकी मुक्ति निहित थी। इसका परिणाम यह हुआ कि ये लोग एक एक करके अंग्रेजों से हार गये और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के अंत तक लगभग सम्पूर्ण भारत पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। सिक्ख लोग सब के बाद अंग्रेजों से पराजित हुए थे। भारत के सभी अप्रभावित तत्वों ने अंग्रेजों के विरुद्ध एक हो जाने का प्रयास किया और सन् १८५७ में विद्रोह कर दिया परंतु यह प्रयत्न ग़लत ढंग से किया गया जिसके फलस्वरूप आगामी ९० वर्षों के लिए भारत में अंग्रेजों की सार्वभौम सत्ता रही। विशेषतः वेलेज़ली के समय में मुगल सम्राट का कोई अस्तित्व नहीं रह गया था। सन् १८५७ तक ईस्ट इंडिया कम्पनी ने एक गवर्नर-जनरल के द्वारा भारत में शासन किया था। इन गवर्नर-जनरलों में अनेक महत्वपूर्ण व्यक्ति थे। इनमें सबसे पहला व्यक्ति क्लाइव था जो पहली बार सन् १७५७ में और दूसरी बार सन् १७६५ में गवर्नर हो कर आया था। वारेन हेस्टिंग्स सन् १७७२ में गवर्नर तथा सन् १७७४ से सन् १७८५ तक गवर्नर-जनरल थे। सन् १७९९ से सन् १८०५ तक वेलेज़ली और सन् १८४८ से सन् १८५६ तक डलहौजी गवर्नर-जनरल थे। ये लोग ब्रिटिश भारत के निर्माता माने जाते हैं। सन् १८५७ के विद्रोह के पूर्व कैनिंग अन्तिम गवर्नर-जनरल थे जो १८५७ के बाद भारत के प्रथम वाइसराय हुए। विद्रोह के पूर्व के काल में कार्नवालिस और बेन्टिंक सरीखे सुधारक गवर्नर-जनरल आये थे।

विद्रोह के बाद भारत सरकार की बागडोर ब्रिटिश सम्राट के हाथ में चली गयी। विद्रोह के बाद, आर्थिक, राजनीतिक और प्रशासकीय दृष्टि से भारतीय साम्राज्य के संगठन तथा भारतीयता के पुनरोदय ये दो विषय मुख्यतः अध्ययन के योग्य हैं। इस काल में ब्रिटिश पालियामेन्ट ब्रिटिश मंत्रिमंडल के एक सदस्य सेक्रेट्री आफ स्टेट फार इंडिया के द्वारा भारत का शासन करती थी। इसी के नियंत्रण में गवर्नर-जनरल रहते थे। रिपन (१८८०–८४) तथा कर्जन (१८९९–१९०६) इन गवर्नर-जनरलों में सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। प्रगतिशील पश्चिम से भारतीयों का सम्पर्क हो जाने के फलस्वरूप भारतीयों में अपने को स्वतंत्र करने की इच्छा उत्पन्न हो गई क्यों कि स्वतंत्र होने पर ही वे जीवन के हर क्षेत्र में अपनी अभिलाषाओं को पूर्णा कर सकते थे। यहाँ राजनीतिक क्षेत्र में सन् १८८५में स्थापित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा शासकों में जो संघर्ष हुआ वह भी अध्ययन का मुख्य विषय है। अंग्रेजों ने सन् १८६१, १८९२, १९०९, १९१९ और १९३५में कुछ सुविधाएं देकर तथा वैधानिक सुधार करके भारतीयों

ो स्वतंत्रता की माँग को पूरा करने का प्रयास किया परंतु, वे हमारी अभिलाषाओं ो पूर्ति करने में असफल रहे और सन् १९०५ से भारतवासियों को अपनी माँग ो पूरा करने के लिए संघर्ष में आतंकवाद और सत्याग्रह या सविनय अवज्ञा असहयोग) आन्दोलन सरीखी सीधी कार्यवाहियाँ करनी पड़ीं। असहयोग ान्दोलन महात्मा गाँधी से सम्बन्धित है जो सन् १९२० में, तिलक की मृत्यु ; बाद, सब से अधिक महत्वपूर्ण भारतीय नेता हो गये। काँग्रेस मुसलमानों के ध्यवर्ग का पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं करती थी क्यों कि वे सामान्यतः अंग्रेजों के फादार थे और मुस्लिम लीग नामक उनकी अलग राजनीतिक संस्था थी। न् १९३७ के बाद काँग्रेस और मुस्लिम लीग एक दूसरे की कटु विरोधी हो गयीं ौर कुछ समय बाद मुसलमानों के लिए पृथक राज्य (भारत में) की माँग मारे समक्ष आ गयी। सन् १९४७ ई० में जब अंग्रेज भारत से चले गये और ारत तथा पाकिस्तान नामक दो सार्वभौम राष्ट्र हो गये तब मुस्लिम लीग ; उद्देश्य की प्राप्ति हो गयी। पाकिस्तान का जन्म संघर्ष (फूट) में हुआ था ौर आज तक इन दोनों देशों में संघर्ष चल रहा है। भारतीय इतिहास हमें यह बक देता है कि केवल एकता से ही सम्पूर्ण भारत का स्थायी कल्याण हो सकता । ये दोनों देश आज भी उसी सबक का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

सोलहवाँ अध्याय

पश्चिम और भारत

आधुनिक काल में पश्चिम ने मुख्यत : अंग्रेजों के द्वारा भारत में प्रवेश किया और इसलिए पश्चिम के भारत के सम्पर्क की कहानी उस भारत-ब्रिटिश बन्धुत्व के साथ गुथी हुयी है जिसका विकास मुगल साम्राज्य के पतन के बाद प्रारंभ हो गया था। जहाँ तक शासकीय शक्ति का संबंध है, इस बन्धुत्व के तीन चरण या युग हैं जिनमें तीन रूख थे। अंग्रेजों के विजयोन्माद की समाप्ति के उपरान्त, अंग्रेजी राज्य के प्रथम पचास वर्षोंमें एक रुख भारतीयोंके प्रति बेपरवाही का था। सामाजिक या धार्मिक क्षेत्रों में हस्तक्षेप करके अपने विरूद्ध तूफान खड़ा कर देने की इच्छा उनमें नहीं थी। इसका कारण यह भी था कि इस काल में ऐसे प्रसिद्ध विद्वान प्रशासक हुए थे जिनमें विश्व-सम्यता के इस केन्द्र के प्रति कुछ श्रद्धा थी। ज्योंही उन्नीसवीं शताब्दी आगे बढ़ी, यह रुख बदल गया और इंगलैंड में भौतिक तथा वैज्ञानिक प्रगति की उन्नति से उत्पन्न स्वार्थी तथा उदार दर्शन के दबाव के अन्तर्गत इस बात को महसूस किया गया कि भारतीय बहुत अन्ध विश्वासी और असभ्य हैं, भारतीय संस्कृति से कोई अच्छाई नहीं निकाली जा सकती और उनमें अवश्य सुधार किया जाना चाहिए। इस विचारधारा के प्रतिनिधि मेकाले थे। राजनीति तथा प्रशासन में यह विचार धारा डलहौजी के समय में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी किंतु, सन् १८५७ के विद्रोह ने अंग्रेजों को भयभीत कर दिया इस प्रकार तृतीय चरण का प्रारंभ हुआ जबकि नई बात को प्रचलित करने के उत्साह को रोक दिया गया। अंग्रेज हमको सहिष्णुता और घृणा के मिश्रित भाव से देखने लगे। इसलिए, पश्चिमी सभ्यता की अच्छाइयों को भारत में लाने में अंग्रेजी शासन का प्रत्यक्ष योगदान बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं रहा।

इसके बावजूद भी ब्रिटिश सत्ता ने भारतीय सभ्यता को प्रभावित किया। सर हेनरी मैन का कथन है कि "अपने अप्रत्यक्ष तथा अधिकांशतः अनिच्छित प्रभाव के द्वारा ही ब्रिटिश सत्ता ने सामाजिक विचारों तथा आचार-व्यवहारों को अपने अन्दर पचा लिया। हम प्रायः परिवर्तन करते हैं क्योंकि हम उसे रोक नहीं सकते। उक्त प्रभावों में जिन्हें हम 'प्रगति' कहते हैं, चाहे जो भी

मूल्य अथवा स्वरूप हो, इससे अधिक कोई निश्चित बात नहीं हो सकती कि जब किसी समाज को यह स्पर्श करता है तब संक्रामक कीटाणु की भांति इसका प्रसार होता है।"

भारत में अंग्रेजों के कार्य विध्वंसात्मक एवं रचनात्मक दोनों थे। उन्होंने अतीत की उन ग्रंथियों को, जिन्होंने हमें बाँध रखा था और जिनके कई अणु अब भी अवशिष्ट हैं, तोड़ कर प्राचीन भारतीय समाज को खंडित तथा चूर-चूर कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि हम आज भी कुछ नए सिद्धांतों के द्वारा भारत को एक करने की समस्या से संघर्ष कर रहे हैं। राजाओं का अन्त होगया वे अप्रभावशाली हो गए ; उच्चवर्ग उनके प्रभाव में तथा प्रशासकीय सत्ता में आ गया; गायक, कलाकार, कारीगर आदि समस्त प्राचीन परम्पराएं गायब होगयीं या उनका अन्त हो गया। भारत के नवीन शासन में निर्माण करने की प्रवृत्ति थी तथा गाँवों तक पहुँचने के लिए उसके पास सरल साधन थे। यातायात तथा सम्पर्क-साधन विकसित थे। इसलिए, यह शासन भारत में सर्वत्र पहुँच गया और इसने, इच्छा न होते हुए भी, युगों से चले आने वाले ग्राम-संघटनों का उन्मूलन कर दिया तथा उनको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। अनियंत्रित तथा नवीन आर्थिक शक्तियों का भयंकर खेल शुरु हो गया उसने प्राचीन संसार को छिन्न-भिन्न कर दिया। इन्हीं नयी आर्थिक शक्तियों को पूंजीवाद कहा जाता है। पूंजीवाद ने नए-नए बाजार बना लिए, इसकी नई-नई कार्यप्रणालियाँ प्रचलित हो गयीं, नये-नये यातायात तथा सम्पर्क साधन हो गये और इसमें तीव्र गति से मूल्य-परिवर्तन होने लगे। परन्तु, प्राचीनता को पूर्णतः नष्ट नहीं कर दिया गया था और कई ऐसी प्राचीन रूढ़ियाँ भी जीवित हैं जो हमारी चिन्ता तथा समस्याओं को और बढ़ाती हैं। हमारे यहाँ आज भी जाति-व्यवस्था, भाषावार विभाजन, साम्प्रदायिक समस्या तथा वैमनस्य पैदा करने वाली अनेक धार्मिक तथा सामाजिक प्रथाएं अब भी विद्यमान हैं।

अंग्रेजी शासन का रचनात्मक अंग भी था। इसने राजनीतिक रूप में भारतीय एकता के विचार को पुनर्जन्म दिया और भारत की एकता पर पुनः जोर दिया गया। साथ ही, आधुनिक शासन-यंत्र की सृष्टि की गयी और व्यक्तिगत वफ़ादारी के स्थान पर संस्थागत वफादारी आ गयी जो इन दिनों खतरे में है। न्याय-विधान निर्धारित किए गए, यद्यपि इन विधानों के अन्तर्गत प्रायः प्रशासन अन्धाधुन्धी करता था। इन विधानों

को न्यायालयों तथा विधि-पुस्तकों द्वारा कार्यान्वित किया जाता था। हम इसकाल की तुलना मध्ययुग से कर सकते हैं जबकि बलवानों के पक्ष में सदा न्याय होता था। अंग्रेजों ने हमें प्रतिनिधि संस्थाएँ भी दीं। सांस्कृतिक क्षेत्रों में, अंग्रेजी भाषा के प्रयोग तथा अंग्रेजी स्कूल–कालेजों की स्थापना के इतने अधिक प्रभाव हुए कि उनकी गणना नहीं हो सकती। इन्हीं संस्थाओं के द्वारा भारत के युवकों के मस्तिष्क में यूरोपीय उदारवाद से सम्बन्धित व्यक्तिवाद, कल्पनावाद, मानवतावाद, राष्ट्रीयतावाद आदि विभिन्न विचारधाराओं के पौधों का बीजारोपण किया गया।

आर्थिक क्षेत्र में, शान्ति से व्यापार तथा वैयक्तिक उद्योगों की वृद्धि की जिसके फलस्वरूप व्यावसायिक तथा औद्योगिक प्रतिष्ठानों एवं बैंकिंग व्यवसाय की प्रगति हुयी। नये–नये वर्गों का जन्म हो गया। इस काल में मध्यम श्रेणी नामक एक विशेष वर्ग का जन्म हुआ जो मध्यकाल में नहीं था। इस वर्ग ने उस मुख्य स्रोत का काम किया जिससे होकर पश्चिमी प्रभाव भारत में आये। भारत के प्रेसों तथा समाचारपत्रों ने इसको अपने विचारों को प्रचारित करने तथा इसे सामान्य बन्धन में बाँधने में सहायता पहुँचायी। इस वर्ग ने अस्पृश्यता–निवारण, विधवा-विवाह, विधवा–सदन एवं कन्या पाठशालाएँ खोलने, अनाथालय एवं अन्धालय खोलने, पर्दा प्रथा उन्मूलन, जाति–व्यवस्था–उन्मूलन बहुविवाह-निषेध, बाल–विवाह उन्मूलन आदि के सामाजिक आन्दोलनों के नेता का भी काम किया।

अभी तक हमने भारत में अंग्रेजी शासन के प्रभावों का साधारण रूप में अध्ययन किया है। अब हम इन दो सभ्यताओं या संस्कृतियों के सम्पर्क के कुछ परिणामों का सविस्तार अध्ययन करेंगे।

हमारी संस्कृति अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक ह्रास–मान, दुर्बल तथा मृतप्राय हो गयी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय एक ऐसे युग का उदय हुआ था जिसमें अराजकता थी और उसी अराजकता ने यूरोपवासियों को हमारे यहाँ प्रविष्ट होने का अवसर दिया। इस युग में धर्म और कला, विज्ञान एवं दर्शन के क्षेत्रों में हमारा रचनात्मक उत्साह मर चुका था। हमारा बौद्धिक ज्ञान भी मर चुका था या केवल मात्र पण्डितवाद के रूप में परिवर्तित हो गया था। जिस प्रकार तेरहवीं

शताब्दी में इसमें जागृति पैदा करने के लिए विदेशी आक्रमण आवश्यक हो गया था ठीक उसी प्रकार १९वीं शताब्दी में भी हमारी सांस्कृतिक निद्रा को भंग करने लिए विदेशी आक्रमण की आवश्यकता हो गयी थी।

आर्थिक परिणाम

अब, हम पश्चिमी प्रभावों के परिणामों का विश्लेषण कर रहे हैं। आर्थिक दृष्टि से, पश्चिम ने भारत में पूँजीवाद को प्रचलित किया, यद्यपि हम बंगाल से वह धन भेजते थे जिसके कारण औद्योगिक क्रान्ति के आधार पर इंगलैंड में पूँजीवाद की प्रगति हुयी। उस समय हमारा देश ग्राम अर्थ-व्यवस्था से निकल रहा था और यहाँ के व्यवसाय, वाणिज्य तथा उद्योगों का विकास हो रहा था। किन्तु हमारे अपरियक्व तथा अविकसित उद्योगों को पश्चिम के क्षुधार्त्त तथा शक्तिशाली पूँजीवाद का मुक़ाबला करना पड़ा। भारतीय उद्योग नष्ट कर दिये गये और हमारे देश को पुनः उसी ग्राम्य अर्थव्यवस्था की शरण में जाना पड़ा जिससे वह निकलने का प्रयास कर रहा था। बलात् स्थापित की गई शान्ति के साथ कृषि–जीवन में पुन: जान डालने से तत्कालीन वर्तमान कठिनाइयाँ बढ़ गयी तथा नई–नई समस्याएँ पैदा हो गयीं। भारत की जनसंख्या बढ़ गयी परन्तु देश को धन–धान से खाली कर दिया गया। केवल जमीन देश की पूरी आबादी के लिए कभी भी उचित व्यवस्था नही कर सकती। जमीन केवल उन समाजों के लिए व्यवस्था कर सकती हैं जो प्रारम्भिक स्थिति में हैं। इस प्रकार, अंग्रेजों ने भारत की सभ्यता के चक्र को उलट देने का प्रयास किया। परन्तु, पश्चिम से हमारा जो सम्पर्क हुआ उसने हमारे समक्ष अपरिमित सम्भावनाओं के चित्र को प्रस्तुत कर दिया। वर्तमान युग में ही हम जापानी तथा अमरीकी पूँजीवाद के उदय को देख चुके ह और किस प्रकार ये दोनों देश सभ्यता के अग्रदूत बन गये यह भी हम देख चुके हैं। इस प्रकार हमारी आर्थिक स्थिति तथा भौतिक शक्तियों ने भारत के बुद्धिजीवियों तथा मध्यमवर्ग को स्वशासन (स्वराज्य) की मांग करने के लिए जागृत कर दिया ताकि हमारे यहाँ भी उद्योगों को प्रचलित किया जा सके और हमारा देश भी धनी हो सके। दूसरे शब्दों में, पश्चिम भौतिक सभ्यता के जिस उच्चतर स्तर पर पहुँच चुका था उसने भारत के लिए एक चुनौती तथा प्रेरणादायक शक्ति का काम किया।

इसके साथ–साथ हमने पश्चिम से समाजवाद या साम्यवाद के आर्थिक सिद्धांत प्राप्त किये। भारतीय निर्धनता की नवीन जागरूकता हमारे नेताओं तथा विचारकों दोनों के लिए चिन्तनीय विषय हो गई है। नई पीढ़ी ने इन सिद्धान्तों को ज्यों–का–त्यों अपना लिया। अतीत काल में हमारे देश में "जनता की स्थिति के प्रश्न" को पीछे छोड दिया गया था और आर्थिक सिद्धान्तों के इतिहासकारों का यह आरोप कुछ हद तक न्यायोचित है कि भारत के तत्कालीन शासक जनता की भौतिक स्थिति को सुधारने के प्रश्न के प्रति उदासीन तथा लापरवाह थे। हमारा देश आर्थिक रूप में बहुत पिछड़ा हुआ था। यह भी एक कारण था जिससे कि भारत में सम्प्रदायिकता का जन्म हो गया। चूंकि हिन्दू लोग पहले धनवान या जमीदार (जैसे कि बंगाल) हो गये थे, इसलिए भारत के उच्चवर्ग के मुसलमानों के लिए "इस्लाम खतरे में है" के बहाने से गरीब मुस्लिम जनता को उनके विरुद्ध भड़काना आसान था। प्रत्येक युग या काल में कुछ प्रभुत्वपूर्ण (प्रमुख) प्रवृत्तियाँ रहती हैं। आधुनिक काल में आर्थिक प्रवृत्ति जोरदार है, इसलिए स्वभावतः भारतीय समाज में आर्थिक प्रश्न व्यापक रूप में प्रकट हो गये। अतः इस क्षेत्र में पश्चिमी सभ्यता के हम जितने ऋणी हैं उसे भुलाया नहीं जा सकता। हाँ, इन आर्थिक सिद्धान्तों को हम अपनी सामाजिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओं में कहाँ तक विलीन कर पाये हैं, यह दूसरा प्रश्न है। आज हमें पश्चिम यह शिक्षा दे रहा है कि यदि हम अपने उद्योगों, कला, यातायात–साधन, बैंकिंग, शस्त्रास्त्र आदि को आधुनिक रूप नहीं देते तो हमारे लिए प्रगति के समस्त मार्ग बन्द हो जायेंगे। अतीत काल की ग्राम्य अर्थव्यवस्था के पूरक के रूप में विस्तृत औद्योगिक अर्थव्यवस्था अवश्य अपनायी जानी चाहिए। हम इसे कितनी अच्छी तरह कर सकते हैं यह दूसरा प्रश्न है, क्योंकि हमारे यहाँ मतभेद हैं और हमारा देश पूंजीवाद, समाजवाद तथा सांम्यवाद के संघर्षरत सिद्धान्तों का अखाड़ा बन गया है।

सामाजिक परिणाम

सामाजिक क्षेत्र में, पश्चिम के प्रभाव ने या तो बचाऊ उलझाव पैदा कर दिया है या सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया की गति को और अधिक तेज कर दिया है। हमारे यहाँ रूढ़िवादी, पुनरोदयवादी या अतीत की ओर वापस

ले जाने वाली विचारधाराएँ हैं जो हमारे उस सामाजिक ढाँचे में पश्चिम के प्रवेश के प्रति हमें सावधान करती हैं जो दीर्घकाल से विभिन्न युगों और भिन्न-भिन्न मत के मनुष्यों के आक्रमण का मुक़ाबला करता चला आ रहा है और जिसने अपनी दृढ़ता तथा सम्मिलन की परम्परा को आज तक बनाए रखा है। दूसरी ओर, हमारे बीच में सामाजिक चिन्तन की प्रगतिशील विचारधाराएँ हैं जो हमें समाज के एक बहुमत वर्ग पर अस्पृश्यता की मुहर लगाए रखने या भारतीय स्त्रियों को पुरुषों के बराबरी का दर्जा न देने से उत्पन्न होने वाले खतरों से सावधान करती हैं। दूसरे शब्दों में, हममें सामाजिक चेतना जागृत कर दी गयी है। इसके अतिरिक्त, पश्चिम ने हमारे मध्यम वर्गों को एक नया स्वरूप दे दिया है। मध्यमवर्गों की असन्तुलित वृद्धि आधुनिक भारत की सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना है। वे बेचैन, आलोचक तथा व्यक्तिवादी हैं। आजकल वे मध्यमवर्ग ऊपर उठ कर पूँजीपतियों की श्रेणी में पहुँचने या और नीचे गिर कर सर्वहारा की श्रेणी में पहुँच जाने को बाध्य हैं। जो इन दोनों स्थितियों में से किसी में भी अपने को नहीं खपा पाते वे तानाशाह या पलायनवादी हो जाते हैं। उन्होंने पश्चिमी समाज की वास्तविकता को समझे बिना पश्चिम के रहन-सहन तथा रस्मरिवाज को अपना लिया।

वैज्ञानिक रूप

वैज्ञानिक क्षेत्र में, पश्चिम ने हमको जीवन का गतिशील दृष्टकोण, वैज्ञानिक शिक्षा तथा चिन्तन का वैज्ञानिक मार्ग दिया है। जैसा कि हम मध्य कालों के अन्त तक देख चुके है, हमारा समाज स्थिर होता जा रहा था। सामूहिक विचारधारा, जिसका प्रतिनिधित्व न्यूनाधिक स्वाधीन जातियाँ करती हैं, संयुक्त परिवार तथा गाँवों का स्वशासित सामुदायिक जीवन ये सब बातें हमारी सामाजिक व्यवस्था की मुख्य अंग थीं। ये सब बातें आज तक अपनी असफलताओं के बावजूद भी इसलिए जीवित है क्योंकि ये मानव स्वभाव तथा समाज की कुछ अत्यावश्यक आवश्यकताओं को पूरा करती हैं। इन्होंने हर समुदाय को सुरक्षा तथा स्थायित्व दिया था और सामुदायिक स्वतंत्रता की भावना दी थी। परन्तु ये विचारधाराएँ तथा व्यवस्थाएँ तब तक जारी रहती है जब तक वे अपने को परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल बना लेती हैं।

हमारे हाल के इतिहास में ऐसा नहीं हुआ। हम लोग सामाजिक नियमों के क़ैदी बन गये। भारत में जिस वस्तु का अभाव था वही वस्तु आधुनिक यूरोप के पास थी और अत्यधिक मात्रा में थी। यह गतिशील तथा प्रगतिशील थी और इसमें जीवन भरा हुआ था। यह सभी क्षेत्रों में वैज्ञानिक प्रगति पर कटिबद्ध थी। इसलिए, विज्ञान ने ज्ञान-वृद्धि के लिए असंख्य मार्ग खोल दिए हैं। विज्ञान ने हमें जिज्ञासा की भावना, परीक्षण की प्रणाली, साहसिक कार्यों एवं कल्पना की हिम्मत दी है। हम लोगों को अपने में वैज्ञानिक दृष्टिकोण, सत्य और नवीन ज्ञान की खोज की मनोवृत्ति, मस्तिष्क का कठोर अनुशासन तथा जीवन के रहस्यों में प्रविष्ट होने की क्षमता को अवश्य पैदा करना चाहिए। ये सभी बातें आधुनिक पश्चिम के द्वारा हमने पुनः प्राप्त कर ली हैं।

साहित्य

साहित्यिक क्षेत्र में भी पश्चिम ने विभिन्न प्रकार से योगदान किये हैं। वास्तव में यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि यूरोपीय विद्वानों के जिस दल ने भारतीय इतिहास तथा साहित्य का अन्वेषण किया था उसके प्रयत्नों के द्वारा ही हमने अपनी प्राचीन सांस्कृतिक सम्पत्ति को खोज निकाला है। अठारहवीं शताब्दी में हम अपने प्राचीन अतीत को पूर्णतः भूल गये थे। वारेन हेस्टिंग्स, सर विलियम जोन्स, सर चार्ल्स विल्किन्स, कोलब्रुक, होरेस विलसन, जेम्स प्रिन्सेप तथा अन्य यूरोपीय विद्वानों के प्रयत्नों से ही प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ न केवल पश्चिमी जगत में अपितु भारत में भी पुनः प्रचलित किये गये।

सन् १८२८ से लेकर १८७० तक की अवधि में प्राच्य विद्या का खूब विकास हुआ। सन् १८३३ से १८४४ तक हॉगसन नैपाल में थे। इस बीच उन्होंने "उत्तरी" बौद्ध धर्म के साहित्य का आविष्कार किया। राथ ने सन् १८४६ में "वेद के इतिहास तथा साहित्य पर एक अद्भुत पुस्तक प्रकाशित की। उन्होंने बार्टलिक के सहयोग से सन् १८५२ में "महान् पीटर्सबर्ग लेक्सिकन" नामक पुस्तक का लिखना प्रारम्भ किया। सन् १८४९-७५ में ऋग्वेद पर मैक्समुलर का वृहत् ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। प्रिन्सेप तथा कनिंघम ने भारतीय कला, लेख तथा पुरातत्व सम्बन्धी हमारे ज्ञान की नींव डाली। सन् १८७० से सन् १९०० के बीच "पूर्व के पवित्र ग्रन्थ,"

ट्रूबनर की प्राच्य ग्रन्थमाला, हारवर्ड प्राच्य ग्रन्थमाला, चाइल्डर का पाली शब्दकोष जैसी अन्य कई प्राच्य अध्ययन सम्बन्धी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इसी बीच राइस डेविड्स, वेबर तथा वियना के बुहलर सरीखे भाषाविदों के कई ग्रन्थ प्रकाशित हुए। बुहलर ने सन् १८९७ ई० से "एन्साक्लोपीडिया आफ इन्डो-आर्यन रिसर्च" का प्रकाशन प्रारम्भ किया था। इस पुस्तक के लिखने में विभिन्न देशों के ३० से अधिक विद्वानों ने योग दिया है।

पुरातत्व-विद्या, मुद्रा परखने की विद्या तथा हमारे इतिहास को प्रकट करने वाले अन्य सूत्रों के क्षेत्र में अंग्रेजों तथा अन्य यूरोपीय विद्वानों ने भी नेतृत्व किया है। अत: भारतीयों ने पश्चिम के द्वारा अपने को ही आविष्कृत किया। साथ ही पश्चिम ने ही हमें मुद्रण यंत्र दिया जो हमारी राष्ट्रीय जागृति का एक दूसरा अस्त्र रहा। शिक्षा के माध्यम रूप में अंग्रेजी भाषा का प्रचलन भी हमारी आधुनिकता की उन्नति का प्रमुख तथा शक्तिशाली अंग रहा। आंग्ल-साहित्य स्वतंत्रता का साहित्य है। हमने इसका गहरा अध्ययन किया और सन् १९१९ के पूर्व के भारतीय राजनीतिज्ञों के भाषणों से अधिक इस विषय पर प्रकाश डालने वाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है। उन्होंने जागरूक रह कर ब्रिटिश नेताओं के विचारों तथा कार्य-प्रणालियों का अनुकरण किया और अपने को वैसा ही बना लिया। इसी अंग्रेजी भाषा के द्वारा हमारे समक्ष पश्चिम प्रकट हुआ और इसके असंख्य अच्छे परिणाम हुए। पश्चिमी साहित्य ने अपनी समस्त शाखाओं में ऐसे-ऐसे आदर्श निर्धारित कर दिए जिनकी प्राय: बड़े परिश्रम से नक़ल की गयी। अंग्रेजी पुस्तकों के द्वारा नई-नई विचारधाराओं की बाढ़ आ गयी। संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद किये गये जिन्होंने हमारे प्राचीन दर्शन का एक संकेत दिया। भारत की क्षेत्रीय भाषाओं में गद्य-साहित्य का विकास हो गया। समाचारपत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इन्होंने न केवल हमारा बाह्यजगत से सम्पर्क कराया अपितु हमारे देश की राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक बुराइयों से हमको अवगत कराया। परन्तु हमारा शैक्षिक ढाँचा बहुत भारी हो गया और साधारण जनता की शिक्षा को उपेक्षित रखा गया। यहाँ तक कि गाँव के जिन लोगों ने शिक्षा प्राप्त की वे भी अपने-अपने गाँवों में अपनी शिक्षा को नहीं ले गए। इसलिए अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने का निर्णय हितकर नहीं था। कलाओं के क्षेत्र में

भी पश्चिम ने हमें महान प्रेरणाएँ दीं हैं। एक ओर हैवेल सरीखे विद्वान् लेखकों ने हममें अपनी कलाओं के मूल्य की चेतना पैदा की तथा दूसरी ओर अन्य पश्चिमी विद्वानों ने हमको पश्चिमी कला का अध्ययन करने के लिए प्रोत्साहित किया। इस प्रकार हमारे पास कला की ऐसी भिन्न विचारधाराएँ आ गयीं जिनका जन्म विशेषत: वर्तमान शताब्दी में हुआ।

दर्शन तथा धर्म

दर्शन के क्षेत्र में पश्चिम ने हमें भौतिकवाद, यथावाद, आदर्शवाद आदि नए-नए दर्शन तथा जिज्ञासा की मनोवृत्ति एवं बौद्धि जगत के फलदायक सूत्र दिए हैं। हम लोगों में से अनेक लोगों ने पश्चिमी बुद्धिवाद के सिद्धांत को अपना लिया और मूर्तिपूजा विरोधी हो गए। हम अधिकारों तथा परम्पराओं के आलोचक हो गये। पुराने विश्वासों के खण्डन किये गये। यहाँ तक कि अतीत की अच्छी बातों का भी खण्डन किया गया। इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप पुनरोदयवादी भावना का जन्म हुआ परन्तु इसमें भी राजा राममोहन राय द्वारा प्रचलित की गयी विचारधारा का प्रभुत्व रहा। उन्होंने ऐसे सिद्धान्तों के आधार पर बुराइयों का खण्डन करने, प्राचीन कुप्रथाओं का सुधार करने तथा हमारे धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में नई जान डालने का प्रयत्न किया जो हमारे धर्म की सच्ची परम्पराओं के विरुद्ध नहीं थे। साथ ही यूरोपीय दर्शन हमारे विद्यालयों में स्वयं अध्ययन का विषय बन गया।

राजनीति

राजनीतिक या प्रशासकीय क्षेत्र में पश्चिम ने भारत को एकता, विधान के नियम तथा वैधानिक स्वतंत्रता दी हैं। समाचारपत्रों, विकसित सम्पर्क-साधन, आदि विभिन्न प्रकार के साधनों के द्वारा पूँजीवाद तथा अन्यान्य शक्तियों का भारत में विकास हो गया। इसके फलस्वरूप भारत का एकीकरण हुआ। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से हमलोगों में राष्ट्रीयता की उग्र भावना पैदा हो गयी और राजनीतिक क्षेत्र में इटली के गेरीबाल्डी तथा मेजिनी सरीखे वीर हमारे पथप्रदर्शक हो गये। हममें यह भावना पैदा हो गयी कि विधान की दृष्टि में सब लोग समान हैं। परन्तु, इसमें भी अच्छाई की विशुद्ध भावना नहीं थी। जहाँ अंग्रेजों ने हमें स्वतंत्रता के मूल्य की क़द्र करने योग्य बनाया वहीं उन्होंने इसमें साम्प्रदायिकता भी पैदा

कर दी। भारत के मुसलमानों में साम्प्रदायिक भावना पैदा हो गई। इसके दो कारण थे एक तो यह कि हिन्दू लोग प्रशासन के ऊँचे-ऊँचे पदों पर थे और दूसरा यह कि इसी साम्प्रदायिकता के द्वारा वे सत्तारूढ़ लोगों के कृपापात्र बन सकते थे और हिन्दुओं को प्रशासकीय उच्च पदों से निकाल सकते थे।

संक्षेप में अंग्रेजों ने हमें शान्ति, वाह्य जगत से सम्पर्क, वैज्ञानिक कला-कौशल सम्बन्धी तथा यांत्रिक आविष्कारों के रूप में विज्ञान आदि नई-नई विशेषताएँ दी हैं। उन्होंने हमें एकता तथा प्रशासन की एकरूपता दी है। दूसरे शब्दों में उन्होंने भारतीय पुनरोदय के लिए जमीन तैयार की। जिस प्रकार पश्चिमी यूरोप ने मध्ययुग की गहरी नींद से जाग कर ग्रीस और रोम के साहित्य का अनुकरण किया था, ठीक उसी प्रकार पश्चिम के सम्पर्क से अपनी बौद्धिक निद्रा से जागृत हुए भारत ने कई क्षेत्रों में—विशेषतः आर्थिक एवं वैज्ञानिक क्षेत्र में—पश्चिम का अनुकरण किया। परन्तु यह सब भारत के अंग्रेजी शासकों की नीति का अंग नहीं था, इसे हम कई बार जोर देकर कह चुके हैं। उन लोगों ने, जाने या अनजाने, हमारी प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध करने तक का प्रयास किया। विभिन्न प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ पैदा कर दी गयीं या उनको संगठित किया गया। हमारी उन्नति रोक दी गयी और हम आज भी अपनी प्रगति के उस अप्राकृतिक अवरोध का मूल्य चुका रहे हैं। इसके बावजूद भी पश्चिम हमारे द्वारों पर आघात कर रहा था और उसके प्रवेश को अस्वीकृत नहीं किया जा सका। जब तक भारत तथा अन्य पूर्वी देशों को पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में नहीं लाया जाता, जिससे कि उनके पारस्परिक समागम से किसी सामान्य सभ्यता एवं संस्कृति का जन्म होता, तब तक विश्वएकता को कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। जो ऐतिहासिक प्रक्रिया भारत और इंगलैंड को साथ लायी थी उसे केवल यही स्पष्ट कर सकता है।

भारत तथा पश्चिम

भारत ने भी विभिन्न दिशाओं में पश्चिम को प्रभावित किया। भारत और पश्चिम का सांस्कृतिक समागम प्राचीन अतीत की घटना है। अपने इतिहास के प्राचीन काल में भारत का पश्चिम से जो सम्पर्क था उसका वर्णन किया जा चुका है। मध्य काल तक में भारत की वस्तुएँ तथा विचारधाराएँ मुख्यतः अरब तथा इटली के लोगों के, जिनका एशिया तथा

यूरोप के बीच होने वाले व्यापार पर नियंत्रण था, द्वारा यूरोप में पहुँच चुकी थीं। इसके पश्चात् पुर्तगीजों तथा अन्य व्यापारियों के अतिरिक्त भारत में कई यात्री भी आये। कहा जाता है कि उच्चासन पर बैठे हुए शैतान का मिल्टन ने जो निम्न चित्र खींचा था उसकी प्रेरणा सर टामसरो ने दी थी:

"वह उस शाही राज्य के सिंहासन पर बहुत ऊँचाई पर बैठा हुआ है जिसने 'ओर्मज' तथा 'हिन्द' के धन को दूर-दूर तक चमकाया था।"

ड्राइडन द्वारा लिखित "औरंगजेब" नामक एक नाटक भी था जिसने भारत का चित्र पश्चिम में प्रस्तुत किया था।

परन्तु अभी तक भारत का प्राचीन साहित्य उसकी सभ्यता यूरोपवासियों के लिए अप्रकट रहा। भारत के अप्रकट साहित्य तथा सभ्यता को प्रकट करने का प्रथम प्रयत्न 'जेसूइट्स' ने किया इन्होंने भारत की क्षेत्रीय भाषाओं के अध्ययन के द्वारा संस्कृत का कुछ ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इनके द्वारा एक भारतीय पुस्तक यूरोप गयी और उसने वाल्टेयर को अत्यधिक प्रभावित किया। सन् १७३२ ई० में प्रथम संस्कृत व्याकरण का संकलन किया गया। दुपेरों नामक एक फ्रांसीसी के द्वारा उपनिषदों के 'दारा' के अनुवाद यूरोप गये और उन्होंने शोपेनहार तथा वान हार्टवैन सरीखे जर्मन दार्शनिकों को प्रभावित किया।

परन्तु, ये सभी प्रयत्न वैयक्तिक थे। यूरोपवासियों द्वारा हमारी संस्कृति का क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित था अध्ययन तब प्रारम्भ किया गया जबकि वारेन हेस्टिंग्ज के निर्देशानुसार प्राच्य-विद्या के कुछ विद्वानों के द्वारा हमारे संस्कृत के ग्रन्थों के अनुवाद किये गये। सन् १७८५ ई० सर चार्ल्स विल्किन्स ने, जो वास्तव में संस्कृत जानने वाले प्रथम यूरोपवासी थे, भगवत्गीता नामक प्रसिद्ध दार्शनिक काव्य का अनुवाद प्रकाशित किया। सन् १७८४ ई० में सर विलियम जोन्स द्वारा "एशियाटिक सोसाइटी आफ बेंगाल" नामक संस्था स्थापित की गयी थी। इस संस्था के द्वारा भारतीय ग्रन्थों के ऐसे-ऐसे बहुमूल्य अनुवाद प्रकाशित किये गये जिन्होंने यूरोप के कोने-कोने में भारतीय संस्कृति की ख्याति को पुनः प्रसारित कर दिया। सर विलियम जोन्स ने कालिदास के ग्रन्थों तथा मनुस्मृति का अनुवाद

किया। इन्होंने ही दुनियाँ को यह भी बताया कि संस्कृत ही सबसे अधिक वैज्ञानिक भाषा है और इसमें लैटिन तथा ग्रीक भाषाओं के शब्दों से मिलते-जुलते शब्द हैं। इस प्रकार सर विलियम ने तुलनात्मक व्याकरण (शब्दविज्ञान) के विज्ञान की नींव डाली थी। उन्होंने ही आर्यों के सामान्य प्रदेश सम्बन्धी मैक्समुलर के सिद्धांत का बीजारोपण किया था। शब्द-विद्या के अध्ययन के लिए यूरोप संस्कृत के उन प्राचीन वैयाकरणों का ऋणी है जिनके ग्रन्थ इस प्रकार पश्चिम में प्रसिद्ध हो गये। १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में, अनुवाद के क्षेत्र में, सर्वश्रेष्ठ कार्य एच० टी० कोलब्रुक द्वारा किया गया जिन्होंने हिन्दू विधान, दर्शन, व्याकरण, खगोल-विद्या तथा धर्म का गम्भीर तथा अद्भुत अध्ययन किया। इस प्रकार वेद पहली बार न केवल यूरोप वरन अधिकांश भारतीयों के समक्ष प्रकट किये गये क्योंकि हमारे पण्डितों ने वैदिक ग्रन्थों के रहस्य को छिपा रखा था। हैमिल्टन नामक एक अंग्रेज ने कुछ फ्रांसीसियों तथा जर्मन को संस्कृत सिखा दिया था जिसके फलस्वरूप फ्रांस तथा जर्मनी के द्वारा हमारी संस्कृति में अत्यधिक अनुसन्धान किये गये। मैक्समुलर पहले व्यक्ति थे जिन्होंने ३० वर्षों के परिश्रम के बाद सन् १८७५ में ऋग्वेद का अनुवाद पूरा किया। इनकी यह रचना बाइबिल के अनुवाद जैसी आश्चर्यजनक थी क्योंकि वेद उन लोगों के पास कभी नहीं पहुँच पाये थे जो अब उनका अध्ययन कर सकते थे। चार्ल्स डारविन ने जिस प्रकार शरीर-विज्ञान (भौतिक जगत) में क्रान्ति की थी उसी प्रकार मैक्समुलर ने (शब्द-विज्ञान) तुलनात्मक धर्म सरीखे विषय प्रस्तुत करके दर्शन तथा धर्म क्षेत्रों में क्रान्ति कर दी थी। उन्होंने यूरोप के लोगों में भारतीय संस्कृति की चमक-दमक तथा शान की अनुभूति पैदा कर दी थी। कहा जाता है कि भारत ने इंगलैंड तथा जर्मनी के छायावाद को भी प्रभावित किया था।

शेली वर्ड्सवर्थ तथा कार्लाइल के ग्रन्थों में वेदान्त के तत्व भरे हुए हैं। यह वेदान्त जर्मन या प्लेटो के सूत्रों से उन लोगों के पास पहुँचा था। गटे न शकुन्तला की जो प्रशंसा की है वह सुविख्यात है। विशेषतया, भारत ने एमर्सन तथा थोरियो सरीखे अमरीकी विद्वानों को भी प्रभावित किया था। टेनीसन ने भी अपनी कुछ कविताओं में भारतीय विषयों का वर्णन किया है। हिन्दू दर्शन ने आयरलैंड के "सेल्टिक रिवाइवल" के कवियों-विशेषतः ईट्स तथा रसेल-पर अपना पर्याप्त प्रभाव डाला था। आंग्ल-

भारतीय साहित्य, वास्तव में, स्वयं एक विषय है। विल्क्स, एलिफन्सटन, टाड, मिल तथा भारत से सम्बन्धित कई अंग्रेजों ने हमें भारतीय इतिहास से सम्बन्धित अपनी पुस्तकें दी हैं। सर एडविन आर्नोल्ड सर्वश्रेष्ठ आँग्ल-भारतीय कवि थे। पश्चिम के समक्ष पूर्व के व्याख्याकार के रूप में वे अद्वितीय हैं। "लाइट आफ एशिया" तथा "साँग सेलेस्चियल" सरीखी उनकी पुस्तकों का भारतीय साहित्य में श्रेष्ठ स्थान है।

आँग्ल–भारतीयों का भी एक सम्प्रदाय है जिसने भारतीय जीवन का बिगड़ा हुआ (विकृत) चित्र प्रस्तुत किया है। इसमें किप्लिंग सबसे अधिक विख्यात हैं। भारत ने अंग्रेजी समाज में अनेक रस्मरिवाज, खाद्य–पदार्थ तथा शब्द भी दिए हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजी समाज में "नाबाब," हुक्का, पुलाव, चटनी आदि सुप्रसिद्ध थे। अंग्रेजी के महान् उपन्यासकार थैकरे का जन्म भारत में हुआ था और उनके उपन्यासों में कई आँग्ल-भारतीय चरित्र मिलते हैं। वर्तमान शताब्दी में भी यूरोप के लोगों ने भारत के सम्बन्ध में उसकी प्रशंसा या निन्दा करते हुए बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं। इस सम्बन्ध में फार्स्टर की पुस्तकें सुप्रसिद्ध हैं। "पैसेज टू इन्डिया" नामक उनका उपन्यास विशेषतः प्रसिद्ध है जिसमें स्थिर भारतीय जीवन के गतियों की निन्दा की गयी है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मज्ञान (Theosophy) के क्षेत्र में मैडम ब्लावाट्स्की तथा श्रीमती एनी बेसेन्ट ने भारत को अपना सर्वश्रेष्ठ ज्ञान दिया है। यूरोप ने स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा महात्मा गाँधी की रचनाओं तथा उनके कार्यों को भी जान लिया है। कला के क्षेत्र में भी, भारतीय प्रभाव यूरोप में प्रवेश कर रहा है और यूरोप में भारतीय कलाकृतियों के प्रति रुचि पैदा हो गयी है। यूरोप तथा अमेरिका में ऐसी कई संस्थाएँ स्थापित हो गयी हैं जो हमारी संस्कृति के विषय में वहाँ के लोगों को सूचना देती रहती हैं क्योंकि वहाँ के लोगों में भारतीय संस्कृति के विषय में ज्ञान प्राप्त करने की उत्सुकता पैदा हो गयी है।

आँग्ल–भारतीय साहित्य अर्थात् उन भारतीयों की पुस्तकों के विकास का संक्षिप्त वर्णन करके अब हम इस अध्याय को समाप्त करेंगे जिन्होंने मुख्यतः अंग्रेजी भाषा में अपनी पुस्तकें लिखी हैं। इस वर्ग में कई प्रकार के कवि, लेखक, निबन्धकार, उपन्यासकार तथा आलोचक सम्मिलत हैं। तारुदत्त, श्रीमती सरोजनी नायडू, श्री अरविन्द इस वर्ग के सबसे अधिक प्रसिद्ध

कवियों में थे। आधुनिक कवियों के दूसरे वर्ग में मनमोहन घोष, हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, एस० आर० डोंगरकरी, के० डी० सेठना, दिलीपकुमार राय, ललितादेवी, ए० के० सेठ तथा शुभा टैगोर हैं। सरोजनी की कविताएँ आँग्ल–भारतीय काव्य की अधिकारपूर्ण रचनाएँ हैं। उनकी कुछ पंक्तियाँ यहाँ पर उद्धृत की जाती हैं:—

"बसन्त–काल, ओ बसन्तकाल, तुम्हारा गुण (सार) क्या है,
बुलबुल का चहकना, गुलाब का हास्य,
चन्द्र-किरणों के पंखों पर ओस-कणों का नृत्य,
उसके जाते ही "जेफ़िर" के गाने की आवाज़,
दूल्हन की आशा या आनन्द की बन्द पंखुड़ियों
को देखती हुयी कुमारी का स्वप्न ?
या
देखो! मैं अपने टूटे पंख पर सितारों को लगाने
तथा ठहरे हुए बसन्त से मिलने के लिए उठती हूँ।"

श्री अरविन्द भविष्यवादी हैं और भावी विश्व-साहित्य के कवि हैं। उनकी कविताएँ, नाटक, वीरगाथाएँ आदि सब रचनाएँ गम्भीर, मधुर, रागयुक्त तथा प्रेरणादायक हैं। "सावित्री" नायक इनकी अन्तिम वीरगाथा-काव्य है जिसमें २५ हजार से अधिक कविताएँ हैं। हम यहाँ पर उनके इस महाकाव्य की कुछ पंक्तियों को उद्धृत कर रहे हैं:—

"इस शक्तिशाली प्रकृति का जन्म एक रहस्य है;
मस्तिष्क का प्रवाहयुक्त झरना रहस्य एक है,
जीवन की बहुरूपी गति और उसका अन्त एक रहस्य है।
मैंने जो कुछ सीखा है उनके खण्डन होने के अवसर आते हैं;
मैंने जो कुछ बनाया है उसे भाग्य छिन्न-भिन्न कर देता है
या उस पर भाग्य क़ब्जा कर लेता है।
मैं "भूत" की शक्ति के कार्यों को पहले से देख सकता हूँ,
किन्तु मनुष्य के भाग्य की गति को नहीं देख सकता:
वह, जिन मार्गों को वह नहीं चुनता उन पर फेंक दिया जाता है,
वर गिर जाता है और घूमते हुए पहियों के नीचे कुचल जाता है।
मेरे महान् दर्शन तर्कयुक्त अनुमान हैं;

वे रहस्यपूर्ण स्वर्ग जो मानवात्मा को ले लेते हैं
कल्पनाशील मस्तिष्क की ठगविद्या है:
सब कुछ एक कल्पना या एक स्वप्न है:
अन्त में संसार स्वयं एक सन्देह हो जाता है:
अत्यन्त छोटी वस्तु बड़ी वस्तु का उपहास करती है,
अनन्त के सीमाबद्ध नक़ाब से हँसी का कहकहा होता है।"

उपन्यासकारों में डा० मुल्कराज आनन्द, मजेरी एस० ईश्वरन, तथा के० एस० वेंकटरमणी हैं। "कुली," "अन्टचेबुल," "टू लीव्ज़ एन्ड एबड" नामक अपने उपन्यासों के कारण डा० मुल्कराज विश्व-विख्यात उपन्यासकार माने जाते हैं। ईश्वरन दक्षिण के अग्रिम पंक्ति के लेखकों में हैं और वेंकरटमणी दक्षिण भारत के "टैगोर" माने जाते हैं। पश्चिम इन सबों की प्रशंसा करता है। निबन्धकारों तथा आलोचकों में एम० एम० भट्टाचार्य, बी० एन० भूषण, सुकुमार दत्त, अमरनाथ झा, यू० सी० नाग, आइ० एच० जुबेर, सत्येन्द्रनाथ राय, श्री अरविन्द, टैगोर, मर्धेकर, जवाहरलाल नेहरू तथा हुमायू कबीर आदि विद्वान् हैं। राजनीतिक तथा दार्शनिक विषयों में महात्मा गाँधी तथा एस० राधाकृष्णन् सरीखे वक्ताओं तथा लेखकों का प्रसिद्ध वर्ग भी हमारे बीच में हैं।

इस प्रकार पश्चिम ने कई द्वारों से होकर भारत में प्रवेश किया था। भारतीय जीवन, साहित्य, दर्शन, समाज, राजनीति, धर्म, तथा कला सब पर शक्तिशाली संस्कृति की प्रतिक्रिया हुयी थी और हममें नई जागृति तथा अपनी दुर्बलताओं का ज्ञान एवं अपने उत्तरदायित्वों की नई भावना आदि बातें पैदा हो गयीं और पश्चिम ने भी भारत के गौरव को नये रूप में पहचाना।

सत्रहवाँ अध्याय

भारतीय पुनरोदय (पुनर्जागृति)

आजकल भारत एक ऐसे संकट की यंत्रणा के चंगुल में फँसा हुआ है जिसको दूर करने के लिए अभी तक किए गए सभी उपाय व्यर्थ हो चुके हैं। भारतीय स्वतंत्रता ने मानों अनेकानेक समस्याओं के भानुमती के पिटारे को खोल दिया है। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक तथा मनोवैज्ञानिक समस्याओं एवं प्रश्नों का, जिन पर पहले हम ध्यान तक नहीं देते थे, बाहुल्य हो गया है। फिर भी अबतक हमारी समस्याओं को हल करने के लिये जो सुझाव दिये गये हैं या जो प्रयत्न किये गये हैं, वे स्थिति के अनुकूल विस्तृत, व्यापक, एकरूपी तथा समन्वयात्मक नहीं थे। भारतीय राजनीतिज्ञता में दूरदर्शिता का अभाव है और जहाँ जनता में दूरदर्शिता का अभाव होता है वहाँ राष्ट्र का ह्रास एवं पतन होता है। हो सकता है कि समस्याओं को हल करने के हमारे उपाय इसलिए असफल होते हैं क्योंकि हम भारत की समस्या को पूर्णतः नहीं समझ पाये हैं या हम भारतीय समस्या को विश्वसंकट की दृष्टि से नहीं देख पाते और यह नहीं समझ पाते कि इसका हल विश्वसमस्या के विश्वव्यापी हल का एक भाग होगा। यह भी सम्भव है कि पूर्व तथा पश्चिम की दो सभ्यताओं के सम्पर्क से उत्पन्न आधुनिक काल की "भारतीय जागृति" के विश्लेषण से हम अपनी समस्या का कोई हल निकाल सकें। अतः पूर्व--पश्चिम--सम्पर्क तथा भारतीय पुनरोदय की सही जानकारी ही हमें विश्वसंकट के समुचित महत्व को भी समझने में समर्थ बना सकती है।

अठारहवीं शताब्दी में भारत मृतप्राय हो गया था और उसकी उच्चवर्गीय या सामन्तवादी संस्कृति पत्थर बन गयी थी जिसके फलस्वरूप भारत में प्रेरणा, उत्साह एवं दूरदर्शिता का अभाव हो गया था। हम गहरी नींद में सो गये थे या मूर्छित हो गए थे। भारतीय इतिहास के इस सामयिक अवसर पर, मानों, प्रकृति ने विदेशियों को हमें अपना गुलाम बनाने के लिए भेज दिया ताकि हम अपनी त्रुटियों तथा कठिनाइयों को

नये रूप में जान कर जागृत हो सकें। पश्चिम की जागृति हो चुकी थी। और उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीयों ने पश्चिमी जागृति के मुख्य लक्षणों या तत्वों को अपना लिया और उन्हें भारतीय समाज में भी ढालना प्रारंभ कर दिया।

पश्चिमी जागृति, अपने अन्तिम चरण में, धार्मिक सिद्धांतवाद के विरुद्ध तर्क एवं विज्ञान का विद्रोह थी। और हमने भी उस समय में प्रचलित अन्धविश्वासों के विरुद्ध तर्क और असम्प्रदायवाद का शस्त्र सम्हाल लिया था। भारतीय युवकों पर विज्ञान के आविष्कारों का व्यापक प्रभाव हो गया और वे भारत के धार्मिक प्रवृतियों एवं विश्वासों का उपहास करने लगे। मध्यमवर्ग के बंगाली नवयुवकों में चिकित्सा-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने की अत्यधिक उत्सुकता पैदा हो गई जबकि चिकित्सा–विज्ञान के अध्ययन में उन्हें पशुओं का चीर–फाड़ करना पड़ा था जो तत्कालीन धार्मिक विश्वास और अहिंसा–धर्म के विरुद्ध था। बंगाल में ब्रह्म समाज इस विद्रोह या जागृति का प्रतीक था। यह भारतीय जागृति का प्रथम चरण था। शीघ्र ही, पश्चिमी नास्तिकता की ओर इस उग्र खिचाव की एक जोरदार प्रतिक्रिया हुयी जिसके प्रतीक दयानन्द, रामकृष्ण तथा विवेकानन्द सरीखे महापुरुषों के धार्मिक उपदेशों में मिलते हैं। परन्तु, जैसा कि संकट-काल में होता है, इन युगों के उदार तत्व उग्रवादियों से प्रभावित हो गये और जब ब्रह्मसमाज केवल लोकरीत बन कर रह गया, तब धार्मिक जागृति या तो पुनरोदयवाद में सम्मिलित हो गयी अथवा उसका प्रारम्भिक उत्साह केवल वाह्य सिद्धांत या कर्मकाण्ड बन कर रह गया। परन्तु जब इस जागृति में शक्ति थी और जीवन था तब तक इसके फलस्वरूप अतीत का खूब अन्वेषण हुआ और हमारी कलाओं, साहित्य, दर्शन तथा समाज को नये रूप दिये गये।

जागृत भारत की आवश्यकताओं का सही अनुभव भी नहीं होता था और संभवतः भारत के राजनीति से अलग न रहने के कारण यह हो भी नहीं सकता था। पराधीन भारत स्वतंत्र रूप में कुछ सोच भी नहीं सकता था। अतः, हमारे लिए स्वतंत्रता अनिवार्य आवश्यकता थी और सन् १९४७ ई० में हमने स्वतंत्रता को प्राप्त भी कर लिया। लेकिन इसमें जो रक्तपात हुआ और इससे जो आर्थिक समस्याएँ पैदा हो गयीं उनसे हमारे पैर हिल गये और अपनी समस्याओं के मूल कारणों को समझने तथा उनकी जाँच करने

का समय ही नहीं प्राप्त हो सका। राजनीति, जीवन सम्बन्धी या आर्थिक क्षेत्र में हमारे समक्ष जो समस्याएँ थीं उनको हल करने के लिए पश्चिम ने जो सुझाव दिए हैं उनको भारतीय परिस्थिति के अनुकूल कार्यान्वित करना आसान था। इस प्रकार स्वतंत्रता–प्राप्ति के पश्चात् भारतीय जागृति अपने प्रथम चरण में है और हमने नक़ल करने की नीति अपनायी है। नीति में, सामाजिक दशा, कला सम्बन्धी सिद्धांतों तथा साहित्य आदि पर पश्चिम का इतना अधिक प्रभाव हो गया है कि हमने अपनी सब मूल बातों को भुला दिया और हम केवल नक़ल करने वाले बन गये हैं। भारत के इस सांस्कृतिक संकट काल में समन्वयात्मक प्रवेश की आवश्यकता है न कि इस बात की कि पश्चिम की सब बातों को बिना सोचे-समझे अपना लिया जाय। अतः आज पश्चिमी तथा पूर्वी संस्कृतियों की मौलिकताओं के गहन अध्ययन की तथा यह अध्ययन करने की अतीव आवश्यकता है कि उनमें कहाँ-कहाँ त्रुटियाँ हैं, किस प्रकार उनमें समानता लाई जा सकती है। यही मार्ग उचित भी होगा और इन दोनों संस्कृतियों में सामंजस्य हो जाने पर ही "भारतीय जागृति" का ऐतिहासिक औचित्य हो सकता है।

पश्चिमी संस्कृति, जैसी आधुनिक काल में विकसित हुयी है, के दो मूल तत्व तर्क तथा विज्ञान हैं। तर्क तथा विज्ञान का विकास ऐतिहासिक आवश्यकता थी क्योंकि यूरोप में धर्म नें मनुष्य को संकीर्ण बना दिया था और यूरोप के लोगों में कर्मकाण्ड, लौकिकता, अन्धविश्वास और धार्मिकता का व्यापक प्रसार हो गया था और उनके दृष्टिकोण संकीर्ण तथा सीमित हो गये थे जिससे प्रगति के समस्त द्वार अवरुद्ध थे। तर्क ने रास्ता साफ कर दिया। यह मानव की उच्चतम योग्यता (विकसित) थी। तर्क के कारण मनुष्य के आकस्मिक आवश्यकताओं के प्रवाह में बह जाने में रुकावट आ गयी। तर्क ही विज्ञान है, यह जागृत कला है और आविष्कार है। इसकी सहायता से मनुष्य तथ्यों की सत्यता की जाँच कर सकता है और उन्हें व्यवस्थित कर सकता है। इसकी सहायता से मनुष्य रचनात्मक कार्य शुरू कर सकता है। इसकी सहायता से मनुष्य गुप्त तथ्यों के सत्य को प्रकट कर सकता है और उसके सम्बन्ध में भविष्यवाणी कर सकता है। और विज्ञान की ही सहायता से वह समय की उपयोगिताओं या इच्छाओं की पर्वाह किये बिना निःस्वार्थ भाव से "सत्य" (ईश्वर) की खोज कर सकता है। "तर्क ने पौराणिक धार्मिक रहस्यों को प्रकट करने वाले तथा मानवमात्र

को ऊँचा उठाने वाले तथा सभ्य बनाने वाले का काम किया है और वह मानव का सहायक, मित्र तथा शिक्षक रहा है।" तर्क शक्ति ने राजनीति में प्रजातंत्र तथा अर्थशास्त्र में समाजवाद का आविष्कार किया और इसने विज्ञान में प्रकृति के अपरिमित कोषागार को खोलने की कुंजी पायी। फिर भी मानवता जिन बुराइयों से पीड़ित थी उनकी स्थायी औषधि का आविष्कार करने में वह सदैव की भांति असमर्थ रही। सब प्रकार की विचारधाराओं तथा लटकों के औचित्य को सिद्ध करने के लिए तर्कशक्ति का प्रयोग किया गया। दर्शन में इसने एकेश्वरवाद, बहु ईश्वरवाद, आदर्शवाद तथा यथार्थवाद के लिए ठोस तर्कों को आगे बढ़ाया। धर्म में इसने अनीश्वरवादियों (नास्तिकों) तथा ईश्वर भक्तों दोनों को सन्तुष्ट किया। इसने सन्यासवाद को भी उचित ठहराया और आनन्द को ही मुख्य साधन मानने वालों के भी मत को उचित ठहराया। तर्कशक्ति ने प्रजातंत्र तथा अधिनायकत्व (तानाशाही) दोनों का समर्थन किया। यह साम्यवाद तथा अराजकतावाद दोनों का पैग़म्बर (प्रचारक) रही। इसने मनुष्य की भावनाओं के अनुकूल किसी भी सिद्धांत को या सामंजस्य को स्वीकार कर लिया। क्योंकि, वास्तव में, मनुष्य की आत्मा ही कोई निर्णय करती है और तर्कशक्ति ने अपने को इस सार्वभौम सत्ताधारी आत्मा का सेवक तथा मंत्री सिद्ध किया है।

यद्यपि तर्कशक्ति मनुष्य को प्रजातंत्र तक ले गया, जो वास्तव में मुख्यतः राजनीतिक स्थिति थी, फिर भी यह परिस्थिति की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असफल रही। यह कहा जाता था कि राजनीतिक प्रजातंत्र पूंजीवाद का सेवक (नौकर) बन गया है। इसलिए, पूंजीवाद के विरुद्ध विद्रोह के रूप में समाजवाद का जन्म हुआ। इसने बाध्य होकर विभिन्न वर्गों के बीच होने वाले सघर्ष के द्वारा अपना कार्य किया और इसे औद्योगिक तथा आर्थिक सिद्धांत का स्वरूप भी धारण करना पड़ा। समाज की पूर्ति के लिए उसकी बौद्धिक व्यवस्था चलाते रहने तथा सब मुफ्तखोरों से मुक्ति पाने के लिए मानवीय तर्कशक्ति की माँग समाजवाद का वास्तविक आधार है। समाजवाद के अनुसार प्रतिद्वन्द्विता के स्थान पर सहयोग तथा पूंजीवाद के स्थान पर हमारे आर्थिक जीवन का सामाजिक नियम होना चाहिए। इसमें, प्रथमतः, वैयक्तिक स्वतंत्रता में कमी करना भी शामिल है, क्योंकि वैयक्तिक स्वतंत्रता से ही प्रतिद्वन्द्वात्मक पूंजीवाद की आर्थिक

समस्या पैदा हुयी थी। सारी सम्पत्ति समाज की हो और पिता, शिक्षक, मजदूर या नागरिक किसी भी रूप में मनुष्य अपने को पूरे समाज का समझे। व्यक्ति समुचित रूप में तर्क करने में असफल रहा है और इसीलिए उसे पूरे समाज की तर्कशक्ति से निर्देशित होना चाहिए, क्योंकि समाज राष्ट्र या उसके यंत्र सरकार में अपनी गतिशील इच्छा पाता है। इस प्रकार स्वतंत्रता के पूरक के रूप में समानता के नारे का जन्म हुआ। कुछ लोग इन दोनों—पूँजीवाद तथा समाजवाद के बीच का मार्ग निकालने की चेष्टा करते हैं। जर्मनी के समाजवादियों ने ऐसा ही किया जिसके फलस्वरूप वहाँ उसका स्थान हिटलरवादियों ने ले लिया। इंगलैंड के मजदूर दल ने भी ऐसा ही प्रयत्न किया जिसके फलस्वरूप वह अमरीकी पूँजीवाद की गोद में जा गिरा क्योंकि समाजवाद का तर्क साम्यवाद या सामूहिकता के पक्ष में है। व्यवहार में समानता का अर्थ यह है कि सब की भलाई के लिए थोड़े लोगों का शासन हो। इसका अर्थ यह है कि सब को स्वयं शासन करने देने या स्वतंत्रता का उपभोग करने देने के पूर्व उन्हें मानसिक या सांस्कृतिक दृष्टि से पर्याप्त ऊँचा उठा दिया जाय। फिर भी इस समाजवाद में भी मतभेद तथा प्रतिवाद हैं। राजनीति में सम्पूर्णता के साथ-साथ तर्कशक्ति को दूर फेंक देने तथा जनता के सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन को नये कठोर संगठन का रूप दे देने की प्रवृति आ जाती है। ऐसी स्थिति में जबकि मनुष्य के मस्तिष्क को सोचने या कार्य के द्वारा अपने विचारों की स्वतंत्रता से वंचित कर दिया जाता है तब तर्कशक्ति अपना कार्य करने में असफल हो जाती है। ऐसी स्वतंत्रता के अभाव में मनुष्य स्थिर एवं अचल प्राणी हो जाता है। मनुष्य व्यवस्था, आर्थिक विकास तथा योग्यता के साधनों के नए लाभों का ख़्याल करके आर्थिक निरंकुशता को कुछ समय के लिए सहन कर सकता है, परन्तु जब वे लाभ दिनचर्या हो जाते हैं और उनकी त्रुटियाँ अधिकाधिक सामने आती जाती हैं तब समाज के सबसे अधिक स्वच्छ तथा शक्तिशाली मस्तिष्कों में, निश्चय ही, असन्तोष तथा विद्रोह फैल जाता है और इसका प्रचार जनता के द्वारा होता है। यह समाजवाद की एक केन्द्रीय तथा मुख्य त्रुटि है जिससे होकर नये सिद्धांत के जन्म होने के पूर्व समाजवादी राज्य को गुजरना ही पड़ेगा और उसे भी अपर्याप्तता का अभियुक्त बनना पड़ेगा। जीवन समाजवाद के आधार यंत्रीकरण से घृणा करता है और जब कभी अवसर मिलेगा वह

यंत्रीकरण से पृथक हो जायगा। अस्तु, समाजवाद भी आंशिक हल है और यह समय की मांग (आवश्यकता) को सन्तुष्ट नहीं कर सकता।

हमारे पास विज्ञान नामक तर्कशक्ति का एक दूसरा अस्त्र (साधन) है। उन्नीसवीं शताब्दी में ऐसा प्रतीत होता था कि विज्ञान मनुष्य के सब रोगों (बुराइयों) की औषधि है। ऐसा प्रतीत होता था कि विज्ञान तर्क के युग की दो सर्वश्रेष्ठ मांगों को पूरा करेगा। यह तथ्यों का ऐसा सत्य था जो अपनी सत्यता या प्रामाणिकता के लिए किसी लेख या मानवीय प्रमाण पर नहीं निर्भर था। प्रकृति इसकी पुस्तक थी, परीक्षण तथा बौद्धिक शुद्धता इसके साधन थे और इसके परिणाम स्थायी थे। विज्ञान समस्त मानवीय रोगों का सबसे शक्तिशाली औषधि था। यह 'प्रगति' के अपरिमित कोषागार को खोलने की कुंजी था। कुछ समय तक विज्ञान ने अनेक चमत्कार किये किन्तु, शीघ्र ही, मानवता पर इसकी एक प्रतिक्रिया हुयी। विज्ञान ने ऐसे-ऐसे शस्त्रास्त्र आविष्कृत कर दिए थे जो मानवता का नाश करने वाले थे। क्योंकि, अन्त में, विज्ञान से चिन्तन एक का यांत्रिक मार्ग तथा मनुष्यों को यन्त्रवत समझा गया। यह उस समय अपनी सीमा को पार कर गया था और इसकी त्रुटियाँ स्थायी हो गई थीं जबकि फ्रायड और जंग सरीखे लोगों के अनुसंधानों के परिणामों के रूप में पश्चिमी संस्कृति में मनोवैज्ञानिक ज्ञान की बाढ़ आ गई थी और उक्त दो विद्वानों ने जटिल मानव प्रकृति के सच्चे स्वरूप का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया था। इस प्रकार पश्चिमी सभ्यता के दो देवता-तर्क और विज्ञान-भी हमारी समस्याओं को हल करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। किन्तु इन दोनों ने हमें बहुमूल्य वस्तुएँ दी हैं। पहली वस्तु किसी भी देश की समस्त जनता को सम्पूर्ण जीवन तथा पूर्ण विकास के अधिकार का प्रजातांत्रिक विचार है। उक्त पूर्ण विकास व्यक्तिगत रूप में हो सकता है। जनता को कष्ट दे कर सामाजिक विकास नहीं हो सकता। सुविधा प्राप्त वर्ग काल विरोध है।

दूसरी बहुमूल्य वस्तु यह है कि व्यक्ति केवल मात्र सामाजिक इकाई ही नहीं है, वह अपने में भी कुछ है। उसका अपना निजी व्यक्तित्व है। उसके पास व्यक्तिगत योग्यता, व्यक्तिगत सत्य तथा ऐसा विधान (नियम) है जिसे वह अपने ढंग पर तथा अपनी प्रकृति के अनुकूल पूरा कर सकता है। वह स्वतंत्रता, विचार, क्षेत्र, अपने विधानों को पूरा करने में आगे बढ़ने

की भावना तथा अपने आत्मा का आविष्कार करना चाहता है। पश्चिम ने बौद्धिक रूप में इस विचारधारा को ग्रहण किया है और इसमें जीवन के भारतीय तरीके से इसका सम्बन्ध सम्भव हो सकता है।

आधुनिक पश्चिमी संस्कृति के मुख्य सिद्धान्त तथा तर्क विज्ञान रहे हैं किन्तु भारतीय संस्कृति का मुख्य सिद्धान्त आध्यात्मिकता रही है। परन्तु आगे चलकर यह आध्यात्मिकता धर्म की अनुचर बन गयी और इसका इस ढंग से प्रयोग किया गया कि इसने हमें ह्रास तथा नैतिक पतन के गड्ढे में गिरा दिया। धर्म के दो अंग हैं—सच्चा धर्म तथा धर्मवाद। सच्चा धर्म आध्यात्मिक है और इसका प्रयत्न सदैव उस आत्मा में निवास पाने का रहता है जो बुद्धि से परे है तथा मानव की समस्त सीमाओं से परे है, किन्तु उनसे दूर नहीं है। दूसरी ओर, हमारे देश में धर्मवाद की भी दो मुख्य विशेषताएँ हैं। पहली विशेषता विभिन्न मतों, उत्सव-समारोह की व्यवस्थाओं, ईश्वर भक्ति के संकीर्ण वाह्य स्वरूपों, बौद्धिक सिद्धांतों, कठोर नैतिक नियम, धार्मिक व सामाजिक प्रथाओं तथा विभिन्न अन्ध-विश्वासपूर्ण रीतिओं तथा कर्मकाण्डों (समारोह) में पायी जाती हैं। ये वस्तुएँ सहायक हो सकती हैं, उच्चज्ञान प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करने के लिए अल्प-संस्कृत लोगों के लिए कभी-कभी इनकी आवश्यकता भी रहती है और जब तक सच्चे स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता केवल तभी तक इनकी उपयोगिता रहती है परन्तु शर्त यह है कि इनको व्यक्ति पर बलात न लादा जाय। धर्म के आध्यात्मिक सार-तत्व की ही आवश्यकता रहती है उसकी सामग्री की नहीं। धर्मवाद की दूसरी विशेषता भौतिक (सांसारिक) जीवन के प्रति उदासीनता है। इसमें जीवन के भौतिक उद्देश्यों की पूर्णतः निन्दा की जाती है अथवा उनकी गौणता पर इतना अधिक जोर दिया जाता है कि आत्मा कोई पारलौकिक या स्वर्गिक वस्तु हो जाता है जिससे मनुष्य तभी प्राप्त कर सकता है जबकि वह साधारण जीवन को छोड़ दे और इस माया के संसार का परित्याग करके सन्यास ग्रहण कर ले। इसमें मनुष्यों में यह भावना पैदा हो जाती है कि यह संसार दुःखमय है, इसमें केवल बुराइयाँ हैं और जीवन व्यर्थ है। और इसमें मनुष्य जीवन में सौन्दर्य ढूँढ़ने के सभी प्रयत्नों की निन्दा करता है। आगे चल कर इससे भाग्य पर निर्भर रहने की भावना तथा आलस्य पैदा हो जाता है। भारत में शासकों के परिवर्तन के प्रति ग्रामीण जनता की उदासीनता इसी

प्रकार के जीवन-दर्शन का (अंशतः) प्रतीक है। इसके फलस्वरूप जीवन रूखा हो जाता है और हममें आंशिक कल्पना-शक्ति आ जाती है। यही भारतीय जीवन की मुख्य त्रुटि रही है। सच्चा धर्म आध्यात्मिकता के समान है आध्यात्मिकता इस बात पर जोर देती है कि केवल "सर्वोच्च" की ज्योति एवं शक्ति से ही निम्नतर लोगों का पथ-प्रदर्शन हो सकता है, उनका उत्थान हो सकता है और वे पूर्ण हो सकते हैं। "आध्यात्मिकता मानवात्मा की स्वतंत्रता का सम्मान करती है, क्योंकि स्वतंत्रता से ही उसकी पूर्ति होती है और स्वतंत्रता का गहनतम अर्थ व्यक्ति के अपने स्वभाव "स्वधर्म" के द्वारा पूर्णता की ओर आगे बढ़ने की शक्ति है। यह स्वतंत्रता सबको हमारे अस्तित्व के आधारभूत अंश देगी। यह दर्शन तथा विज्ञान को वह स्वतंत्रता देगी जो प्राचीन भारत धर्म ने सबको दिया था जिसके फलस्वरूप प्राचीन भारत में दर्शन तथा विज्ञान ने धर्म से अपने को अलग करने की आवश्यकता को कभी महसूस नहीं किया था, बल्कि धर्म की ज्योति के अन्तर्गत उनकी प्रगति हुई थी। राजनीतिक तथा सामाजिक पूर्णता तथा अन्य अभिलाषाओं की जो लोग खोज कर रहे हैं उन्हें भी यह वैसी ही स्वतंत्रता देगी। यह केवल उनको ज्योतिर्मय कर देगी ताकि वे आत्मा की ज्योति में, अपनी इच्छाओं का दमन करके, अपना बहुमुखी विकास करें।"[१]

ऊपर हमने अपनी जागृति, जो अभी निर्माणात्मक स्थिति में है, के तृतीय चरण का प्रकाश पाने के लिए पश्चिमी तथा भारतीय संस्कृतियों की मौलिकताओं का विश्लेषण किया है। हम यह देखते हैं कि जब तक तर्क और विज्ञान इच्छाओं के साधन नहीं बल्कि आत्मा के अनुचर रहते हैं, तब तक उनका उपयोग मानवता की सेवा में किया जा सकता है। हमें पश्चिम से सब के कल्याण की मनोवृत्ति तथा व्यक्ति का सम्मान करना भी सीखना चाहिए। और पश्चिम को भी यह सीखना चाहिए कि विज्ञान और तर्क जब तक उस सच्चे प्रकाश से निर्देशित नहीं होते, (जो कि मनुष्य में उस समय आता है जबकि वह पूर्ण समता तथा ईश्वर से पूर्णतः मिल जाने के लिए प्रयास करता है) तब तक वे मानवता की सेवा न कर सकेंगे।

आधुनिक काल की भारतीय जागृति के महत्व या प्रवाह के विषय में यह हमारी समझ है। प्रगतिशील पश्चिम के साथ भारत के सम्पर्क होने से उत्पन्न यह जागृति इस देश के बहुसंख्यक लोगों के रहन-सहन के विरुद्ध

प्रारम्भ हुयी। परन्तु, भारत के आधुनिकतावादियों की उग्र स्थिति के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में इसमें रक्षात्मक तथा पुनरोदयवादी भावना आ गयी। इनके साथ ही एक अन्य भावना भी थी जो इन दोनों विचारधाराओं में समन्वय करना चाहती थी तथा इन दोनों के बीच का मध्यम मार्ग निकालना चाहती थी। विवेकानन्द, टैगोर तथा एनी बेसेंट सरीखे लोग इस भावना के प्रतिनिधि थे। परन्तु, यह समन्वय भी व्यापक नहीं था और न इसे पूरे हृदय से किया गया था। देश की जनता पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और राजनीति में उलझ जाने के कारण हमें नए समन्वय के विषय में सोचने तक का समय नहीं मिल सका। हमारे देश के जिस मौलिक उत्साह ने साहित्य में टैगोर, धर्म में विवेकानन्द, चित्रकला में अवनीन्द्रनाथ, राजनीति में तिलक तथा गाँधी, दर्शन में राधाकृष्णन तथा नृत्यकला में उदयशंकर सरीखे लोगों को जन्म दिया था, उसे भी हमने उपर्युक्त कारणों से खो दिया। और अब ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिभावनों का युग समाप्त हो गया। किन्तु इस प्रकार की विचारधारा हमारे सांस्कृतिक इतिहास का ग़लत अध्ययन होगी। हम इस समय नवीन जागृति के द्वार पर हैं। स्वतंत्रता ने हमें नए अवसर (सुयोग) प्रदान किये हैं और यदि हममें अन्तर्दृष्टि विकसित हो जायगी तो वाह्य दृष्टि भी ठीक हो जायगी।

ऊपर हमने भारतीय संस्कृति के मौलिक आधार तथा हमारी जागृति पर पड़ने वाली उसकी छाया का अध्ययन किया है। अब हम धर्म, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन, कला, साहित्य आदि विभिन्न क्षेत्रों में होने वाली नवीन जागृति की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कर रहे हैं।

धर्म

भारतीय सांस्कृतिक जीवन के साथ पश्चिम के जो प्रथम सम्पर्क हुए उनके फलस्वरूप भारतीयों ने रहन-सहन के पश्चिमी तरीके अपना लिये और कुछ भारतीयों द्वारा भारतीय धर्मों के कर्मकाण्डों तथा सिद्धांतों के खण्डन किये गये। परन्तु, इसके साथ ही कई धार्मिक आन्दोलन भी चल रहे थे जिनका लक्ष्य भारतीय धर्मों तथा सामाजिक जीवन को पुनः शक्ति देना था। इन आन्दोलनों में ब्रह्म समाज (बंगाल), प्रार्थना समाज (महाराष्ट्र), आर्य समाज, थियोसाफिकल सोसाइटी, रामकृष्ण मिशन आदि प्रमुख थे।

ब्रह्म समाज

ब्रह्म समाज के संस्थापक राजा राममोहन राय थे। इन्हें आधुनिक भारतीय जागृति का पिता कहना उचित होगा। इनका जन्म २२ मई सन् १७७२ ई० को हुआ था। इन्होंने अल्पायु में ही भारतीय दशा के विषय में लेखादि लिखना आरम्भ कर दिया था। ये अंग्रेजी, फारसी, अरबी, संस्कृत तथा बंगला आदि भाषाओं के विद्वान् थे। उपनिषदों तथा वेदान्त पर इन्होंने जो अध्ययन किया था वह इनकी प्रारम्भिक पुस्तकों में प्रकाशित किया गया है। सन् १७९२ ई० के बाद वे जब से कलकत्ता में आकर बस गये थे तभी से उनमें तथा कई विद्वानों में धार्मिक तथा सामाजिक समस्याओं पर विवाद चल रहे थे। वे हिन्दू पण्डितों तथा ईसाई मिशनरियों (धर्मप्रचारकों) दोनों से धार्मिक विषयों पर शास्त्रार्थ करते रहते थे। उन्होंने सती–प्रथा के उन्मूलन की सिफारिश की थी। हमारी शिक्षण-संस्थाओं में पश्चिमी वैज्ञानिक पाठ्यक्रम प्रचलित करने के वे जोरदार समर्थक थे। वे महान् देशभक्ति, राजनीतिज्ञ तथा प्रचारक थे। वे देश तथा विदेशों में भारतीय स्वतंत्रता का प्रतिनिधित्व करते थे। धार्मिक विषयों पर विचार–विनिमय करने के उद्देश्य से संभवतः सन् १८१५ ई० में उन्होंने "आत्मीय सभा" की स्थापना की थी। सन् १८१९ ई० में उन्होंने "कलकत्ता युनिटेरियन कमेटी" की स्थापना की थी। अन्त में, २० अगस्त सन् १८२८ ई० को उन्होंने "ब्रह्म समाज" की स्थापना की थी। ब्रह्म समाज का लक्ष्य वैसे सच्चे हिन्दूधर्म का प्रचार करना था जैसा राजा राममोहन राय ने उसे समझाया था। इस हिन्दू धर्म में सामाजिक बुराइयाँ नहीं थीं और मूर्तिपूजा नहीं थीं। फिर भी वे धर्मान्ध नहीं थे। यह उनके निम्नलिखित विचार से स्पष्ट है जिसे उन्होंने सन् १८३० ई० में ब्रह्मसमाज की उपासना–विधि के सम्बन्ध में लिखा था।

"और उक्त उपासना या अराधना करने में जो कोई भी प्रणाली, चर या अचर, उपासना का पात्र रहा होगा या किन्हीं व्यक्तियों द्वारा उपासना का पात्र माना गया होगा उसको उन उपदेशों, प्रार्थनाओं, भजनों या उपासना की अन्य विधियों में अपमानित न किया जायेगा जिनका प्रयोग उक्त सन्देश या समाज (मण्डप) में होगा।" "और केवल उन्हीं सन्देशों, उपदेशों, प्रवचनों, प्रार्थनाओं और भजनों का उपयोग किया जायेगा जिनकी

प्रवृत्ति इस सृष्टि के रचयिता के सम्बन्ध में सोच-विचार की उन्नति की ओर होगी तथा जो दान-धर्म, नैतिकता, दया, ईश्वर-भक्ति, कल्याण-भावना की उन्नति तथा समस्त धर्मों एवं सिद्धान्तों के अनुयायियों के मिलन के बन्धन को मजबूत बनाने में सहायक होंगे।" २७ सितम्बर सन् १८३३ ई० को ब्रिस्टल में राजा राममोहन राय का स्वर्गवास हो गया।

राजा राममोहन राय तथा उनका ब्रह्मसमाज हिन्दू धर्म, राजनीति या समाज में उन समस्त सुधार-आन्दोलनों के आदि स्रोत थे जो गत १०० वर्षों में भारत में चले थे और जिनके फलस्वरूप आज के भारत में आश्चर्य-जनक जागृति हुयी है। वर्तमान पीढ़ी के लिए केवल उनका नाममात्र रह गया है और वे केवल स्मृति के रूप में रह गये हैं किन्तु अपने समकालीन लोगों के लिए वे महान् ज्योति-स्तम्भ, दार्शनिक ज्ञान के स्तम्भ, रचनात्मक प्रतिभा, में पूर्ण, स्वतंत्रता के दूत तथा आधुनिक भारत के प्रथम महान् सुधारक थे। हिन्दूधर्म में सुधार करने के उनके आन्दोलन के फलस्वरूप वह अन्तरावलोकन तथा विश्लेषण प्रारम्भ हुआ जिसने हिन्दूधर्म को काफी हद तक अन्धविश्वासों से मुक्त कर दिया।

राजा राममोहन राय के बाद देवेन्द्रनाथ टैगोर तथा केशवचन्द्र सेन ब्रह्म समाज के नेता बने। इनके अधीन "समाज" ने मद्यपान (कुसंयम), बहु-विवाह, जाति–भेद आदि हिन्दू समाज की कुप्राथाओं का जोरदार विरोध किया और विधवा–विवाह तथा स्त्री-शिक्षा के प्रचलित किये जाने के लिए भीषण आन्दोलन किया। राजनारायण बोस तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर सरीखे लोग भी "समाज" के नेता थे। सन् १८६७ ई० में "समाज" के रूढ़िवादी दल ने "आदि ब्रह्मसमाज" की स्थापना की। प्रगतिशील दल ने केशवचन्द्र को अपना नेता मान लिया। इन्होंने उस आन्दोलन को प्रारम्भ किया जो सभी संघर्षरत सिद्धान्तों में सामंजस्य करना चाहता था। परंतु उनके इस आन्दोलन को गलत समझा गया। फिर भी केशवचन्द्र का हृदय भारतीय था जैसा कि स्वामी दयानन्द तथा रामकृष्ण परमहंस से सम्बन्धित उनके लेखों में प्रकट है। "एशियाज मेसेज टु यूरोप" नामक उनकी पुस्तक की कुछ पंक्तियों को हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं। "मैं एशिया की एक सन्तान हूँ; उसके दुःख मेरे दुःख हैं, उसके आनन्द मेरे आनन्द हैं। एशिया के एक सिरे से दूसरे सिरे तक के प्रदेश को मैं एक वृहत् घर

समझता हूँ तथा उसकी व्यापक राष्ट्रीयता और विस्तृत बन्धुत्व का मानने वाला हूँ।" सन् १८८४ ई० में ४६ वर्ष की अल्पायु में ही केशव की मृत्यु हो गयी। सन् १८७८ ई० में ब्रह्म समाज में एक विभाजन हो गया। "समाज" के युवक दल ने "साधारण ब्रह्म समाज" की स्थापना कर ली। महर्षि देवेन्द्रनाथ ने इस नई संस्था को आशीर्वाद का सन्देश भेजा। इस समय तक आसाम, बिहार, उत्तर प्रदेश, सीमाप्रान्त, दक्षिण भारत, अवध, बम्बई तथा सिन्ध में "समाज" की शाखाएँ स्थापित हो गयी थीं। विभिन्न शिक्षण-संस्थाएँ स्थापित करके समाज को जनता की शैक्षिक आवश्यकताओं की पूर्ति की और इसके नेता भारतीय जागृत के अग्रिम मोर्चे में रहे। हमारे साँस्कृतिक पुनरुत्थान के क्षेत्र में नेता के रूप में ब्रह्म समाज के योगदान का अत्यधिक अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

आर्य समाज

इस्लाम की भाँति भारत में ईसाई धर्म के प्रभाव ने भी इस काल में यहाँ कई विरोधी आन्दोलनों को जन्म दिया। इनमें आर्य समाज सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसके प्रवर्तक ऋषि दयानन्द थे। दयानन्द ने वेदों की जो व्याख्या की उसने हिन्दू धर्म को नया स्वरूप दिया। ऋषि दयानन्द के दृष्टिकोण का पहले तो लोगों ने उपहास किया और उनको अपमानित भी किया गया। लोगों ने उन्हें गालियाँ तक दीं। किन्तु बाद में पूर्व तथा पश्चिम के विद्वानों ने उनके मत की प्रशंसा की। श्री अरविन्द ने लिखा है कि "ऋषि दयानन्द की इस विचारधारा में कोई ऊटपटांग बात नहीं है कि वेद में विज्ञान तथा धर्म दोनों के सत्य निहित हैं। मेरा तो यहाँ तक विश्वास है कि वेद में विज्ञान के वे सत्य भी निहित हैं जो आधुनिक विश्व के पास बिल्कुल नहीं है। और इसलिए दयानन्द ने वैदिक ज्ञान की गहराई के विषय में अधिक नहीं बल्कि कम ही कहा है।"

अस्तु, दयानन्द की व्याख्याओं ने हमें सच्चे लेख प्रदान किये हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मूर्ति-पूजा के सार-तत्व को न समझते हुए उसके प्रति लगाव तथा सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध जोरदार आवाज उठायी और हिन्दुओं को ईसाई धर्म या इस्लाम के चंगुल में फँसने से बचाया। परन्तु वे धर्मांध या कट्टर नहीं थे और सन् १८७७ ई० में दिल्ली

दरबार के अवसर पर समस्त धर्मों के प्रतिनिधियों के सम्मेलन के आयोजित किये जाने के विचार पर विचार-विमर्श तक किया था।

ऋषि दयानन्द (१८२४-१८८३) ने औपचारिक रूप में सन् १८७५ ई० में बम्बई में वैदिक धर्म को प्रचारित करने की एक संस्था के रूप में आर्य समाज की स्थापना की और "सत्यार्थ प्रकाश" नामक अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रकाशित किया। उनके उपदेशों की मज़बूत जड़ें पंजाब और उत्तर प्रदेश में जमीं।

प्रत्येक सुधार आन्दोलन की भाँति आर्य समाज ने भी सबसे पहले हिन्दू समाज को शुद्ध करने तथा उसकी बुराइयों को दूर करने का कार्य प्रारम्भ किया। आर्य समाज के निम्नलिखित कुछ मुख्य सिद्धांत थे :—

(१) एक ईश्वर की पूजा ; (२) जाति-प्रथा के उन्मूलन के बदले चरित्र पर आधारित सच्ची वर्ण-व्यवस्था ; (३) वेदों में दिये गये धार्मिक कर्मकाण्डों को सम्पन्न करना ; (४) स्त्रियों की स्वतंत्रता ; (५) अस्पृश्यता-उन्मूलन ; (६) अहिन्दुओं तक को हिन्दू धर्म या वैदिक धर्म में सम्मिलित करना तथा (७) संस्कृत या हिन्दी के माध्यम से शिक्षा।

आर्य समाज के सदस्यों को अपने सिद्धांतों के लिए अन्ध विश्वासी हिन्दुओं तथा कट्टर मुसलमानों दोनों के हाथों शहीद तक होना पड़ा।

हिन्दुओं के उत्थान में आर्यसमाज ने जो योगदान किया है उसका अप्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि इसके अनुयायी केवलमात्र आर्यसमाजी होने के कारण शासकों द्वारा कारागार में बन्द किये जाते थे। यह लेडी मिन्टो की डायरी में लिखा हुआ है। उस समय हिन्दू शक्तिहीन हो गये थे तथा उनके मस्तिष्क दुर्बल थे। उनमें सामाजिक बुराइयों से लड़ने के लिए साहस का अभाव था। आर्य समाज की स्थापना से उदासीनता की यह भावना सदा के लिए समाप्त हो गयी। हिन्दुओं के लिए धर्म पुनः जीवित वस्तु हो गया। आर्य समाज ने लोगों की बुद्धि, ज्ञान एवं मस्तिष्क को प्रभावित किया तथा इसके प्रवर्तक ने आत्म-बलिदान का ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया जिसकी इतिहास में समानता नहीं मिलती। आर्य समाज के अन्तर्गत विद्यालय खोले गये, प्राचीन आश्रमों के ढंग पर गुरुकुल खोले गये, सब की सेवा के लिए सेवा-समितियाँ स्थापित की गयीं और देश के

बाहर भी (विदेशों में) सामाजिक जागृत और उत्थान कार्य करने के लिए आर्य समाज की शाखाएँ स्थापित की गयीं। वस्तुतः, आर्य समाज ने उस समय हिन्दू समाज को संगठित किया जबकि वह सन् १८५७ ई० के विद्रोह के बाद के वर्षों में छिन्न-भिन्न हो रहा था। आजकल प्रजातंत्र ईश्वर है किन्तु स्वामी दयानन्द को हम उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में उस समय प्रजातंत्र का प्रयोग करते हुए पाते हैं जबकि उन्होंने लाहौर आर्य समाज को तब तक परामर्श देने से इन्कार कर दिया था जब तक वे उसके सदस्य नहीं बनाये गये। वे गतिशील व्यवस्था के ऋषि थे और उन्हें ईश्वर में वैयक्तिक मिलन से प्रेरणा मिली थी।

थियोसाफ़िस्ट

जिस धार्मिक विचार ने पश्चिम को भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के सत्यों का ज्ञान कराया उसके विचारकों का एक अन्य दल था जो "थियोसाफ़िस्ट" कहा जाता है। थियोसाफी शब्द प्रसिद्ध संस्कृति शब्द "ब्रह्मविद्या" का अनुवाद है। यह थियोस (ईश्वर) तथा सोफिया (ज्ञान) नामक दो ग्रीक शब्दों को मिला कर बना है। मैडम एच० पी० ब्लावत्स्की, कर्नल एच० एस० अलकाट तथा कुछ अन्य लोगों द्वारा स्थापित की गयी थियोसाफिकल सोसाइटी ने आजकल इस शब्द को प्रचलित किया है। थियोसाफिस्टों ने "ब्रह्म" का ज्ञान कई सूत्रों से संग्रहीत किया जिनमें भारत, ग्रीस तथा प्रारम्भिक ईसाई धर्म के गूढ़ उपदेश उल्लेखनीय हैं। भारत में हम इसका स्मरण इसलिए करते हैं क्योंकि इसका सम्बन्ध डा० एनी बेसेन्ट से रहा है जो भारतीय स्वतंत्रता की प्रसिद्ध समर्थक थीं। उनके ज्ञानपूर्ण स्पर्श तथा चुम्बकीय व्यक्तित्व ने अनेक भारतीयों को थियोसाफ़ी की ओर आकर्षित किया। थियोसाफिस्टों का मत है कि सब धर्म एक ही स्रोत से निकले हैं और इसलिए कोई एक ही धर्म ऐसा नहीं है जो कि मुक्ति का विशेष मार्ग है। प्रत्येक धर्म सूर्य की सात किरणों के समान भिन्न होते हुए भी मानवता के उत्थान में अपना-अपना भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। चूँकि सभी मनुष्यों में 'देवत्व' है, इसलिए विश्व-बन्धुत्व एक प्राकृतिक तथ्य हो जाता है। थियोसाफिस्टों ने मृत्यु से परे के जीवन से संबंधित बहुमूल्य तथ्य संग्रहीत किये हैं। अस्तु, थियोसाफिस्टों की विशेषता यह है कि दैवी ज्ञान के अस्तित्व में उनका गहरा विश्वास है और वे निश्चित

रूप में मनुष्य के लिये ईश्वर की वृहत योजना में अपने को एक माध्यम मानते हैं। इसलिए, वे बिना जाति–धर्म–रंग के भेद के सब मनुष्यों की सेवा करते हैं। थियोसाफ़िस्टों ने भारतीय संस्कृति के प्रसार में भी सहायता पहुँचाई है।

रामकृष्ण मिशन

श्री रामकृष्ण परमहंस ने जो आध्यात्मिक आन्दोलन चलाया था अब हम उसका वर्णन करते हैं। इस आन्दोलन ने भारतीय जागृति में निर्णयात्मक कार्य किया। सन् १८७० ई० से १८७९ के बीच भारत में जो सांस्कृतिक ह्रास हुआ था उसको ध्यान में रखते हुये इस आंदोलन के महत्व के विषय में अनुमान लगाना चाहिए। इस अवधि में भारत में साँस्कृतिक सिद्धान्तों की बाढ़ सी आ गयी थी। राजनीतिक रूप में अंग्रेजों के आधीन हो जाने के कारण भारत तीव्र गति से वासना-पूर्ण सभ्यता के प्रवाह में आ रहा था। अंग्रेजी शिक्षा में पले होने के कारण भारतीयों का यह विश्वास हो गया था कि भारत की कोई अपनी संस्कृति नहीं है और उसे अपने को पूर्णतः यूरोपीय सभ्यता के साँचे में ढालना होगा।

साथ ही, अंग्रेजी भाषा के माध्यम से इस देश में अनीश्वरवाद की भी बाढ़ आ गयी थी। परन्तु, पश्चिमी भौतिकवाद के साथ ईसाई धर्म भी था जो भारतीयों को उनके प्रचीन धर्म से दूर ले गया होता यदि रामकृष्ण मिशन ने हिन्दू–धर्म का सुधार–आन्दोलन न चलाया होता।

इस आन्दोलन तथा उपर्युक्त आन्दोलन में बड़ा अन्तर है क्योंकि इसने बिना अपनी स्वतन्त्र व्यवस्था चलाए हिन्दू धर्म के ही अन्दर सुधार करने का प्रयत्न किया था। इस देश की अधिकाँश जनता को" ब्रह्म समाज" तथा "आर्य समाज" नहीं आकर्षित कर सका था और वह अपने प्राचीन धर्म पर चल रही थी। श्री रामकृष्ण ने इन लोगों की सेवा की। उनके अद्भुत जीवन में अत्यधिक आध्यात्मिकता थी। हिन्दू धर्म के प्रति उनका दृष्टिकोण व्यापक और समन्वयात्मक था। उन्होंने ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी अपने सिद्धान्तों को अत्यन्त सादे ढंग पर जनता के समक्ष प्रस्तुत किया था। उनके विचारों तथा उनके पहले के ऋषियों तथा रहस्यदर्शियों के जीवन में पूर्णतः सामंजस्य था। महात्मा गाँधी के शब्दों में "श्री रामकृष्ण परमहंस के जीवन की कहानी व्यावहारिक धर्म की कहानी है। उनका जीवन हमें ईश्वर का साक्षात दर्शन करने के योग्य बनाता है। केवल ईश्वर

ही सत्य है और सब कुछ माया है इस बात में विश्वास किये बिना उनके जीवन का कोई अध्ययन नहीं कर सकता। रामकृष्ण ईश्वरत्व के जीवित प्रतीक हैं।" नरेन्द्रनाथ (बाद में स्वामी विवेकानन्द) सरीखे बुद्धिवादी तक उनके समक्ष झुक गये थे और उनके चरणों में अपने को अर्पण कर दिया था। स्वामी विवेकानन्द के द्वारा परमहंस के उपदेशों का पूर्व तथा पश्चिम में प्रचार हुआ। रोम्याँ रोलाँ ने लिखा है कि "जिस व्यक्ति की मैं यहाँ प्रार्थना करता हूँ उसकी प्रतिमा ३००० लाख जनता के आध्यात्मिक जीवन के २ हजार वर्षों की सम्पूर्णता थी। यद्यपि उस व्यक्ति की मृत्यु हुए चालीस वर्ष हो गए हैं, फिर भी उसकी आत्मा आधुनिक भारत को जीवन दे रही है।"

रामकृष्ण जनता के बीच से आये थे। सन् १८३५ ई० की १८ फरवरी को उषा-वेला में हुगली जिला (बंगाल) के कामारपुकुर गाँव में उनका जन्म हुआ था, वे ब्राह्मण थे। उनका नाम गदाधर रखा गया था। अल्पायु से ही उनके विचारों में आध्यात्मिकता आ गयी थी और उनमें कल्पना-शक्ति आ गई थी। वे संगीत और कविता के बड़े प्रेमी थे तथा वीरगाथाओं की कविताओं एवं गाना गाने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। नाटक में शिव का अभिनय करने तथा विसालक्ष्मी देवी की पूजा करने में वे परमानन्द से अभिभूत हो जाया करते थे। किसी देवता की आराधना में समाधिस्थ हो जाने पर उनके मस्तिष्क के समक्ष उसका वास्तविक स्वरूप आ जाता था और तुरन्त ही उनकी वाह्य चेतना लुप्त हो जाया करती थी। ९ वर्ष की अल्पायु में ही उन पर अपने पारिवारिक देवता की पूजा करने का कार्य-भार आ गया था और इसने उनको परमानन्द दिया।

जब सन् १८५५ के निकट उनके बड़े भाई कलकत्ता के एक मन्दिर के पुजारी की अनुपस्थिति में उसके स्थान पर काम करने गये थे तब वे भी, अनिच्छापूर्वक ही, उनके साथ गये थे। दूसरे वर्ष में उनके बड़े भाई की मृत्यु हो गई और वे उस मन्दिर के मुख्य पुजारी नियुक्त कर दिए गये। यह मंदिर उनके मृत्यु तक उनका निवास-स्थान रहा। यह मन्दिर दक्षिणेश्वर काली मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है और कलकत्ता से ४ मील उत्तर दक्षिणेश्वर नामक ग्राम में स्थित है। यह गंगा के पूर्वी तट पर स्थित है। इसके अहाते में कृष्ण का एक मन्दिर था और बारह मन्दिर शिव के थे। परन्तु आदि माता काली के मन्दिर से रामकृष्ण का अधिक लगाव था। यहाँ से उन्होंने अनेक धार्मिक

प्रयोग किये। उदाहरणार्थ, उन्होंने काली का साक्षात दर्शन करना चाहा। इसके लिये वे काली की बिनती किया करते थे तथा रोया तक करते थे। इसमें उन्हें बड़ी यन्त्रणा सहन करनी पड़ी। उन्होंने इसी में अपने जीवन को समाप्त कर देने का निश्चय कर लिया था। परन्तु दो दिन के बाद ही काली माता ने उन्हें दर्शन दिया और उन्हें परमानन्द प्राप्त हो गया। उनमें क्रमशः ऐसी शक्ति आ गयी कि वे सदा काली का साक्षात दर्शन कर सकते थे। इसके पश्चात् राम, कृष्ण तथा अन्य स्वरूपों में ईश्वर का दर्शन करने की उनकी इच्छा हुई। उनकी यह इच्छा भी पूरी हो गई। सन् १८५९ में वे कुछ समय के लिए अपने गांव चले गये। वहाँ उनका विवाह हो गया, परन्तु वे आजीवन ब्रह्मचारी रहे। बाद में वे पुनः दक्षिणेश्वर वापस आ गये। यहाँ पुनः उन्होंने विभिन्न आध्यात्मिक प्रयोग किये। उन्होंने तंत्र, वैष्णवधर्म, अद्वैतवाद, इस्लाम, ईसाई धर्म तथा बौद्ध धर्म के धार्मिक नियम-संयम के प्रयोग किये। इन सब मार्गों से वे अनुभूत ऋषि और रहस्यदर्शी बन कर निकले। जो लोग मुक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से उनके पास जाते थे उनको उपदेश देने के लिए अब वे तैयार थे। उनकी पवित्रता, पूर्णता, तथा मानव-प्रेम ने शक्तिशाली चुम्बक की भाँति सब को अपनी ओर आकर्षित किया। उनके ज्ञान एवं चमत्कार ने सब पर जादू कर दिया। वे सरल भाषा में उच्चतम दर्शन की व्याख्या कर सकते थे। वे विशेषतः कहानियों के द्वारा दर्शन का स्पष्टीकरण करते थे। कुछ ही समय में उनके शिष्यों (अनुयायियों) की संख्या काफी हो गयी। दया के प्रति उनका रुख क्या था यह उनके इस वाक्य से स्पष्ट है: "लोग जीवों पर दया करने की बात करते हैं! जो जीव शिव के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है उस पर दया करने के विषय में सोचना कितनी धृष्टता है। जीव को ईश्वर मानना होगा और पूरे हृदय से उसकी सेवा करनी होगी।" ईश्वर के प्रकट रूप पीड़ित मानवता की सेवा के द्वारा ईश्वरोपासना का यही वह सन्देश था जिसे रामकृष्ण के प्रसिद्ध शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने विश्व भर में फैलाया था। और वे उस सन्देश को फैलाकर इसलिए छोड़ गए कि अगली पीढ़ियों के लोग रामकृष्ण मिशन के द्वारा उसका अनुकरण करें। १५ अगस्त सन् १८८६ को रामकृष्ण का स्वर्गवास हो गया। मृत्यु के पूर्व उन्होंने पवित्र भ्रातृत्व संघठित करने तथा लोगों का आध्यात्मिक कल्याण करने का कार्य विवेकानन्द को सौंप दिया था।

रामकृष्ण के लिए धर्म उनके जीवन का श्वाँस था। उनका धर्म सब को सम्मिलित करने वाली आध्यात्मिकता थी। ईश्वर का दर्शन पाना जीवन का योग्यतम उद्देश्य था। भक्ति, पवित्रता, साधुता, निःस्वार्थता, प्रेम, तथा नम्रता आदि मनुष्य की सच्ची सम्पत्ति थी। "उनके मुख से विश्व प्राचीन ऋषियों के स्वर सुनता है और उनके जीवन में संसार ग्रन्थों के अर्थों का अनुसन्धान करता है। उनके जीवन तथा उपदेशों के द्वारा लोगों को प्राचीन पाठों को फिर से याद करने का अवसर प्राप्त हुआ।

विवेकानन्द (१८६३–१९०२) ने अपने निजी प्रयोगों के द्वारा अध्ययन करके अपने गुरु के सन्देश को विदेशों में प्रसारित किया। विवेकानन्द (नरेन्द्रनाथ) का जन्म १२ जनवरी सन् १८६३ को कलकत्ता के एक उच्चवर्गीय (रईस) क्षत्रिय परिवार में हुआ था। उनका शरीर स्वस्थ और पहलवानों जैसा था। वे व्यायाम तथा संगीत कला में भी पारंगत थे। उन्होंने कालेज की पूरी शिक्षा प्राप्त की थी। वे ब्रह्मसमाज में सम्मिलित हुए थे परन्तु वहाँ उन्हें सन्तोष नहीं मिला। फ़लस्वरूप वे अन्य धार्मिक महापुरुषों की खोज में लग गये और सन् १८८१ में श्री रामकृष्ण से उनकी भेंट हुयी। इन दोनों की यह भेंट धार्मिक तथा तत्वज्ञानी "पूर्व" एवं बुद्धिवादी "पश्चिम" की भेंट थी। और क्रमशः पश्चिम पर पूर्व की पूर्ण विजय हुयी।

पहली ही भेंट में विवेकानन्द ने श्रीरामकृष्ण से यह प्रश्न किया कि "क्या आपने ईश्वर को देखा है?" श्री रामकृष्ण ने तत्काल उत्तर दिया, "हाँ, मैं ईश्वर को ठीक वैसे ही देखता हूँ जैसे यहाँ पर तुम्हें देख रहा हूँ।" उन्होंने आगे कहा, "ईश्वर पहचाना जा सकता है; मनुष्य उसे वैसे ही देख सकता है और उसके साथ बात चीत कर सकता है जैसे मैं तुम्हारे साथ कर रहा हूँ। परन्तु, ऐसा करने की कौन परवाह करता है? लोग अपने स्त्री-बच्चों, धन-सम्पत्ति के लिए आँसुओं की धार बाँध देते हैं, परन्तु ईश्वर के लिए कौन ऐसा कर सकता है? यदि कोई मनुष्य सचमुच उसके लिए रोता या विलाप करता है तो ईश्वर निश्चय प्रकट हो जाता है।" इस सब का नरेन्द्रनाथ पर गहरा प्रभाव पड़ा और वे रामकृष्ण की ओर इतने अधिक आकर्षित हो गए कि वे प्रतिदिन उनसे भेंट करने लगे। उनके विचार बदल गये और वे आध्यात्मिकता के "साधक"

हो गए। अपने गुरु की मृत्यु के बाद सन् १८८६ में नरेन्द्रनाथ ने रामकृष्ण मिशन स्थापित करने का निश्चय किया और वे अपने कुछ सहकर्मियों के साथ सन्यासी हो गये। तदुपरान्त वे लोग देश-पर्यटन करने लगे। धीरे-धीरे विवेकानन्द का यह निश्चत मत हो गया कि "यदि हिन्दुओं को अपने गौरव की चरम सीमा पर पहुँचना है तो प्राचीन ऋषियों के धर्म को गतिशील तथा हिन्दू धर्म को आक्रामक बनाना पूर्णत: आवश्यक है।" संसार को भारत के अपरिमिति आध्यात्मिक कोषागार को अवश्य जानना चाहिए। उन्होंने सन् १८९३ में शिकागो (अमेरिका) में होने वाले "पार्लियामेंट आफ रिलीजन्स" में सम्मिलित होने का निश्चय किया। परन्तु जब वे वहाँ पहुँचे उनको पहले "पार्लमेंट" में सम्मिलित होने की आज्ञा नहीं दी जा सकी क्योंकि उनके पास प्रमाणपत्र नहीं थे। इस पर हार्वर्ड विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर ने प्रतिनिधियों को निर्वाचित करने वाली समिति के अध्यक्ष से विवेकानन्द को महासभा में सम्मिलित करने की सिफारिश करते हुए ये शब्द कहे—"यह वह व्यक्ति है जो हमारे सब विद्वान् प्रोफेसरों से कहीं अधिक विद्वान् है।" उन्होंने महासभा में पहले दिन जो भाषण दिया उसी ने श्रोताओं को अत्यधिक प्रभावित कर दिया। इस भाषण में हिन्दू ऋषियों के प्राचीन सन्देश थे और वहाँ के लोगों को इससे नवीन ज्योति मिली। विवेकानन्द का सन्देश शान्ति, विश्व-बन्धुत्व तथा समस्त धर्मों के प्रति सहिष्णुता का सन्देश था। उनका सन्देश था कि "ईश्वर प्रत्येक धर्म में है।" इसके बाद विवेकानन्द ने अमेरिका का भ्रमण किया। उन्होंने अमेरिका के स्वातंत्र्य-प्रेम, औद्योगिक संगठन, शिक्षण-व्यवस्था, प्रगतिशीलता, विज्ञान तथा संगठित सामाजिक कल्याण कार्य की प्रशंसा की परन्तु साथ ही उन्होंने अमेरिका की विलासप्रियता, अपव्ययिता, धार्मिक तथा सांस्कृतिक असहिष्णुता, हिंसा-वृत्ति तथा दुर्बलों के आर्थिक शोषण की कटु आलोचना की। उन्होंने अनेकानेक प्रवचन दिये जिनसे प्रभावित होकर कई लोग उनके उपदेशों पर चलने लगे और उनके अनुयायी हो गए। इस प्रकार उन्होंने अमेरिका में रामकृष्ण मिशन की भावी शाखाओं की नींव डाली। सन् १८९५ में वे पेरिस होते हुए इंगलैंड गये। वहाँ भी उनका पूर्ण सम्मान किया गया। बाद में वे पुनः अमेरिका लौट गए और सन् १८९६ में न्यूयार्क में उन्होंने "वेदान्त सोसाइटी" संगठित की। इसके बाद वे पुनः इंगलैंड गए और वहीं पर मार्गरेट नोबल नामक एक लड़की से उनकी भेंट हुयी। यही लड़की बाद में भारत-भक्त हो गयी और

"सिस्टर निवेदिता" के नाम से विख्यात हैं। सन् १८९७ में स्वामी विवेकानन्द भारत लौट आये। उन्होंने विदेशों में जो कार्य किया उससे विश्व भर में भारत का बहुत सम्मान बढ़ गया। उन्होंने धर्म की यह व्याख्या की कि वह ईश्वर का प्रकट रूप है और मनुष्य के आत्मा में विद्यमान है। स्वामी विवेकानन्द अपने इस मत पर अत्यधिक जोर देते थे कि किसी मनुष्य या समाज के जीवन का मूल्य केवल भौतिक या बौद्धिक प्रगति से ही नहीं अपितु आध्यात्मिक प्रगति से आँका जाना चाहिये। सन् १८९९ में पुनः अमेरिका जाने के पूर्व उन्होंने भारत का व्यापक भ्रमण किया था। भारतवासियों ने उनमें भारतीय सम्मान को पुनर्जीवन देने वाला व्यक्तित्व पाया था और वे "भारत के देशभक्त ऋषि" कहे जाते हैं। उन्होंने यह घोषित कर दिया था कि "यह आज्ञा जारी हो गयी है कि भारत का उत्थान अवश्य होगा। अब उसका मुकाबला कोई भी नहीं कर सकता; अब वह कभी नहीं सोएगा, अब कोई भी बाहरी शक्ति उस पर अधिकार नहीं कर सकती, क्योंकि अप्रकट दानव अब अपने पैरों पर खड़ा हो रहा है।" साथ ही उन्होंने भारत की गरीबी तथा अन्धविश्वासों की भर्त्सना भी की थी और इसके लिए उन्होंने भारतीयों को ही उत्तरदायी ठहराया था। उन्होंने भारतीयों से "अपने शरीर को लोहा तथा इस्पात सा सुदृढ़ बनाने को कहा था जिससे उनका कोई मुकाबला न कर सके।" उनका यह भी मत था कि "भारत में धार्मिक जीवन ही राष्ट्रीय जीवन की संगीत का मुख्य स्वर है, यदि कोई भी राष्ट्र इसकी राष्ट्रीय जीवन शक्ति को समाप्त करने का प्रयत्न करता है और वह इसमें सफल होता है तो उसका अन्त हो जायगा।" "हमारे जीवन का रक्त आध्यात्मिकता है; यदि यह रक्त पवित्र, स्वच्छ और शक्तिशाली रहता है तो सब कुछ ठीक रहेगा; यदि यह रक्त पवित्र है तो इस देश की राजनीतिक, सामाजिक तथा भौतिक बीमारियाँ और निर्धनता तक की बीमारी भी अच्छी हो जायगी। उन्होंने यह भविष्यवाणी की थी कि "यदि भौतिक शक्ति के प्रकाश का केन्द्र यूरोप अपनी स्थिति को नहीं बदलता है तो वह आगामी ५० वर्षों में छिन्न-भिन्न हो जायगा। "उनकी यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हो गयी है। समाजवाद भी केवल तभी सफल हो सकता है जबकि वह आध्यात्मिक सिद्धांतों पर आधारित हो। उनकी इच्छा थी कि सब लोग गरीबों-पददलित मानवता-की सेवा करें।" उसी को मैं महात्मा कहूँगा जिसका हृदय गरीबों के लिए पिघलता है, अन्यथा वह "दुरात्मा" है। "जब तक भारत की जनता फिर सुशिक्षित नहीं हो

जाती, पूर्ण तृप्त नहीं हो जाती तब तक कोई भी राजनीति क्यों न हो वह व्यर्थ रहेगी। सन् १८९७ में कलकत्ता से ५ मील दूर बेलूर में रामकृष्ण मिशन का प्रधान कार्यालय स्थापित किया गया।

स्वामी विवेकानन्द ने पुनः अमेरिका—भ्रमण किया और वहाँ पर मिशन के कई केन्द्र स्थापित किये जिनमें सैन फ्रांसिस्कों का केन्द्र अधिक प्रसिद्ध है। उन्होंने पेरिस में होने वाली "धर्मों के इतिहास की महासभा में भाग लेने के लिए सन् १९०० में अमेरिका छोड़ा। वहाँ से मध्य यूरोप तथा मिस्र होते हुए वे सन् १९०० में ही स्वदेश वापस आ गये। और सन् १९०२ ई० में ३९ वर्ष की अल्पायु में ही वे इस संसार से चल बसे।

विश्व भर में रामकृष्ण मिशन की शाखाएँ स्थापित हैं जहां लोगों को आध्यात्मिक शिक्षा दी जाती है तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों-शिक्षा, धर्मप्रचार, समाज तथा मानव सेवा-की शिक्षा दी जाती है। श्री रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय आध्यात्मिकता के स्रोत को खोल दिया था। इन लोगों ने उस "भारतीय जागृति" की नींव डाली थी जो बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रवीन्द्रनाथ टैगोर, जे० सी० बोस, तिलक, श्री अरविन्द, महात्मा गांधी, अवनीन्द्रनाथ टैगोर आदि व्यक्तित्वों के रूप में खूब पल्लवित हुयी थी।

राधास्वामी मत

इसी काल में राधास्वामी सत्संग या बन्धुत्व नामक एक दूसरा धार्मिक मत प्रचलित हुआ। इस मत का यह नाम इसके प्रवर्तक राधास्वामी-परमात्मा—के नाम पर पड़ा। ये मानव-रूप में प्रकट हुए थे और इन्होंने अपना नाम "सन्त सतगुरु या पूर्ण सन्त या सच्चा पथप्रदर्शक" रखा था। इस मत के द्वितीय गुरु द्वारा प्रकाशित "राधास्वामी मत प्रकाश" के अनुसार "यह पवित्र नाम "राधास्वामी" "परमात्मा" तथा उस "मौलिक आत्मा या स्वर" दोनों का प्रतीक है जो "उसके" पवित्र चरणों से निकला था और जो सम्पूर्ण सृष्टि का मुख्य तत्व है। परमात्मा संसार में सन्त सतगुरु या साधुगुरु के रूप में प्रकट होता है और मुक्ति-प्राप्ति के इच्छुक भक्त को उसकी सहायता अवश्य लेनी चाहिए। उसके निर्देशानुसार "परमात्मा" के पास पहुँचने के लिए उसे "सुरत शब्दयोग" करना चाहिए। किसी भी

मादकद्रव्य का सेवन न करना चाहिए तथा मांसाहार न करना चाहिए। इस मत के अनुयायियों को किसी इच्छा में लिप्त न होना चाहिए।

इस मत में "गुरु" ही सब कुछ है। वह सब का केन्द्र है। इस मत के प्रथम गुरु आगरा के एक सेठ थे। सन् १८१८ ई० में एक क्षत्रिय परिवार में उनका जन्म हुआ था। वे शिवदयाल साहब के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्होंने सन् १८६१ ई० में सार्वजनिक रूप में अपने सिद्धांतों की घोषणा की थी। सन् १८७८ ई० में उनका स्वर्गवास हो गया था और राधास्वामी गार्डेन, आगरा, स्थित पवित्र समाधि में उनकी अस्थियाँ गाड़ी गयी थीं। द्वितीय गुरु राय शालिग्राम साहब बहादुर का जन्म सन् १८२८ ई० में हुआ था। वे कायस्थ थे और बाद में उत्तर प्रदेश के पोस्टमास्टर जनरल हो गये थे। वे सन् १८७८ ई० गुरु हुए थे और मृत्यु तक गुरु बने रहे। उनकी मृत्यु सन् १८९८ ई० में हुयी थी। उनकी तीक्ष्ण बुद्धि तथा अद्भुक्त प्रकाश-शक्ति के कारण इस मत का अधिक प्रचार हुआ। उन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं। तृतीय गुरु ब्रह्मशंकर मिश्र बंगाली ब्राह्मण थे। इनका जन्म सन् १८६१ ई० में हुआ था। वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के एम० ए० थे और सन् १८९८ में गुरु हुए थे। उन्होंने सत्ससंग का विधान बनाया था और उसकी केन्द्रीय व्यवस्थापिका समिति बनायी थी। "महाराजा साहब" उनकी उपाधि थी। सन् १९०७ में उनकी मृत्यु हो गयी। इनके बाद इस मत में भी फूट के कुछ लक्षण दिखाई दिये और इसकी भी कई शाखाएँ हो गयीं किन्तु इसकी मुख्य शाखा इस समय आगरा में ही है और वहाँ इस मत के प्रसिद्ध आधुनिक गुरु "साहब जी"—स्व० सर आनन्द स्वरूप—इस मत के अध्यक्ष थे। उनके अधीन दयालबाग नामक एक बस्ती बसायी गयी थी। यह आधुनिक ढंग की बस्ती है और इसमें इस मत के अनुयायी लोग रहते हैं। इसमें एक मन्दिर तथा कई विद्यालय, कारखाने तथा व्यावसायिक तथा औद्योगिक प्रतिष्ठान हैं। इस मत के अनेक अनुयायी हैं जिनमें विशेषतः मध्यमवर्ग के लोग अधिक हैं। इसके अनेक सिद्धान्त हिन्दूधर्म से लिए गये हैं। "सूरत शब्दयोग" इसकी मुख्य क्रिया है। इसका अर्थ मानवात्मा का परमात्मा के शब्द से मिलन है। इस मत के प्रत्येक अनयायी या अनुयायियों के समूह को गुरु गुप्त रूप में इस क्रिया की प्रणालियाँ बताता है। इसके अनुयायियों को गार्हस्थ्य जीवन से पृथक नहीं होना पड़ता। इसमें जाति-भेद या स्त्री-पुरुष का पार्थक्य नहीं है। इसमें नये शिष्य बनाने की व्यवस्था

नहीं है और इसमें हिन्दू धर्म को नहीं छोड़ना पड़ता। इस मत के अनुयायियों को दान-धर्म के कार्य करने पड़ते हैं, सेवा-भाव रखना पड़ता है और प्रार्थना करनी पड़ती है। इनके उपदेशों तथा कबीर के उपदेशों में बहुत सामंजस्य है। साधारण अनुयायी भी सत्यसंगी या "साधु" कहे जाते हैं। मुख्यत: यह मत भक्ति से सम्बन्धित है। इसमें हठयोग नहीं है और इसके उपदेश गूढ़ हैं। इसमें कठोर सन्यास नहीं है। इन्हीं कारणों से यह मत अधिक प्रचलित हो गया।

प्रार्थना समाज

ब्रह्म समाज के समान भारत में अन्य कई धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाएँ स्थापित हो गयी थीं। महाराष्ट्र में इसी की एक संस्था-प्रार्थना-समाज स्थापित हुयी थी। यह संस्था हिन्दू समाज का एक अंग थी और इसका उद्देश्य हिन्दू धर्म के अन्दर सुधार करना था। सन् १८६७ में इसकी स्थापना हुयी। एक ईश्वर की उपासना (राष्ट्रीय) और सामाजिक सुधार इसके सिद्धांत थे। इन सिद्धांतों को नामदेव, तुकाराम और रामदास सरीखे महाराष्ट्र के सन्तों की प्रेरणा मिली थी। इन्होंने अस्पृश्यता, निरक्षरता, हिन्दू विधवाओं के प्रति निर्दयता, स्त्री-पुरुष में असमानता आदि सामाजिक दोषों के उन्मूलन पर जोर दिया तथा सहभोज, अन्तर्जातीय विवाह, विधवा-विवाह के प्रचलित किये जाने तथा पददलितों एवं अनाथों के लिए आश्रम स्थापित किये जाने के पक्ष में जोरदार आन्दोलन किया। यह महाराष्ट्रीय चरित्र में यथार्थवाद का द्योतक है। जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे इस आन्दोलन के नेता थे। इन्हीं की प्रेरणा से प्रसिद्ध "डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी" की स्थापना हुयी थी। उन्हीं के मस्तिष्क में सर्वप्रथम यह विचार उत्पन्न हुआ था कि देश में राजनीतिक सुधार करने के लिए एक राजनीतिक संस्था बनाई जाय और इसी के फलस्वरूप भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। जब-जब कांग्रेस के अधिवेशन हुए तब-तब उन्होंने सामाजिक सम्मेलन भी किया। वे स्पष्ट विचारक तथा यथार्थवादी थे। सी० एफ० एन्ड्रूज के शब्दों में, "रानाडे उन सुधारकों में से, जिनका वर्णन किया जा चुका है, राजा राममोहन राय तथा सर सैयद अहमद खाँ के अत्यन्त निकट थे परन्तु उनका लक्ष्य तथा भारत में पश्चिमी सभ्यता के विशिष्ट सिद्धांतों को प्रचलित करने का विचार उन दोनों से कहीं आगे बढ़ा हुआ था।"

पंजाब के एक अन्य धार्मिक सुधारक स्वामी रामतीर्थ थे जो स्वेच्छा से गंगा में डूब गए थे। वे सुशिक्षित तथा एम० ए० थे। चौबीस वर्ष की आयु में ही उन्होंने घर छोड़ दिया था और वे सन्यासी हो गए थे। उन्होंने विदेश-भ्रमण भी किया। उनके उपदेशों का प्रचार करने के लिए कई संस्थाएँ (मिशन) स्थापित की गयी हैं परन्तु वे संस्थाओं के स्थापित किए जाने के विरोधी थे। उनका यह कहना था कि भारत की सब संस्थाएँ "राम" की हैं जो इन सब में कार्य करेगा और सब भारतवासी मेरे लिए एक हैं। वे राम के बड़े उपासक थे किन्तु उनके राम परम्परागत राम नहीं। उनके लिए "राम" ईश्वर का प्यारा नाम था। वे प्रायः परमानन्द की अवस्था में समाधिस्थ हो जाया करते थे। वे अपने उपदेशों में सत्य, ज्ञान, सच्चरित्र, निःस्वार्थता तथा समानता एवं "परम सत्य" के चिन्तन पर जोर देते थे। उनका उपदेश था कि "मनुष्य को राम बनना चाहिए।" उनके उपदेश सरल गद्य एवं पद्य में हैं। वास्तव में, वे अनुभूत आत्मा थे। इधर हाल ही में भारत में रमण महर्षि तथा अरविन्द सरीखे महान् आध्यात्मिक गुरु हुए हैं।

हम यह देखते हैं कि आधुनिक धार्मिक मतों का रूप विशुद्ध कट्टर नहीं है। उनके दृष्टिकोण आलोचनात्मक हैं और उनमें व्यक्ति तथा समाज दोनों के विकास पर जोर दिया गया है। साथ ही उनमें विचार स्वातंत्र्य पर जोर दिया गया है और धर्म की निश्चित बातों के बदले में नैतिकता एवं आध्यात्मिकता की ओर अधिक ध्यान दिया गया है।

धार्मिक जागृति, मुसलमानों में

हिन्दुओं के साथ-साथ भारतीयों के अन्य समुदायों पर भी नवीन जागृति का प्रभाव पड़ा और उन्होंने भी अपने को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। मुसलमानों में जो धार्मिक जागृति हुयी वह उल्लेखनीय है। इनमें भी पुनरुत्थान या आधुनिक ढंग पर सुधार करने की भावना रही। बरेली के सैयद अहमद प्रसिद्ध पुनरुत्थानवादी थे। वे मुस्लिम रस्मरिवाजों तथा आचार-व्यवहारों में पुराने ढंग पर सुधार करना चाहते थे और मुसलमानों में जो अन्धविश्वास प्रचलित थे उनको दूर करना चाहते थे। वे उन नई बातों को प्रचलित किये जाने के विरुद्ध थे जिन्होंने इस्लाम की पवित्रता को नष्ट कर दिया था। दिल्ली के मौलाना क़ादिर दूसरे

धार्मिक नेता थे। इन्होंने कुरान का उर्दू में अनुवाद करके तथा देशी भाषाओं में उपदेश देकर मुसलमानों में जागृति फैलायी थी। इस प्रकार उन्होंने अपने सहधर्मियों के सुधार की जमीन तैयार की थी। किन्तु सन् १८६१ से १८६९ के बीच नवीन आन्दोलन के प्रसिद्ध साहित्यक नेता जौनपुर के मौलवी करमत अली थे। उन्होंने अपना मुख्य कार्य पूर्वी बंगाल में किया। वहाँ उन्होंने उर्दू में अपने मत का प्रचार किया। उनके शक्तिशाली धार्मिक प्रचार ने मुस्लिम जनता में हलचल पैदा कर दी और यह मुस्लिम बंगाल के सांस्कृतिक विकास का एक प्रमुख अंग था। इस्लाम में जो अन्धविश्वासपूर्ण बातें तथा नई वाममार्गी विचारधाराएँ प्रचलित हो गई थीं उनके विरुद्ध उन्होंने जोरदार आन्दोलन किया। उन्होंने वहाबी सिद्धांतों को अस्वीकृत कर दिया और सूफीवाद को मान्यता दी। सन् १८७३ ई० में मौलवी करमत अली की मृत्यु हो गयी। मौलवी चिराग़ अली (सन् १८४४–१८९५) एक अन्य धार्मिक नेता हुए। ये बड़े विद्वान् तथा अन्वेषक थे। इन्होंने अपनी पुस्तकें मुख्यतः अंग्रेजी में लिखी हैं जिनसे सब प्रभावित हुए। इन्होंने उत्तर प्रदेश सरकार के विभिन्न उच्च पदों पर काम किया और बाद में हैदराबाद में उच्च अधिकारी होकर चले गये। मुसलमानों ने सहज ही पश्चिमी शिक्षा को नहीं अपनाया था और उनमें कई सामाजिक बुराइयाँ आ गई थीं। चिराग़ अली ने अपनी साहित्यिक कृतियों के द्वारा मुसलमानों के विवाह सम्बन्धी क़ानूनों, आधुनिक विज्ञान से इस्लाम के सच्चे सम्बन्ध तथा स्त्रियों की स्थिति की ओर मुसलमानों का ध्यान आकर्षित किया। वे एक विवाह के पक्षपाती थे। इसलिए वे उस कोटि के धार्मिक नेताओं में थे जो पश्चिमी सभ्यता से सामंजस्य करना चाहते थे। इस्लाम को आधुनिक रूप देने में सर सैयद अहमद खाँ (सन् १८१७-१८९८) ने सबसे अधिक प्रभावपूर्ण काम किया। वे रचनात्मक व्यक्ति, शिक्षाशास्त्री तथा सुधारक थे। वे "अलीगढ़ के बुजुर्ग" थे। सन् १८५७ सेबहुत पहले ही उन्होंने पीर तथा मुरीद की व्यवस्था की बुराइयों पर पुस्तकें लिखी थीं। बाद में यूरोप के लोगों के साथ भोजन न करने तथा पश्चिमी शिक्षा को न अपनाने के विरुद्ध पुस्तकें लिखीं। वे दास–प्रथा के विरोधी तथा स्त्री–स्वातंत्र्य के समर्थक थे। उनका रुझान कुरान की आधुनिक व्याख्या की ओर था। उन्होंने विदेश–यात्रा भी की थी और इंगलैंड गए थे।

उन्होंने मुसलमानों में अंग्रेजी शिक्षा प्रचलित करने के लिए खूब आन्दोलन किया। उन्होंने सन् १८७५ ई० में अलीगढ़ में एक स्कूल स्थापित किया था जिसने कुछ समय बाद ही "मुहेमडन एँगलों-ओरियन्टल कालेज आफ अलीगढ़" का रूप धारण कर लिया था। यह कालेज अलीगढ़ विश्वविद्यालय का बीज था। उन्होंने सन् १८८६ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रतिद्वन्द्वी संस्था "मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन" की स्थापना की, क्योंकि वे यह नहीं चाहते थे कि मुसलमान अंग्रेजों के वफादार न रहें और हिन्दुओं के चंगुल में चले जायँ। "विचारशक्ति ही एकमात्र पथप्रदर्शक है" यह उनका नारा था। उन्होंने बहु-विवाह, लोकरीति तथा भाग्य-भरोसे रहने के विरुद्ध प्रचार किया। अपने सिद्धान्तों को सत्यसिद्ध करने के लिए उन्होंने कुरान पर टिप्पणियाँ लिखीं। अस्तु, मुसलमानों की शैक्षिक प्रगति तथा आधुनिकता अपनाना सर सैयद के मुख्य योगदान थे। अन्य अनेक नेताओं ने उनके सिद्धांतों का समर्थन किया जिनमें सैयद अमीर अली, मुहम्मद इक़बाल, प्रोफेसर एस० खुदाबख्श तथा प्रोफेसर ए० एम० मौलवी के नाम उल्लेख-नीय हैं।

हाल में ही "अहमदिया मत" नामक एक धार्मिक आन्दोलन चला जो इस्लाम, ईसाई धर्म तथा हिन्दूधर्म में समन्वय करना चाहता है। पूर्वी पंजाब के गुरुदासपुर जिले के क़ादियान नामक गाँव के मिर्जा गुलाम अहमद इस मत के प्रवर्तक थे। मिर्जा साहब धार्मिक सिद्धांतों के उद्भट व्याख्याता थे। सन् १८८९ से वे सूफी गुरुओं की भाँति "बाइयात" (ईश्वर की आज्ञाकारिता) मानने लगे। सन् १८९१ में उन्होंने अपने को ईश्वर द्वारा निश्चित मसीहा घोषित किया। वे अपने को दूसरा "अहमद" कहते थे। यह विषय कटु विवाद का प्रश्न बन गया। सन् १९०४ में मिर्जा साहब ने अपने को कृष्ण भगवान का अवतार घोषित किया। सन् १९१३ में "अहमदिया" मत में फूट पड़ गई और इसकी लाहौर शाखा ने इस संस्था से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और मिर्जा साहब को मसीहा मानना अस्वीकार कर दिया। अहमदियों का मुख्य केन्द्र क़ादियान में है और वे शक्तिशाली हो गए हैं। इन लोगों ने सामाजिक तथा शैक्षिक क्षेत्र में भी बहुत काम किया है। भारत के बाहर में विदेशों में भी इनकी शाखाएँ स्थापित हैं। आधुनिक काल में मुसलमानों में जो धार्मिक सुधार आन्दोलन हुए हैं उनमें उपर्युक्त मुख्य हैं।

आधुनिक भारत के धार्मिक आन्दोलनों पर विचार करने के बाद, हम अब आधुनिक भारतीय संस्कृति के सामाजिक व आर्थिक अगों पर विचार करेगें।

सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति

हिन्दू कोड बिल स्त्रियों को अपने पति को तलाक़ देने तथा अपनी इच्छानुसार विवाह करने का अधिकार देना चाहता है और उन्हें पुरुषों की बराबरी का अधिकार देना चाहता है। यह बिल स्त्रियों के उनके पैतृक सम्पत्ति में भी अधिकार देना चाहता है। आजकल इस बिल का जो जोरदार विरोध हो रहा है उसने भारतीय समाज की रूढ़िवादिता को पुनः प्रकट कर दिया है। समाज के स्वार्थी वर्गों के बचाव के लिए धर्म का पुनः उपयोग किया जा रहा है। परन्तु यह भारत के साँस्कृतिक इतिहास या धर्मशास्त्रों की भावना का ग़लत अध्ययन है। हम यह बता चुके हैं कि प्राचीन भारत में भावना का महत्व था न कि स्वरूप का। दसवीं शताब्दी तक में ब्राह्मण पुरुष तथा क्षत्रिय स्त्री के तथा इसी प्रकार अन्य जातियों में परस्पर अन्तर्जातीय विवाह होते थे। परिस्थितियों के अनुसार सामाजिक प्रथाओं में जो परिवर्तन हुए थे उनको उचित ठहराने के लिए नई-नई स्मृतियाँ लिखी गयी थीं। जहाँ भावना का प्रभुत्व होता है वहाँ स्वतंत्रता अनिवार्य होती है। परिवर्तनशील विचारों के अनुसार सामाजिक स्वभाओं के प्राकृतिक विकास के द्वारा हमारी प्रथाओं का विकास हुआ था। उनको निश्चित करने के लिए कोई निश्चित अधिकारयुक्त ग्रन्थ या व्यक्तित्व नहीं था। इस देश में राजा क़ानूनों का प्रशासक होता था न कि विधान निर्माता या परामर्शदाता। वास्तव में, मनु तक जीवित व्यक्तित्व से अधिक पौराणिक व्यक्तित्व हैं परन्तु धीरे-धीरे पण्डितवर्ग के हाथ में सत्ता आ गई और जाति-व्यवस्था का सन्तुलन नष्ट हो गया। साथ-साथ भारत में मुस्लिम शासन स्थापित हो जाने से हिन्दू समाज को रक्षात्मक स्थिति अपनानी पड़ी जिसके फलस्वरूप सुविधा प्राप्त स्वार्थी वर्ग सुदृढ़ और शक्तिशाली हो गया। जो जाति-प्रथा प्राकृतिक रूप में प्रारम्भ हुयी थी और जिसमें मनुष्य को स्वतंत्रता थी वह पत्थर के सदृश कठोर हो गई जिसके फल-स्वरूप समाज स्थिर हो गया तथा उसमें रूढ़िवादिता आ गयी।

गतिशील पश्चिम ने हमारे सामाजिक दर्शन तथा प्रथाओं के औचित्य क़ी पुनः परीक्षा करने के लिए हमें बाध्य कर दिया। इस प्रयास में आधुनिक

भारत के सामाजिक तथा धार्मिक सुधारकों का मुख्य भाग रहा। शासन अधिकांशतः इस विषय में तटस्थ रहा। कभी-कभी इस देश के जागृत लोकमत के आन्दोलन के दबाव से बेन्टिंग या रिपन सरीखे गवर्नर जनरलों के समय में इंगलैंड में चलने वाले उदार आन्दोलन के फलस्वरूप शासन ने भी इस मामले में हस्तक्षेप किया। इस समय हमारे देश में सती-प्रथा निषेध जैसे कानून हैं। "सती" शब्द का अर्थ होता है पवित्र या धार्मिक स्त्री। परन्तु पवित्र स्त्रियों को उनके मृत पतियों के शव के साथ जलाने की प्रथा के साथ यह शब्द विचित्र रूप से लगा दिया गया। ४ दिसम्बर सन् १८२९ के कानून के द्वारा सती-प्रथा अवैध घोषित कर दी गयी। इसी प्रकार के अन्य कई कानून बनाए गए। बाल-हत्या पर रोक लगा दी गई। धार्मिक शपथ को पूरा करने के लिए बच्चों को समुद्र में फेंक देन की प्रथा पर क़ानूनन प्रतिबन्ध लगा दिया गया। जो लड़कियाँ पैदा होती थीं उन्हें प्रायः मार डाला जाता था क्योंकि उनका विवाह कठिनाई से होता था। इस पर भी रोक लगा दी गई। सन् १७९५ तथा सन् १८०२ के क़ानूनों के द्वारा यह प्रतिबन्ध लगाये गये। सन् १८३१-१८३७ में "ठगों" का दमन किया गया। सन् १८४३ ई० में दास-प्रथा का उन्मूलन हुआ। प्रेसीडेन्सी नगरों में सरकारी लाटरियाँ बन्द कर दी गईं। उड़ीसा की "खोंड" जाति में नर-बलि की जो प्रथा थी उस पर (१८४७-१८५४) रोक लगा दी गई। धर्म के नाम पर सड़कों पर जो सामूहिक गुंडापन होता था उस पर सन् १८५५ में रोक लगा दिया गया। सन् १८८६ ई० में विधवा-विवाह को कानूनन अवैध घोषित कर दिया गया। सन् १८९१ में "एज आफ कन्सेन्ट एक्ट" बनाया गया जिसने १२ वर्ष की आयु से कम की लडकियों के साथ व्याह करने पर रोक लगा दी। सन् १९३० ई० में इस क़ानून में एक संशोधन किया गया जिसमें लड़कियों की आयु १२ वर्ष से बढ़ाकर १४ वर्ष कर दी गई और सिविल मैरेजेज़ एक्ट पास कर दिया गया। न्यायालयों तथा व्यवस्थापिका सभा दोनों के द्वारा शासन ने सामाजिक बुराइयों को दूर करने या सामाजिक प्रथाओं को प्रगतिशील विचारों के अनुकूल बनाने का प्रयास किया।

किन्तु सामाजिक असमानताओं या बुराइयों को दूर करने के कार्य में व्यक्तियों तथा संस्थाओं का ही अधिक भाग रहा। प्रारम्भ में ही राजा राममोहन राय तथा उनके अनुयायियों ने जाति-बन्धन, स्त्रियों की पतिता

वस्था, सती-प्रथा, किसानों की ह्रासोन्मुख स्थिति आदि सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध जोरदार आन्दोलन चलाया था। रानाडे के नेतृत्व में "प्रार्थना समाज" ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशनों के साथ-साथ वार्षिक सामाजिक सम्मेलन किये थे। समाज की ओर से अनाथालय, आश्रम, रात्रि-पाठशालाएँ, विधवा-सदन, पददलित जाति मिशन, विधवा-विवाह-संघ, दक्षिण शिक्षा समिति, आदि अनेक संस्थाएँ खोली गयी थी। रानाडे की प्रेरणा से विधवा-विवाह संघ तथा "दक्षिण शिक्षा समिति" की स्थापना की गयी थी। ब्रह्म समाज भी इससे मिलता-जुलता था जिसने पर्दा-प्रथा उन्मूलन, विधवा-विवाह उन्मूलन, उच्च शिक्षा की व्यवस्था, सहभोज, अन्तर्जातीय विवाह, विदेश यात्रा पर लगे हुए सामाजिक प्रतिबन्ध के उन्मूलन आदि बातों के लिए जोरदार आन्दोलन किया था। दक्षिण शिक्षा समिति के अन्तर्गत (१८८४) पूना स्थिति प्रसिद्ध फर्गुसन कालेज खोला गया जिसके अध्यापकों ने ७५ रुपए मासिक से अधिक वेतन न लेने की प्रतिज्ञा की थी। इस समिति ने गोखले को भी अपना सदस्य बनाया था। नारी-उत्थान के आन्दोलन के नेता ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा "मलाबारी" थे। सन् १९०५ ई० में गोखले ने "सर्वेन्ट्स आफ इन्डिया सोसाइटी" की स्थापना की। इस का उद्देश्य भारत माता की सेवा के लिए राष्ट्रीय प्रचारकों को शिक्षण देना था। इसके सदस्यों को नाम मात्र का वेतन दिया जाता था और वे मातृ-भूमि के सेवक होते थे। इनमें केवल अपने को ऊँचा उठाने की भावना नहीं थी। इन प्रचारकों के प्रयत्न से अनेक समाज सेवा संघ स्थापित किए गए और बालचर शिक्षित किए गए ; पुस्तकालय, रात्रि-पाठशाला, सहकारी समितियां, प्रसूति-गृह, गरीबों के मनोरंजन के केन्द्र तथा मजदूर संघ स्थापित किए गये। इनके प्रयत्नों के फलस्वरूप सफाई, चिकित्सा आदि की भी व्यवस्था हुयी तथा समाचार पत्र प्रकाशित हुए।

पारसियों ने भी सामाजिक तथा धार्मिक सुधार किये और सिक्खों ने भी मुख्य खालसा दीवान के अधीन अपने समाज में सुधार किये। महात्मा गांधी के नेतृत्व में इन समस्त प्रवृतियों को और अधिक बल मिला तथा स्त्रियों एवं अछूतों की स्थिति में अत्यधिक सुधार हुआ। सन् १९०४ से जहां-जहां सामाजिक सम्मेलन हुए वहीं भारतीय महिला सम्मेलन भी हुए। कर्वे ने सन् १९०६ में एक महिला-विद्यालय खोला था जो "भारतीय महिला विश्वविद्यालय" का बीज बन गया। अपराधी जातियों के सुधार का

कार्य "मुक्ति सेना" ने शुरू कर दिया था। सन् १९२३ में महिला भारतीय संघ अपनी कई शाखाओं के साथ स्थापित किया गया। सन् १९१७ में अखिल भारतीय महिलाओं का एक प्रतिनिधि मण्डल भारत सचिव मान्टेग्यू से मिला था और उसने उनसे स्त्रियों को मताधिकार दिए जाने की माँग की थी। सन् १९२५ में सरोजनी नायडू भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रथम महिला सभापति हुयी थीं। स्त्रियों को चिकित्सा तथा सेवा-कार्य की शिक्षा देने के लिए सेवासदन समितियाँ स्थापित की गयी थीं।

पददलित जातियों ने भी अपने अधिकारों की प्राप्ति तथा अपना उत्थान करने के लिए अपनी संस्थाएँ स्थापित कर ली थीं। सफाई की व्यवस्था तथा जनता के स्वास्थ्य की रक्षा का प्रबन्ध न केवल सेंट जान्स एम्बुलेन्स जैसी अर्ध सरकारी संस्थाएँ ही करती थीं, अपितु शासन की ओर से भी इन बातों का प्रबन्ध किया जाता था। इसीलिए सन् १९२० में लोकप्रिय मंत्रियों के अधीन सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग खोला गया था। अस्तु, उन्नीसवीं शताब्दी की तीसरी दशाब्दी से ही जागृत भारतीय अपने सामाजिक कर्तव्यों के प्रति जागरूक हो गये थे और भारतीयों के सामूहिक प्रयत्न के फल-स्वरूप गत १०० वर्षों में भारत की सामाजिक दशा नें उग्र परिवर्तन हुए। यदि आज भी रूढ़िवादिता का प्रभुत्व है तो वह बुझते हुए दीपक की अन्तिम लौ के समान है।

आर्थिक दशा

भारतीय निर्धनता आधुनिक युग की सबसे अधिक चमकती हुयी अद्भुत घटना है और इस दयनीय स्थिति के कारण ऐतिहासिक हैं। हम मुग़ल काल में यह देख चुके हैं कि भारत न केवल एशिया के विभिन्न देशों को चावल, गेहूँ, शक्कर, कपास आदि वस्तुएँ देता था बल्कि वह विश्व का एक वृहत् औद्योगिक कारखाना था और भारतीय द्वीप समूह (पूर्व में) से लेकर यूरोप तक के बाजारों के लिए सूती और रेशमी माल तैयार करता था और इसके बाजार कैस्पियन सागर के तट से मोजाम्बिक और मदागास्कर तक फैले हुए थे। पुर्तग़ीज, डच और अंग्रेज़ों के समुद्री व्यापार की उन्नति के परिणामस्वरूप यूरोप के साथ होने वाले स्थलमार्गीय व्यापार का १७ वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशाब्दी में ह्रास होने लगा। एशियाई सागरों में चलने वाले समुद्री व्यापार में अब भी बंगालियों, गुजरातियों तथा मलाबारियों

का हिस्सा था। लेकिन धीरे-धीरे उनका भी ह्रास हो गया। समुद्री डकैती की नियमित व्यवस्था के द्वारा पश्चिमी व्यापारियों ने पूर्व में अपना व्यापार स्थापित कर लिया था। वे समुद्र में जिस किसी अरब या भारतीय जहाज को देखते थे उसे लूट लेते थे और उस पर अधिकार कर लेते थे। पुर्तगीजों ने भारतीय व्यापारियों का नाश किया था और डचों ने उनको नष्ट कर दिया। सन १६५० और १७०० के बीच डचों का स्थान अंग्रेजों ने ले लिया। ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने मसूलीपट्टम स्थिति कोरोमण्डल तट में सन् १६३४ में, बंगाल और उड़ीसा में सन् १६५६ में और सूरत (पश्चिमी भारत) में तथा दक्षिण में सन् १७१६ में डचों से कहीं अधिक व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त कर ली थीं। आगे चलकर मुगलों से भी उनको काफी सुविधाएँ प्राप्त हो गईं। इससे भारतीय व्यापारियों को भारी क्षति हुयी। यूरोप के साथ होने कपड़ा तथा अन्य वस्तुओं के व्यापार से भारत को जो भारी मुनाफा होता था उससे भारतीय कारीगरों की आर्थिक स्थिति तथा रहन–सहन में कोई सुधार नहीं हुआ क्योंकि भारतीय व्यापार में एकाधिपत्य की व्यवस्था थी। इससे भारतीय व्यापारियों की अत्यधिक क्षति हुयी। वे बाद में कम्पनी के ठेकेदार या गुमाश्ता हो गये। दूसरी ओर "ददानी" (अग्रिम रुपए देने) की प्रथा के फलस्वरूप भारतीय मजदूरों का निर्दयतापूर्वक शोषण हुआ। बंगाल के ही उदाहरण को ले लिया जाय। सन् १७५६ ई तक में बंगाल और एशियाई देशों के बीच जोरदार व्यापार चल रहा था। किन्तु अंग्रेजों के द्वारा सिराजुद्दौला के हरा दिये जाने के कारण स्थिति बदल गई और कई कारणों से बंगाल गरीब हो गया। कठपुतले नवाबों द्वारा अंग्रेजों को नजराने के रूप में अपरिमित धन दिया जाता था। यहाँ तक कि बंगाल की अतिरिक्त आय (राजस्व) को भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा भारत से निर्यात किये गये माल की खरीद में लगाया जाता था। अनुमान लगाया जाता है कि सन् १७५७ से लेकर १७८० तक के २३ वर्षों में बंगाल का लगभग ६० करोड़ रुपया इसी प्रकार उड़ाया गया था। यह सब धन इंगलैंड गया और इसने वहाँ की औद्योगिक क्रान्ति में सहायता पहुँचाई। अंग्रेजों को व्यापार के लिए जो आदेश–पत्र (दस्तक) दिए गए थे और जिनसे उन्हें व्यापार की पूरी स्वतन्त्रता मिल गई थी उनका भी शोषण होता था, जब कि भारतीय व्यापारियों को चुङ्गी देनी पड़ती थी। उक्त आदेश–पत्र कम्पनी को दिए गए थे परन्तु कम्पनी के कर्मचारी अपने व्यक्तिगत व्यापार के लिए भी इसका उपयोग करते थे। यहाँ तक कि वे

लोग आदेश–पत्रों को भारतीय व्यापारियों के हाथ बेंच देते थे जो चुङ्गी देने से बच जाते थे। न केवल इन आदेश-पत्रों का आन्तरिक व्यापार में ही उपयोग होता था अपितु कम्पनी के कर्मचारियों नाम मात्र का धन देकर बलपूर्वक भारतीय कारीगरों तथा उत्पादकों के माल पर भी अधिकार कर लेते थे और वे उस माल को अत्यधिक मूल्य पर यहाँ की जनता के हाथ जबरन बेचा करते थे। इन लोगों ने भारतीय जुलाहों का शोषण करने के लिए अन्य चालें भी कीं। जुलाहों को आतंकित कर के उनसे निश्चित मूल्य पर तथा निश्चित अवधि में माल देने के बाण्डों पर जबरन हस्ताक्षर कराए गए। उनको अपने माल की उचित कीमत नहीं दी जाती थी और वे अपने माल को दूसरों के हाथ नहीं बेंच सकते थे। इस प्रकार बंगाल का शोषण होता रहा।

१८ वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्ष में इंगलैंड में भारतीय वस्तुओं के आयात किए जाने के विरुद्ध भिन्न–भिन्न कानून बनाए गए। सन् १७०१ में समस्त भारतीय कपड़ों तथा रेशम के आयात पर रोक लगाई गई और सन् १७२० में उनके पहनने या उपयोग करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इससे सूती वस्त्रोद्योग में होने वाले आविष्कारों तथा मशीनों के आविष्कारों में बड़ी मदद मिली। भारतीय द्वीप समूह के व्यापारी वर्ग द्वारा लाए गए धन से इंगलैंड की वह पूँजी बनी जिससे वहाँ बड़े-बड़े औद्योगिक कारखाने बने और "नए संसार" के साथ इंगलैंड के व्यापार की प्रगति हुई। बाद में, कम्पनी ने अंग्रेजी ऊन, धातुओं तथा अन्य मालों का स्थायी बाजार भारत में स्थापित कर लिया और बंगाल के रेशम उद्योग पर प्रतिबन्ध लगा दिया। भारत में ब्रिटिश शक्ति की क्रमिक विजय के साथ–साथ इंगलैंड और भारत के व्यापारिक सम्बन्ध में पूर्ण क्रान्ति हुई। व्यापार का जो संतुलन भारत के पक्ष में था वह उसके विरुद्ध हो गया। कपड़ा बुनने का उद्योग भारत का सर्वश्रेष्ठ उद्योग था। ब्रिटिश चुंगियों के लागू कर दिए जाने, फ्रांसीसी क्रान्ति के कारण औपनिवेशिक बाजार नष्ट होने, इंगलैंड में मशीनों के आविष्कार हो जाने तथा भारत के ही करघा-उद्योग में प्रतिद्वन्दिता होने के फलस्वरूप भारत का वस्त्रोद्योग नष्ट हो गया। इंगलैंड को होने वाला सूत का निर्यात तक बन्द हो गया। इस प्रकार भारत का वह राष्ट्रीय उद्योग नष्ट हो गया जिससे यहाँ के कारीगरों, ग्रामीण मजदूरों तथा स्त्रियों (जो अवकाश के समय सूत काता करती थीं तथा कपड़ा

बुना करती थीं) की जीविका चलती थी और जिसका एशिया, अफ्रीका तथा यूरोप के कुछ भागों के बाजारों पर एकाधिपत्य था। इसके पश्चात् भारतीयों का झुकाव कृषि की ओर अधिक होने लगा। सन् १८११ से सन् १८१४ में इंगलैंड में ऐसे कानून पास किए गए जिनसे भारतीय सामुद्रिक जहाजरानी नष्ट हो गई। अस्तु, भारत औद्योगिक देश के बदले कच्चा माल उत्पन्न करने वाला देश बन गया। जब कि अधिकाधिक लोग खेती करने लगे, भूमि व्यवस्था सुधारने या कृषि-धन बढ़ाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। खेतों पर जमीन्दारों का अधिकार हो गया और ग्रामीण केवल लगान देने वाले रह गए। जैसी बेकारी और गरीबी इस देश में फैली हुई है वैसी किसी भी आधुनिक सभ्य देश के इतिहास में इससे पहले नहीं हुई। औद्योगिक क्रान्ति के दौरान में इंगलैंड ने कारीगरों तथा मशीनों के निर्यात तक पर प्रतिबन्ध लगा दिया था ताकि भारत को नए तरीकों का उनुभव न हो सके। यह भी एक कारण था कि भारत के उच्च वर्ग के लोग उत्पादक कारखानों में अपना धन नहीं लगाते थे। भारतीय व्यापारी वर्ग तथा मध्यम श्रेणी के ह्रास के प्रभाव ने पश्चिम के ढंग पर यहाँ औद्योगिक पूँजीवाद के विकास को रोक रखा। दूसरी ओर, भूमि–व्यवस्था में परिवर्तन होने से भूमि पर पूँजी लगाने को प्रोत्साहन मिला। यहाँ के बुद्धि जीवी वर्ग तथा कारीगरों (मजदूरों) में बड़ी भारी खाई थी। विद्याभिमान के कारण कोई वैज्ञानिक आविष्कार नहीं हो सके। किन्तु शासन की नीति के कारण ही भारत का पतन हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में इंगलैंड ने मुक्त व्यापार की नीति अपनाई थी। परन्तु, हमारे देश में यह नीति नहीं रखी गई जिससे उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन नहीं मिला। साथ ही, भारत ब्रिटिश उद्योगों को कच्चा माल देता था। इससे न केवल हमारे यहाँ के उद्योगों में ही निर्धनता आ गई वरन् भारतीय कृषि पर भी बोझ पड़ा। भूमि जोतने वालों तथा शासन (राज्य) के बीच नए वर्ग पैदा हो गए और भूमि हीन सर्वहारा की संख्या बढ़ती गई। साथ ही, इस देश की जनसंख्या भी बढ़ती गई। प्रजा का खूब शोषण होता रहा। रेलों के चलाए जाने तथा ग़लत विनिमय–नीति के कारण भी भारत के आन्तरिक उद्योग तथा कृषि को भारी धक्का लगा।

लेकिन यह स्थिति अधिक समय तक न रह सकी। पश्चिमी शिक्षा के प्रचलित होने क बाद मध्यम श्रेणी की प्रगति होने के फलस्वरूप औद्योगीकरण

की आवश्यकता महसूस की गई और लोगों ने व्यक्तिगत उद्योग शुरू किये। इनमें "टाटा" का प्रयास उल्लेखनीय है। "टाटा" ने रुई, लोहा और स्पात के कारखाने खोले और अंग्रेजों ने चाय, काफी, नील आदि के उद्योग चालू किए। परन्तु, शासन इस ओर से उदासीन ही रहा, बल्कि कभी-कभी वह विरोधी भी रहा। उदाहरणार्थ, जब भारतीयों की माँग पर भारतीय वस्तुओं के साथ-साथ ब्रिटिश माल पर भी चुंगी लगाई गई तब शासन का विरोधी रुख हो गया। केवल कृषि में शासन ने रैयतों की कुछ तकलीफों को दूर किया क्योंकि यदि ऐसा न किया जाता तो उसे कच्चा माल ही नहीं मिलता। भारतीय पूंजीवाद, कृषि तथा वाणिज्य में आज तक जो विकास हुआ है अब हम उसका संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

सन १८५७ के विद्रोह के बाद भारत में कई कारणों से कारखानों के उद्योग शुरू हुए। पहला कारण यह है कि विदेशी उद्योग या पूंजी में वृद्धि हो गई थी। रेलों के चल जाने से इसमें और भी सुविधा हुई थी। भारत में पहले कारखाने अंग्रेजों द्वारा खोले गए थे। किन्तु ज्ञान-वृद्धि होने, शान्ति क़ायम हो जाने, यातायात में सुधार होने तथा यूरोप-वासियों के उदाहरणों से भारतीयों को भी भारतीय उद्योग (कारखानों) में पूंजी लगाने की प्रेरणा मिली। साथ ही, क्रीमियन युद्ध तथा अमरीकी क्रान्ति से भी जूट और सूती उद्योगों की प्रगति को प्रोत्साहन मिला क्योंकि रूसी पटसन और अमरीकी कपास इंगलैंड को नहीं मिलता था। इन उद्योगों तथा रेलों के क्रमिक विकास ने, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में, इंजीनियरिंग, कारखानों, लोहा-उद्योग, कपास और जूट के उद्योग तथा ऊन के कारखानों को प्रोत्साहन दिया। सन् १८५१ में कपड़े की पहली मिल खोली गई थी और आज एक शताब्दी बाद भारत में कपड़े की ४२० मिलें हैं जिनमें लगभग ६० करोड़ की पूंजी लगी हुई है और ८ लाख से अधिक मजदूर काम करते हैं। सन् १८५४ में इस देश में पहला जूट का कारखाना खोला गया था और सन् १९४७ में केवल पश्चिमी बंगाल में १०४ जूट मिलें थीं। सन् १८८० से १८९५ के बीच ऊन के उद्योगों की भी सुदृढ़ स्थापना हो गयी थी और सन् १८५० से १८८० के बीच खान-उद्योगों की भी मजबूत नींव पड़ गयी थी। प्रारम्भ में, इस देश में कोयला, पेट्रोल तथा मैंगनीज के उद्योग विकसित हुए। सन् १८८० के बाद लोहा तथा इस्पात के उद्योगों का विकास हुआ। नमक, अबरख और

सोने की खानों की ओर भी इसी समय भारतीयों का ध्यान आकर्षित हुआ। चमड़ा, कागज आदि अन्यान्य उद्योग भी शुरू करने के प्रयत्न किए गए। परन्तु उचित विकास केवल तभी सम्भव था जबकि राज्य का प्रोत्साहन, मार्गदर्शन तथा संरक्षण मिलता। यह सन् १९१४ के युद्ध के पूर्व के जर्मनी तथा रूस के उदाहरणों से स्पष्ट है। भारत में विदेशी शासन होने के कारण यह संभव नहीं था। अंग्रेजों की यहाँ पूँजी लगाने की नीति के कारण हमारे देश के धन का शोषण जारी रहा। इसके प्रमाण निम्न लिखित आँकड़े हैं। ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इंडिया कम्पनी से ७ करोड़ पौंड का ऋण लिया था। अफगानिस्तान, चीन तथा अन्य देशों से जो युद्ध हुआ था और जिससे भारत का कोई सम्बन्ध नहीं था उस पर जो रकम खर्च हुई थी वह भी उक्त रकम में शामिल थी। यह रक़म सन् १९३९ में ८८४० लाख पौंड से अधिक हो गयी। रेलों के चालू किए जाने तथा सार्वजनिक उपयोगिताओं के कामों में जो खर्च हुआ था उनके कारण उक्त वृद्धि हुयी और इन सब के लिए भारत से जितना भी धन लिया जा सकता था लिया गया। जेंक्स ने लिखा है कि "सन् १८६८ ई० में तुर्की के सुल्तान लन्दन गए थे। उनके स्वागतार्थ इंडिया आफिस में एक नृत्य के राजकीय उत्सव का आयोजन किया गया था। उसमें जो खर्च हुआ था उसके बिल का भुगतान भारत को करना पड़ा था। सन् १८७० ई० से पहले भारत के खजानों को "ईलिंग" के पागलखाने, जंजीबार मिशन के सदस्यों के खर्चे, चीन एवं ईरान के दूतावासों के ख़र्चे, भूमध्यसागर के जहाजी बेड़े के स्थायी ख़र्चे के कुछ अंश तथा इंगलैंड से भारत तक टेलीग्राफ की जो लाइन बनायी गयी थी उसके पूरे ख़र्चे को भारतीय खजाने को चुकाना पड़ा।"[६] इसी अवधि में भारत में ब्रिटिश पूँजी लगाई गयी तथा विदेशी बैंकों के काम शुरू हुए। विदेशी बैंकों ने सन् १९१३ ई तक यहाँ के बैंकों की अमानत के तीन–चौथाई भाग पर नियंत्रण कर लिया। ब्रिटिश पूँजी केवल सरकार, यातायात, चाय-काफी आदि के बागानों तथा वित्त सम्बन्धी उद्योगों में लगायी गयी। शासन ने भारतीय पूँजी लगाने वालों को सहायता नहीं दी। दूसरी ओर जनता या मध्यमश्रेणी की पूंजी लगाने के बजाय पूँजी एकत्रित करने की पुरानी आदत बनी रही। साथ ही चुंगी (तटकर) तथा विनिमय नीति के द्वारा सरकार ने भारतीयों के बजाय अंग्रेजों को अधिक सहायता दी। इन समस्त कारणों ने मिलकर भारतीय औद्योगिक विकास में रुकावट डाली तथा भारत की गरीबी बढ़ायी। सन्

१९२४ ई० में "शाह" तथा "खंबाता" ने बहुसंख्यक भारतीयों की प्रति व्यक्ति (प्रतिदिन) १।। पेन्स की औसत आय का तख्मीना लगाया था और यह लिखा था कि "इसका मतलब यह है कि औसत भारतीय आय तीन व्यक्तियों पर केवल दो के लिए ही काफी है......वह भी तब जबकि वे नंगे रहें, हमेशा मकान के बाहर रहें, कोई मनोरंजन (आमोद-प्रमोद) न करें और केवल भोजन, वह भी सबसे निकृष्ट, के अतिरिक्त कोई भी वस्तु की इच्छा न करें।"[3] दूसरी ओर इस देश में कोयला, लोहा, तेल, मैंगनीज़, सोना, जस्ता, चाँदी तथा ताँबा आदि वस्तुएँ अपरिमित मात्रा में थीं। अस्तु, भारत के राष्ट्रीय धन तथा व्यक्तिगत आय में इतना बड़ा अन्तर था।

रुजवेल्ट ने अगस्त सन् १९४२ में भारत में जो अमरीकी टेकनिकल मिशन भेजा था उसने "भारत में लगभग २५ करोड़ टन खनिज पदार्थ होने का तख्मीना लगाया था और यह लिखा था कि विश्व भर में जितनी मैंगनीज पैदा होती है उसका लगभग ३० प्रतिशत भारत में पैदा होता है ; विश्व भर में जितनी अबरख होती है उसका तीन चौथाई भाग भारत पैदा करता है ; तथा भारत में संसार के सब देशों से अधिक लाख पैदा होती है।" भारत के "रायल औद्योगिक कमीशन" ने सन् १९१८ ई० में यह रिपोर्ट दी थी कि भारत का खनिज धन उसके मुख्य उद्योगों की व्यवस्था के लिए पर्याप्त है। गत दो विश्व-युद्धों ने ब्रिटिश सरकार को अपनी आर्थिक दशा सुधारने के लिए हमें स्वतन्त्रता देने के लिए बाध्य कर दिया। परन्तु उसने जो सहायता दी वह नगण्य थी और उससे हमें कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

कृषि के सम्बन्ध में भी ऐसी ही स्थिति रही। अंग्रेजों के आने के पूर्व भारतीय गाँवों में सुख-समृद्धि थी। टेवर्नियर ने लिखा है कि "छोटे से छोटे गाँव तक में चावल, आँटा, मक्खन, दूध, सभी किस्म की तरकारियाँ, शक्कर, मिठाइयाँ आदि वस्तुएँ अपरिमित मात्रा में पाई जाती थीं।"[1] परन्तु सन १९२९-३० में "इण्डिया इन १९२९-३०" नामक भारतीय सरकार द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट में यह रिपोर्ट निकाली गई कि "अब भी भारत में अधिकांश निवासियों में ऐसी निर्धनता है जैसी पश्चिमी देशों में कहीं भी नहीं है।" सरकार ने अकाल कमीशन, कृषि कमीशन आदि कई कमीशन नियुक्त किये या प्रायः भिन्न-भिन्न समस्याओं पर रिपोर्टें प्रकाशित कीं, कृषि-विभाग संगठित किए गए तथा सन् १९१९ ई० में भारतीय मन्त्रियों के

हाथ म ये विभाग सौंपे गए परन्तु वित्त विभाग अंग्रेजों के ही हाथ में रहे। इस समस्या की जाँच करने के तरह-तरह के प्रयास होते रहे जिसके फलस्वरूप देश में कृषि-संकट आ गया। हमारी राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था में इसकी असन्तुलित स्थिति हो गयी। खेती में आवश्यकता से कहीं अधिक लोग गए और इसका विकास नहीं हो पाया। स्थिरता या ह्रास की स्थिति आ गई। उपज कम होने लगी। भूमि के अनेकानेक टुकड़े हो गए, श्रमधन की क्षति होनें लगी। खेतों के कई टुकड़े हो गए, एक ही खेत अनेक व्यक्तियों को शिकमी दिया जाने लगा। किसानों पर कर्ज बढ़ता गया और भूमि हीन सर्वहारा की संख्या बढ़ती गई। इस प्रकार भारतीय स्वतन्त्रता के रूप में हमें केवल छूँछा बर्तन मिला।

व्यवसाय की भी कोई अच्छी स्थिति नहीं थी। सन् १८५७ के विद्रोह के बाद, देश की वित्त नीति से सम्बन्धित महत्वपूर्ण घटना यह हुई कि सरकार ने "मुक्त व्यापार" की नीति अपना ली। सन् १८५९ में सरकार ने यह कानून बनाया कि भारतीय उद्योगों के लिए कच्चे माल के आयात में सुविधा दी जानी चाहिए परन्तु इसके साथ ही भारत से होने वाले निर्यातों पर चुंगी बढ़ा दी गई। सन् १८७४ ई० में मैंचेस्टर चैम्बर आफ कामर्स ने सूती माल पर लगाने वाली ५% चुगी हटाए जाने की माँग की। इसके फलस्वरूप पहले मोटे वस्त्र और बाद में ३० काउन्ट से कम के कपड़ें के आयात पर से उक्त चुंगी हटा ली गई। अंग्रेजों ने इस प्रकार का माल तैयार करना शुरू कर दिया। भारत की सूती मिलें सन् १८८२ से १८९४ तक बिना किसी संरक्षण के चलती रहीं। सन् १८९४ ई० में सूती माल के आयात पर फिर चुंगी लगा दी गई किन्तु इसके साथ ही २० नवम्बर से ऊपर के भारतीय मिलों के सूत पर ५% आबकारी चुंगी लगा दी गई। भारतीय नेताओं तथा उत्पादकों ने इसका उग्र विरोध किया। परन्तु सरकार पर इस विरोध का कोई प्रभाव नहीं हुआ। सन् १९२६ में यह आबकारी चुंगी हटा ली गयी। सन् १८९६ ई० में आयात चुंगी घटा कर ३।। प्रतिशत का दी, जब कि सूत के अलावा भारतीय मिलों द्वारा बनाये जाने वाले सब माल पर ३।। प्रतिशत चुंगी देना पड़ती थी। लंकाशायर की माँग के कारण यह सब किया गया। आर० सी० दत्त ने लिखा है कि "वित्त नीति सम्बन्धी अन्याय का ऐसा उदाहरण किसी भी सभ्य देश में नहीं मिलता।" सन् १९२३ के बाद भारत सरकार

ने भेदयुक्त संरक्षण की एक नीति अपनायी और उद्योगों को संरक्षण देने की सिफारिश करने के लिए एक तटकर बोर्ड नियुक्त किया। लेकिन सन् १९२७ से "राजकीय सुविधा" (Imperial preference) की स्वीकृति देने के कारण यह सुविधा तटस्थ कर दी गई। सन् १९३२ ओटावा-सम्मेलन के बाद "राजकीय सुविधा" साधारण हो गयी। हमारे उग्रविरोध के बावजूद सन् १९२७ में भारतीय रुपये का विनिमय बढ़ा कर मूल्य १ शिलिंग ६ पेन्स निर्धारित कर दिया गया। इससे भारतीय व्यवसाय को एक और धक्का लगा। भारत के व्यापार में हमारा जो भाग था उससे भी हमें वंचित कर दिया गया। इस प्रकार विदेशी व्यापार पर अंग्रेजों या अन्य यूरोपीय व्यापारियों का एकाधिपत्य हो गया। प्रोफेसर अदारकर ने लिखा है कि "पश्चिमी देशों के औद्योगिक प्रतिष्ठानों को अपनी सरकारों से संरक्षण के अतिरिक्त राजकीय सहायता, धन, परीक्षण, तथा अनुसंधान की सुविधा तथा सभी प्रकार की सक्रिय सुविधाएँ मिलती थीं। हमारे देश में भेदयुक्त संरक्षण की नीति ने केवल मात्र उदासीन सहायता से अधिक कुछ भी अधिक नहीं दिया। इस प्रकार, आर्थिक रूप में, भारत केवल प्रत्येक वस्तु की पूर्ति करने वाला तथा दुनियाँ की सब चीजों का मरम्मत करने वाला मात्र रह गया। वह किसी वस्तु का निर्माता नहीं रहा। साथ ही, हमारे देश के मजदूरों में आलस्य तथा आयोग्यता आ गयी और देश का शोषण करने के लिए भारतीय तथा विदेशी पूँजीपतियों में साझेदारी हो गयी। पूँजीवाद से सम्बन्धित बुराइयों का यहाँ बाहुल्य हो गया क्योंकि यहाँ का लोकमत काफी शक्तिशाली नही था; जाति सम्बन्धी प्रश्न पैदा हो गए थे; विदेशी शासन और पूँजी बनाने के कई राजनीतिक प्रश्न उपस्थित हो गये थे; मजदूर शिक्षित नहीं थे, अधिक योग्य नहीं थे और उचित रूप में संगठित नहीं थे; ज्वाएन्ट स्टाक उद्योग भारत में नया होने के कारण उसके दुर्गुणों के विरुद्ध सुरक्षा का उचित प्रबन्ध नहीं हुआ था; पुराने उद्योगों का तीव्रगति से ह्रास हुआ था परन्तु उसी गति से नए उद्योग नहीं विकसित हुए थे; जहाँ अधिक लाभ संभावना थी वहीं पूँजी लगाई गयी थी। इन समस्याओं तथा भारत के रुके हुए आर्थिक विकास के साथ-साथ इस समय हमारा पाकिस्तान से मतभेद चल रहा है और अन्तर्राष्ट्रीय तनातनी की समस्या भी उपस्थित है। इसलिए हमें शान्ति हृदय से कोई योजना बनाने का समय ही नहीं मिल पा रहा है। संक्षेप

म, भारत की वर्तमान आर्थिक समस्याएँ विरासत में मिली हुयी अतीत काल की सम्पत्ति हैं। प्रकृति ने हमारे साथ उदारता का व्यवहार किया है परन्तु मनुष्य ने हमारे साथ न्यायपूर्ण व्यवहार नहीं किया।

अब भारत सरकार भारत को आर्थिक पुनर्जीवन देने का प्रयास कर रही है। विभिन्न जल-विद्युत योजनाओं के द्वारा सिंचाई की सुविधाएँ देकर, खाद व बीजों की व्यवस्था करके, रसायनिक खाद देकर और कृषि विभागों से परामर्श दिलाकर कृषि की पैदावार बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है। जमींदारी प्रथा का उन्मूलन हो चुका है। "अधिक अन्न उपजाओ" आन्दोलन चल रहा है। सामूहिक खेती, ट्रैक्टरों के उपयोग तथा कृषि-सुधार के अन्यान्य प्रयास हो रहे हैं। पशु-धन की उन्नति का भी प्रयत्न हो रहा है। रेडियो के द्वारा ग्राम्य शिक्षा के प्रसार में शीघ्रता की जा रही है। औद्योगिक क्षेत्र में उन्नति के लिए "योजना आयोग" नियुक्त कर दिया गया है जो अनवरत काम कर रहा है और परामर्श दे रहा है। कुछ उद्योगों को सरकार ने अपने हाथ में ले लिया है, कुछ में उसके हिस्से हैं और कुछ वैयक्तिक उद्योगों को उसने पूर्ण स्वतंत्रता दे रखी है। बैंकों, बीमा तथा मैनेजिंग एजेन्सियों को नियमित एवं सुव्यवस्थित करने के लिए कई क़ानून बना दिए गए हैं। मजदूरों की स्थिति में सुधार किये गये हैं। विभिन्न देशों से व्यापारिक समझौते किये गये हैं। भारतीय निर्यातों के विकास के विषय में सिफारिश करने के लिए "निर्यात-उन्नति-समिति" बनायी गयी थी। भारत के पक्ष में पहले व्यापार-सन्तुलन नहीं था। सन् १९५० में व्यापार-सन्तुलन हमारे देश के पक्ष में हो गया। हमारे बाजारों में विस्तार हो गया। रेलों का एकीकरण भी किया जा रहा है। भारतीय जहाजरानी तथा नागरिक उड्डयन का भी विकास हो गया है। युद्ध के पूर्व जो पौंड-पावना एकत्र हो गया था उसकी सहायता से हमारे प्रमुख उद्योगों का भी विकास हो रहा है इन सब के बावजूद भी, आज भी हमारे सामने कुछ आधारभूत समस्याएँ हैं। खाद्य-वस्त्र आदि आवश्यक वस्तुओं की हमारे देश में जैसी गंभीर स्थिति है वैसी इतिहास में कहीं नहीं मिलती। भारी-भारी कर लगा दिये गये हैं और चोर बाजारी फैली हुयी है। खाद्य-पदार्थों का आयात हमारे राष्ट्र के नक़द धन को खाये जा रहा है। पूँजी का ह्रास होता जा रहा है, मुद्रा-प्रसार निरन्तर जारी है और विकास योजनाएँ या तो काल्पनिक हैं या उन्हें भ्रष्टाचारियों के द्वारा कार्यान्वित किया जा रहा

ह जिससे अनेक प्रकार की बेईमानियाँ हो रही हैं। इस प्रकार हमारे देश का चित्र अन्धकारग्रस्त है। इसके अतिरिक्त चारों ओर सन्देह का वातावरण है। मजदूर उद्योगपतियों पर सन्देह करते हैं, पूँजीपति सरकार पर सन्देह करते हैं तथा जनता प्रशासकों (अधिकारियों) पर सन्देह करती है। इसलिए, इस समय हमारे देश के लिए समुचित सामाजिक दर्शन तथा इस पापमय चक्रव्यूह से बाहर निकलने के लिए उचित संगठन की आवश्यकता है। इसके लिए हम अपनी प्राचीन संस्कृति से कुछ सबक़ ले सकते हैं।

पहले, विवाहोत्सवों या अन्य समारोहों के अवसर पर जो आशीर्वाद दिये जाते थे उनमें सब की भौतिक समृद्धि की वृद्धि के लिए प्रार्थना की जाती थी। यह भी महसूस किया गया था कि जिन लोगों पर भौतिक वातावरण का प्रभाव है उनके मस्तिष्क पर सादगी तथा त्याग के जीवन की गहरी प्रतिक्रिया होगी जो उनको निम्न श्रेणी का अनाड़ी बना देगी। हितोपदेश "बेकी शार्प" के इस दर्शन की पुनरावृत्ति करता है कि ५,००० पौंड वार्षिक आय करने वाले व्यक्ति के लिए धार्मिक होना और यह कहना आसान है कि भूखा कौन सा पाप नहीं करता। समाज के दुर्बल वर्गों की आध्यात्मिक, साँस्कृतिक तथा मानसिक शक्तियों को विकसित करने तथा जीवन के कष्टों को दूर करने के लिए धन प्राप्त करने का प्रयास करना आवश्यक है ताकि लोगों को संस्कृति का अध्ययन तथा प्रचार करने में सुगमता हो सके। समाज को सुखी बनाने के लिए भारत ने जैसी आर्थिक व्यवस्था निकाली थी वैसी व्यवस्था किसी भी विज्ञान या आर्थिक मस्तिष्क ने अब तक नहीं निकाली है।

हमारी सादगी का अर्थ भौतिकता की उपेक्षा करना नहीं था। जो अतिरिक्त बचत होती थी उसको उत्पादक कार्यों या दान-धर्म के कार्यों में लगाया जाता था। अन्न या सामग्री के रूप में कर-संग्रह तथा सार्वजनिक अन्न-भंडार की व्यवस्थाओं से अकाल तथा आर्थिक लूट-खसोट जैसी आधुनिक मुख्य दुर्गुणों को पहले से ही दूर कर दिया जाता था। ये समस्त व्यवस्थाएँ, कुछ आवश्यक संशोधन करके, आज भी कार्यान्वित की जा सकती हैं। पारलौकिकता तथा भाग्य-भरोसे रहने की आदत को दूर किया जाना चाहिए। पूँजीपतियों को अपने अभागे गरीब भाइयों के लिए धन बचाने तथा सादगी से रहने की आदतें डालनी चाहिए। मजदूरों को भी

अपने दृष्टिकोण को नया बनाना चाहिए क्योंकि अच्छी तरह अपना काम करने से ही अच्छाइयाँ होती हैं। विनिमय-व्यवस्था आज के लिए आवश्यक हो गई है। हम अपने प्राचीन सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक दर्शन को पुनः अपना सकते हैं। भारत का दूसरा योगदान सत्ता का विकेन्द्रीकरण या छोटे-छोटे स्वतन्त्र समुदायों (गाँव, नगर या प्रदेश) का अस्तित्व है। यह विचारणीय विषय है कि इस प्रकार का सामुदायिक जीवन हमें कैसे लाभ पहुँचा सकता है।

यदि हम मानवता के अतीत पर, जहाँ तक का हमें ज्ञान है, दृष्टि डालें तो हम यह पायेंगे कि मानवीय जीवन उन्हीं युगों तथा देशों में सुखी तथा समृद्ध था जहाँ की मानवता अपने को छोटे-छोटे स्वतन्त्र समुदायों (केन्द्रों) में संगठित करने के योग्य थी। आधुनिक यूरोप अपनी सभ्यता के तीन चौथाई भाग के लिए इजरायलियों, यवनों (विशेषतः एथेंस के) तथा मध्यकालीन इटली की जनता के रहन-सहन का ऋणी है। इसी प्रकार भारत के वीर-युगों में, पल्लव, पांड्य, चोल और चेरों के युगों में हमारे देश के लोगों के छोटे-छोटे संगठन (समुदाय) तथा केन्द्र थे और रहन-सहन तथा संस्कृति के क्षेत्र में सुन्दर कार्य हो रहा था। जब सामुदायिक जीवन विस्तृत क्षेत्रों में अपना प्रसार करता है तब ऐसा प्रतीत होता है कि उसके फैलाव तथा उत्पादक-शक्ति का ह्रास हो रहा है। हमारे देश में गुप्त-साम्राज्य सरीखे वृहत साम्राज्य भी थे किन्तु उनमें संस्कृति राजधानियों के आस-पास तक ही अधिक संगठित थी। इसने हमारे यहाँ केन्द्रीकरण के सिद्धान्त को भी क़ायम रखा जो कि छोटे-छोटे स्वतन्त्र समुदायों की नीति थी। आर्थिक रूप में भी हम ऐसे समुदायों या संघों में संगठित थे जो हमारे भौतिक तथा नैतिक कल्याण की व्यवस्था करते थे। अतः, इस समय उद्योगों में कुछ विकेन्द्रीकरण बाँछनीय तथा आवश्यक है। यह एकाधिपत्य तथा सौदेबाजी के खतरे को भी दूर कर देगा, मजदूरों में अपने काम में दिलचस्पी लेने की भावना पैदा करेगा तथा गाँवों के कुटीर उद्योगों को उन नगरों से सम्बन्धित कर देगा जहाँ बड़े उद्योगों का केन्द्रीयकरण किया जा सकता है। इसलिए, सामुदायिक जीवन में काफी सुविधाएँ हैं।

ऊपर, हमने अपनी वर्तमान संस्कृति के सामाजिक तथा आर्थिक अंगों पर प्रकाश डाला है। अब हम इस काल के कलात्मक जीवन पर कुछ प्रकाश डालने जा रहे हैं।

कलाओं का विकास

राजकीय संरक्षण न प्राप्त होने के कारण भारतीय कलाओं के भी बुरे दिन आ गए थे और उन्नीसवीं शताब्दी हमारी कलाओं का अन्धकार-युग थी किन्तु इस शताब्दी के अन्त में कुछ व्यक्तियों ने भारत की कलाओं के पुनरुत्थान के लिए काम करना शुरू कर दिया था। इसके परिणामस्वरूप अब हमारी कलाओं को सरकार तथा बुद्धिजीवियों दोनों की मान्यता प्राप्त हो गई है। आधुनिक काल में नृत्य, संगीत और चित्रकला का विशेष पुनरुत्थान हुआ। नीचे हम इनका सविस्तार अध्ययन कर रहे हैं।

नृत्य

मध्यकाल का अन्त वासनापूर्ण नृत्यों के विकास में हुआ था और नृत्य-कला लोगों के मन बहलाने का साधन हो गई थी। नर्तकी लड़कियों का एकाधिपत्य हो गया था और शास्त्रीय नृत्य-कला मृतप्राय हो गई थी। जब मद्रास प्रान्त के कृष्ण ऐयर ने नृत्य-कला के पुनरुत्थान का प्रयत्न शुरू किया, उनकी कटु आलोचना की गई। उन्हें शिक्षित महिलाओं तक का सहयोग नहीं प्राप्त हो सका। फिर भी वे परिश्रम करते रहे। व्याख्यानों, फिल्मों तथा सार्वजनिक सभाओं के द्वारा उन्होंने अपने विचारों का प्रचार किया। उन्होंने स्त्री का रूप तक धारण किया और शास्त्रीय नृत्य किए। धीरे-धीरे उन्हें प्रोत्साहन मिला और वर लक्ष्मी तथा जय लक्ष्मी का सहयोग भी प्राप्त हुआ। उन्हें बाला सरस्वती का, जो नृत्य-देवी मानी जाती हैं, भी सहयोग प्राप्त हुआ। अनेक संगीत समितियाँ बन गयीं और शिक्षित वर्ग ने इसे अपना लिया। इस प्रकार, प्राचीन नृत्य के विपरीत "भारत नाट्यम" का पुनर्जन्म हुआ। दक्षिण भारत में अन्य अनेक लोगों ने इसे अपना लिया जिनमें मेनका, रुक्मिणी देवी, गोपीनाथ, रामगोपाल, मीनाक्षीसुन्दरम् पिल्लई (रामगोपाल के गुरू) तथा मृणालिनी साराभाई के नाम उल्लेखनीय हैं। दक्षिण भारत के विभिन्न नृत्यों, विशेषतयः भारत नाट्यम, कथाकाली, और मोहिनी नाट्यम, में अनेक नए-नए प्रयोग हुए। अहमदाबाद स्थित "दर्पण", अड्यार (मद्रास) स्थित "कला क्षेत्र" तथा केरल कला मण्डलम् आदि भारत में नृत्य-कला के कुछ सुदृढ़ केन्द्र स्थापित हो गए हैं।

उत्तर भारत में नृत्य-कला का पुनरुत्थान हुआ। रवीन्द्रनाथ टैगोर की

प्रेरणा से बंगाल ने इसमें नेतृत्व किया। रवीन्द्रनाथ ने शान्ति निकेतन में सन् १९१७ से इसको प्रोत्साहन दिया था। लखनऊ में कालिका और बिन्दा ने कथक–नृत्य का पुनरुत्थान किया और अच्छन तथा शम्भू महराज ने उनका अनुकरण किया। इनके अतिरिक्त उत्तर भारत में "उदयशंकर" का उदय हुआ जो इस समय भारतीय नृतकों में सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं और जिन्होंने सबसे अधिक देशों का भ्रमण किया है। उदयशंकर का जन्म उदयपुर के महराजा के दरबार से सम्बन्धित एक बंगाली ब्राह्मण के परिवार में हुआ था। इनके पिता संस्कृत के पण्डित, भारत की प्राचीन विद्या के विशेषज्ञ तथा सुसंस्कृत थे। बाल्यावस्था से ही उदयशंकर में कलात्मक प्रतिभा प्रकट थी। इसीलिए झालावाड़ के राजा ने उन्हें "लन्दन रायल कालेज आफ आर्ट्स" में शिक्षा पाने के लिए अपने खर्च से लन्दन भेजा था। वहाँ वे सर विलियम राथेनस्टीन के प्रिय शिष्य हो गये। सर विलियम उदयशंकर को चित्रकार बनाना चाहते थे परन्तु उदयशंकर का रुझान नृत्य-कला की ओर था। जब रूस की प्रसिद्ध नर्तकी "अन्ना पेवलोवा" से उदयशंकर की भेंट हुयी तभी उन्होंने नर्तक बनने का दृढ़ निश्चय कर लिया। अन्ना उन्हें अपने साथ ले गईं और उन्हें नृत्य–कला की शिक्षा दी। अन्ना ने उदयशंकर के साथ गोपीकृष्ण बन कर लन्दन में जो नृत्य किया था उसका जोरदार स्वागत हुआ।

सन् १९२७ वे दोनों भारत आ गये और यहाँ भी उनका खूब स्वागत हुआ और उन दोनों की अत्यधिक ख्याति हुयी। किन्तु ख्याति प्राप्त करने के बाद उदयशंकर ने विश्राम नहीं किया। उन्होंने शंकरम् नाम्बूदरी के पास जाकर नृत्य–कला की और शिक्षा प्राप्त की। उदयशंकर ने "अजन्ता" सरीखे भारत के प्राचीन कला–केन्द्रों में जाकर शास्त्रीय नृत्य-कला देखी और पूर्व तथा पश्चिम के समन्वय के आधार पर नए-नए नृत्य प्रचलित किये। उन्होंने फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी आदि यूरोपीय देशों का भ्रमण किया और वहाँ की नृत्य–कलाएँ भी सीखीं। इस कला में वे अत्यधिक निपुण हो गये। शिवनृत्य, कालिया–नृत्य आदि नृत्यों में उनकी निपुणता प्रकट है। उनके नृत्य आत्मा के परमात्मा से एकीकरण के प्रतीक हैं। इस समय उदयशंकर सम्पूर्ण विश्व का भ्रमण कर चुके हैं।

साथ ही, मणिपुर के प्राचीन नृत्यों का भी पुनरुत्थान हुआ। इन

नृत्यों में वहाँ के मेटी पूर्वजों के तत्व मौजूद हैं। कहा जाता है कि यहाँ मेटी जाति का राज्य था और यह जाति महाभारत के पहले हिमालय प्रदेश से आकर यहाँ बस गयी थी। उदाहरणार्थ, 'खम्बा' नृत्य मेटी नृत्य है। मणिपुर गन्धर्वों-स्वर्ग के नर्तकों-का परम्परागत देश माना जाता है। इन नृत्यों में नगाड़े बजाने वालों तथा झांझ (करताल) बजानों वालों की कला अद्भुत होती है। ये नृत्य भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। देवताओं के उत्सवों, सैनिक समारोहों तथा अन्य धार्मिक उत्सवों के अवसर पर ये नृत्य किये जाते हैं। इस नृत्य का आसामी नाम "जगोई" है। राजकुमार प्रियगोपाल इस कला के मुख्य कलाकार हैं। इस कला के अन्य प्रसिद्ध कलाकार ब्रजबासी सिंह तथा मणिवर्द्धन हैं जो आसामी नहीं हैं।

आजकल देश भर में ऐसे अनेक केन्द्र हो गए हैं जहाँ एक या एक से अधिक नृत्य-विद्यालय स्थापित हैं। लखनऊ, बनारस, जयपुर तथा रायगढ़ कथक-नृत्य के केन्द्र हैं जहाँ इस कला में नए-नए परीक्षण किए जा रहे हैं। अड्यार और केरलमण्डलम् में "भारतनाट्यम" तथा मलाबार में "कथाकाली" के केन्द्र हैं। अन्य साँस्कृतिक केन्द्रों में कलकत्ता के "पूर्व परिषद," टैगोर द्वारा स्थापित "शान्ति निकेतन," पटना के "भारतीय नृत्य-कला केन्द्र" के नाम उल्लेखनीय हैं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से देश भर में अन्य छोटे-छोटे केन्द्र और भी स्थापित हो गए हैं।

संगीत-कला

इस काल में संगीत-कला में भी बड़ा पुनरुत्थान हुआ है। देश में इस सम्बन्ध में एक आन्दोलन सा चल पड़ा था और देश के सब भागों के विद्वान् राष्ट्रीय सम्मेलन में एकत्रित होकर इस कला में अनुसंधान करते थे और उनके परिणामों को केन्द्रित करते थे। इसके परिणाम स्वरूप "स्वरों" की एकरूपी व्यवस्था हुयी तथा उत्तर भारत के रागों को क्रमबद्ध किया गया ताकि उन्हें सीखने-सिखाने में आसानी हो अनेकानेक संगीत क्लब और संगीत-विद्यालय भी खुल गये जिनमें इस कला का गम्भीर अध्ययन कराया जाता है बाद में संगीत की शिक्षा स्कूल-कालेजों में भी दी जाने लगी।

भारतीयों ने यह सब काम बीसवीं शताब्दी में किया। इससे पूर्व मुग़ल साम्राज्य के पतन के साथ-साथ हमारे देश में इस संगीत-कला का भी पतन

हो गया था। जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह देव (शासनकाल सन् १७७९–१८०४) तथा पटना के रईस मुहम्मद रज़ा ने संगीत–कला के उत्थान की ओर पहले क़दम बढ़ाया था। महाराजा प्रतापसिंह ने संगीतज्ञों का एक सम्मेलन आयोजित किया था तथा हिन्दुस्तानी संगीत पर एक अच्छा ग्रन्थ लिखवाने का प्रयत्न किया था। इस ग्रन्थ का नाम "संगीत–सार" है और इसमें आधुनिक स्वरों के विषय में बहुमूल्य निर्देश हैं। मुहम्मद रज़ा ने आधुनिक रागों के वर्गीकरण को सरल बनाने के लिए "नग़मते–असाफी" नामक पुस्तक लिखी थी। इसमें उन्होंने यह मुख्य सिद्धान्त निर्धारित किया था कि राग–रागिनियों में कुछ सामंजस्य या सामान्य लक्षण होना चाहिए। किन्तु, संगीत–कला की सब से महत्वपूर्ण पुस्तकें राजा सर एस० एम० टैगोर ने लिखी। "भारतीय संगीत का इतिहास," "संगीत–सार", "कण्ठ कौमुदी" आदि उनकी अन्यान्य पुस्तकों ने आधुनिक भारतीय संगीत को अपने पैरों पर खड़ा कर दिया। विलियर्ड, विल्सन, क्लीमेन्ट्स आदि यूरोपीय विद्वानों ने भी भारतीय संगीत सम्बन्धी पुस्तकें लिखीं। विभिन्न स्थानों में संगीत का खूब प्रसार हुआ, किन्तु बहुत रूढ़िगत स्थिति में। हमारे देश में उस्ताद अब्दुल क़रीम खाँ (अपने समय के सर्वश्रेष्ठ ख़याल गायक), अलाउद्दीन खाँ (१८ वाद्य–यंत्रों के पंडित और संगीत के प्रोफेसर), मथुरा के चन्दन चौबे, पंजाब के दिलीपचन्द्र वेदी, अपने समय के प्रमुख गायक उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ, ग्वालियर के राजा भैया पुछों वाले सरीखे अन्य अनेक संगीतज्ञ हो गए हैं। इनमें से अलाउद्दीन तथा फ़ैयाज़ खाँ सरीखे कुछ संगीतज्ञ २० वीं शताब्दी में जीवित थे।

परन्तु, अभी तक संगीत–कला की कोई व्यवस्था या निश्चित सिद्धान्त नहीं थे और संगीत के "घरानों" ने अपने गुणों को गुप्त रखने की आदत को नहीं छोड़ा था। उचित स्वर–व्यवस्था और वैज्ञानिक स्तर समय की माँग थी। इस आवश्यकता को मुख्यतः विष्णुनारायण भतखण्डे ने पूरा किया जिन्हें "आधुनिक हिन्दुस्तानी संगीत का पिता" कहा जाना चाहिए। भतखंडे बम्बई "ज्ञानोत्तेजक मण्डली" (नाट्य एवं संगीत संस्था) के सदस्य थे। वहां उन्होंने जो व्याख्यान दिए थे वे संगीत की उस नई शिक्षा–प्रणाली के आधार थे जिसे उन्होंने सम्पूर्ण भारत में प्रचलित किया। सन् १९१० में प्रकाशित अपनी पुस्तक "लक्ष्य संगीतम्" में उन्होंने उत्तर भारत के हिन्दुस्तानी संगीत का व्यावहारिक आधार दिया है और "स्वरों" को

व्यावहारिक व्यवस्था दी है। "हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति" नामक अपनी पुस्तक में उन्होंने भारतीय संगीत के सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने सब 'रागों' को दस "थातों" या "मेलों" (जातियों) में वर्गीकृत किया है और रागों के सादृश्य के आधार पर उन्हें उन वर्गों के अन्तर्गत रखा है। उनके सहयोगी अप्पा तुलसी ने उनकी इस पुस्तक तथा "राग चन्द्रिका सार" का हिन्दी में अनुवाद किया। इस प्रकार भतखण्डे ने आधुनिक "रागों" को निश्चित रूप देने, उन्हें क्रमबद्ध करने तथा उनकी शिक्षा एवं उनके गाने को सरल बनाने में बहुत बड़ा कार्य किया है। उन्होंने संगीत-कला को उन निरक्षर गायकों (संगीतज्ञों) के हाथों से निकाला जिनकी शिक्षा–प्रणाली अवैज्ञानिक थी। उनकी पुस्तकों का अन्यान्य भाषाओं में भी अनुवाद हुआ। उन्होंने, सब से पहले, सन् १९१६ ई० में बड़ोदा में "अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन आयोजित किया था जिसमें उनकी व्यवस्था को मान्यता दी गई थी। उन्होंने इस सम्मेलन में भाषण देते हुए कहा था कि "मैं इस बात से परम सुख का अनुभव करता हूँ कि मैंने अपने उत्तराधिकारियों के लिए एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया है जो उन्हें "पूर्ण" बनायेगा। और मुझे आशा है कि कुछ वर्षों में ही हमारे संगीत की शिक्षा की एक ऐसी सरल प्रणाली हो जायगी जो आम जनता के लिए ग्राह्य होगी। तब भारत की महत्वाकांक्षा पूरी होगी, क्योंकि तब भारतीय विश्वविद्यालयों में संगीत का भी पाठ्यक्रम होगा और संगीत–शिक्षा विश्व–व्यापी हो जायगी। और यदि ईश्वर की कृपा से "उत्तर" और "दक्षिण" की प्रणालियों का एकीकरण हुआ तो पूरे देश में एक राष्ट्रीय संगीत हो जायगा और तब हमारी अन्तिम आकांक्षा पूरी होगी क्योंकि तब यह वृहत "राष्ट्र" एक गीत गाएगा।" लखनऊ स्थित मैरिस कालेज जैसी कई संस्थाओं में उनकी प्रणाली प्रचलित हो गई है। भतखंडे के शिष्य सम्पूर्ण भारत की विभिन्न संस्थाओं में सङ्गीत के अध्यापक हैं। एक अन्य प्रमुख संगीतज्ञ और संगीत रचयिता विष्णु दिगम्बर हो गए हैं। वे संगीत–कला के विद्वान, व्याख्याता बालकृष्ण बुवा (ग्वालियर) के शिष्य थे। उन्होंने अश्लील गायकों के हाथों से संगीत का उद्धार किया, जनता को संगीत के सही ढंग की शिक्षा दी, शिक्षित लोगों को संगीत की ओर आकर्षित किया और स्वरों की सरल व्यवस्था (प्रणाली) प्रस्तुत की। "रघुपति राघव राजाराम" का उनका गान प्रसिद्ध है। इस समय भारत

में असंख्य संगीतज्ञ हो गए हैं। वर्तमान युग में व्यक्तिवाद, वाद्य-कला और कारीगरी का प्रभुत्व है। ख़याल, ठुमरी और ग़ज़ल का संगीत-क्षेत्र पर अधिकार है। बंगाली संगीत का भी विकास हो गया है। इसमें रवीन्द्र संगीत भी सम्मिलित है जो प्रवाहपूर्ण, लोचदार, स्वतन्त्र और [illegible] है। इसमें वाद्य-यन्त्रों पर विशेष जोर दिया जाता है। फ़िल्म संगीत भी प्रचलित हो गया है और उसे "नीम हक़ीमों" के चंगुल से मुक्त करना आवश्यक है। इनके अतिरिक्त कीर्तन, लोक-गीत आदि सामूहिक संगीत भी प्रचलित हो गया है। आधुनिक काल में ही नाट्य कला का भी पुनरुत्थान हुआ परन्तु सन् १९३० से १९३९ के बीच इसका पतन भी हो गया। विशेषतः इण्डियन नेशनल थियेटर (बम्बई) जिसकी शाखाएँ देश भर में हैं, तथा पृथ्वीराज के द्वारा इस कला को पुनर्जीवित करने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। हमारे देश में अन्य कई प्रसिद्ध संगीतज्ञ आज भी जीवित हैं और नई-नई प्रतिभा का भी उदय हो रहा है। बीसवीं शताब्दी के प्रमुख संगीतज्ञों में दिल्ली के अमीर खां, बम्बई की दमयन्ती जोशी, पांडिचेरी के दिलीपकुमार राय, बंगाल के भीष्मदेव चट्टोपाध्याय, बम्बई के नारायण राव व्यास तथा ओंकारनाथ, मद्रास की सुब्बलक्ष्मी और पूना के वी० एन० पटवर्धन के नाम उल्लेखनीय हैं। ग्वालियर, मद्रास, लखनऊ, पूना, बड़ोदा, कलकत्ता तथा शान्तिनिकेतन में संगीत विद्यालय भी हैं।

अब हम वर्तमान काल के हिन्दुस्तानी संगीत का वर्णन कर तथा दक्षिण के कर्नाटक संगीत तथा पश्चिमी संगीत से उसकी तुलना करते हैं।

संगीत दो प्रकार का होता है—एक मार्ग-संगीत (ब्रह्म ज्ञान सम्बन्धी) तथा दूसरा देशी-संगीत (लौकिक)। संगीत का कारण वह मनोहर तथा आनन्ददायक स्वर है जिसे भारत में "नाद" कहा जाता है। भारतीय संगीत बहुत से "रागों" में विभाजित है जिनमें दस राग प्रमुख हैं। इनमें यमन, बिलावल, खमाज, भैरव, पूर्वी, मरवा, काफी, आसावरी, भैरवी तथा टोड़ी सब से अधिक महत्वपूर्ण हैं ध्रुपद, होली, दादरा, ख़याल, टप्पा, छतानंग, तराना, सारेगामा तथा ठुमरी आदि गाने के ढंग हैं। उक्त दस प्रमुख राग कई उपरागों तथा रागिनियों में विभाजित हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर भारतीय संगीत में लगभग २०० राग हैं। प्रत्येक राग में ५ स्वर अवश्य होने चाहिए। एक मुख्य स्वर होता है जिसे "वादी" कहते हैं

दूसरा मुख्य स्वर "समवादी" कहा जाता है और शेष सहायक स्वर होते हैं जिन्हें अनुवादी कहा जाता है। राग विभिन्न गतियों में गाए जाते हैं और कुछ निश्चित उतार-चढ़ाव से गाए जाते हैं। संगीत में "ताल", "लय", "मात्रा" आदि कुछ टीप होते हैं। टीपों की निर्धारित संख्या के छन्दांश के पूरे वृत्त को "ताल" कहते हैं। लय धीमा, मध्यम और तेज होता है। मात्रा ताल की एक सब से छोटी टुकड़ी (इकाई) होती है। कुछ स्वर "बोल" कहलाते हैं जिनका प्रयोग तबला से उत्पन्न समय के लिए होता है। सरगम २२ छोटे अन्तराओं में विभाजित होता है। उन्हें "श्रुतियाँ" कहते हैं। ये निम्न सात प्रमुख स्वरों— सा, रे, गा, मा, पा, धा, नि— में होती हैं जिनके निम्न अनुपात होते हैं :—

१ २ ३ ४	५	६ ७ ८	९ १० ११ १२ १३	१४
सा	रे	गा	मा	पा

१५ १६ १७ १८	१९ २० २१ २२
धा	नि

ये स्वर डो-रे-मि-फा-सोल, ला और टि इन पश्चिमी स्वरों के सदृश हैं। इन सात शुद्ध स्वरों तथा ५ (विकृत) को मिला कर "सप्तक" कहा जाता है और यही सरगम (उष्टक) है। इस प्रकार, एक में गुंथे हुए कई स्वरों के उस सरगम को "राग" कहा जाता है जो हृदय को द्रवित करता है और कोमिल बनाता है। राग बिना किसी वाद्य-यन्त्र की सहायता से गाए जाते हैं परन्तु साधारणतः ये तबला या तार वाले वाद्य यन्त्र के साथ गाए जाते हैं। ये मौसम-मौसम पर और समयानुसार गाए जाते हैं; जैसे कुछ राग दिन में तथा कुछ रात में। ये उत्तेजनापूर्ण भावों से भी सम्बन्धित होते हैं। ये हिन्दुस्तानी संगीत की कुछ मुख्य विशेषताएँ हैं।

जब हिन्दुस्तानी संगीत में मुसलिम ढंग का मिश्रण हो गया तब वह दक्षिणी संगीत से पृथक हो गया। भतखण्डे के अनुसार इन दोनों में निम्नलिखित मुख्य भेद है।

हिन्दुस्तानी संगीत में, मुख्यतः, तीन मुख्य राग-समूह होते हैं; (१) वे राग जिनमें रे और धा तीव्र होते हैं; (२) वे राग जिनमें रे और धा कोमल होते हैं; (३) वे राग जिनमें गा और नि कोमल होते हैं कर्नाटक

संगीत इस व्यवस्था से भिन्न होता है। दक्षिणी संगीत में "शुद्ध" स्वर सबसे नीचा होता है और अन्य सब तीव्र होते हैं। "उत्तर" में दस प्राथमिक राग होते हैं जबकि "दक्षिण" में इनकी संख्या ७२ है और इनसे निकले हुए अन्य अनेक राग भी हैं। साथ ही इन दोनों की नामावली में भी भिन्नता है; गाना शुरू करने के इनके तरीके भी भिन्न हैं; और गाने के बीच-बीच में जोर देने की भी भिन्नता है। "उत्तरी" संगीत में कुछ मिश्रण भी किया जा सकता है परन्तु "दक्षिणी" में बिल्कुल नहीं। परन्तु, इन दोनों में सादृश्य भी हैं और उन्हीं पर जोर दिया जाना चाहिए।

भारतीय संगीत पश्चिमी संगीत से भी भिन्न है। हमारे देश में में संगीत का मुख्य अंग राग है परन्तु पश्चिम में "ताल" संगीत का मुख्य अंग है। पूर्वीय संगीत में "सुर" एक राग के निश्चित सुरों से सम्बन्धित हैं परन्तु पश्चिमी संगीत सुर भिन्न-भिन्न तालों से सम्बन्धित हैं। एक सुरे स्वरों के नियमित क्रम से राग पैदा होता है परन्तु "ताल" विभिन्न सम्बन्धित सुरों के मेल से उत्पन्न होता है। पूर्वीय संगीत में राग एक निश्चित भाव (प्रवाह) में रहता है किन्तु पश्चिमी संगीत में पूरे गाने के संतुलन के निमित्त भाव प्रवाह का प्रयोग किया जाता है। पूर्वीय संगीत में मुख्य सुर परम्पराओं से निश्चित किये गये हैं किंतु पश्चिमी संगीत में सुरों के समूह का मूल्य होता है, जबकि अलग-अलग सुरों के कई रूप गवाए जा सकते हैं। पूर्वीय संगीत में उचित और शुद्ध ढंग से गाने पर ध्यान दिया जाता है परन्तु पश्चिमी संगीत में "लय" पर जोर दिया है। पश्चिमी संगीत में लौकिकता तथा पूर्वीय संगीत में धार्मिकता अधिक है। टैगोर के शब्दों में "हमारे लिए, संगीत का इन्द्रियागम महत्व है; यह जीवन की घटनाओं से आत्मा को पृथक करता है; यह मानवीय आत्मा तथा उससे परे की वस्तुओं के आत्मा से सम्बन्ध के गीत गाता है।" किन्तु यह भिन्नताएँ उतनी मौलिक नहीं है जितनी दिखाई देती हैं। रोम्यां रोलाँ के मतानुसार पश्चिमी संगीत को ब्रिटिश या अमरीकी संगीत के दृष्टिकोण से नहीं देखना चाहिए। ब्रिटेन और अमेरिका के लोग संसार में सबसे कम संगीत-प्रेमी हैं। भारतीय संगीत की तुलना जर्मन, फ्रांसीसी, रूसी तथा स्पेन के संगीत से होगी। इसके अतिरिक्त भारतीय संगीत में जो गहरा विश्वव्यापी सारतत्व है वह किसी भी संगीत-प्रेमी आत्मा को प्रभावित करने में असफल नहीं हो सकता है। "नहीं, यूरोप और एशिया

के संगीत-कला के बीच कोई भी खाई नहीं है। यह वही "मानव" है जिसकी आत्मा, जो एक और अनेक है, अपनी शाखाओं के जाल में उस "जीवन" को बाँध लेता है जिसको सीमित नहीं किया जा सकता और जिसको कैद नहीं किया जा सकता।[१]

अस्तु, आज के भारतीय संगीतज्ञों का महान् कर्तव्य उत्तरी तथा दक्षिणी एवं भारतीय तथा पश्चिमी संगीत में सामंजस्य लाना है।

चित्रकला

अब हम आधुनिक भारतीय चित्र-कला के विकास के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय चित्रकला की लगभग मृत्यु हो गयी थी और यूरोप के लोग यह कहने लगे थे कि भारतीयों में कलात्मक कृतियाँ प्रस्तुत करने की क्षमता नहीं है। सन् १८५८ में रस्किन ने कहा था कि भारतीय कला या तो रंग के अर्थहीन भागों तथा रेखाओं के प्रवाह से अपनी रचनाएँ करती है; या यदि वह किसी जीवित प्राणी को प्रस्तुत करती है तो उसका स्वरूप विकृत कर देती है। हमारे देश में टिली केट्ल (१७६९) सरीखे पेशेवर यूरोपीय कलाकार आये जिन्होंने हमारी चित्रकला को पश्चिमी रूप दिया। आज भी बेवर्ली निकोल्स सरीखे ऐसे लोग हैं जो कि हमारी निन्दा करते हुए यह कहते हैं कि "उन्हें, केवल एक को छोड़ कर, कोई भी एक महत्वपूर्ण कलाकार या कला-विद्यालय (भारत में) नहीं मिला। यहाँ तक कि इस सम्बन्ध में भारतीयों ने भी हेयता स्वीकार कर ली और रवि वर्मा सरीखे कलाकारों ने महाभारत के वीरों को "खिदमत-गारों," राधा या सीता को "दासी" (आया) तथा राक्षनियों को कुरूपा "मज़दूरनियों" के रूप में प्रस्तुत किया। हमारी जो गौरवपूर्ण कलात्मक सम्पत्ति है उसके उत्तराधिकारी बनने की धारणा ही हममें नहीं थी। हर वस्तु जो सबसे अच्छी थी (ताजमहल भी) उसका डिज़ाइन (रूप) अंग्रेज़ों द्वारा तैयार किया गया था। हमारी आँखें सबसे पहले एक अंग्रेज़ ने खोलीं। कलकत्ता स्कूल आफ आर्ट के प्रधान स्वर्गीय ई० बी० हैवेल ने अपने सहयोगी कलाकार अवनीन्द्रनाथ टैगोर के साथ भारतीय कला के सौन्दर्य का प्रचार करना शुरू किया। अमेरिका और यूरोप में डा० आनन्दकुमारस्वामी ने

यही काम किया। इसके फलस्वरूप समस्त विश्व हमारी कला के महत्व को मानने लगा। टैगोर ने विश्व के समक्ष भारत के आत्मा को प्रकट कर दिया और वे विश्व भर में एक रचनात्मक कलाकार मान लिये गये। पेरिस में "टैगोर स्कूल आफ पेन्टिंग" की एक प्रदर्शिनी हुयी। जिसने हर फ्रांसीसी कला-प्रेमी के हृदय को प्रभावित कर लिया। इसके बाद ही लन्दन, न्यूयार्क जापान, चीन कोरिया, जावा तथा आस्ट्रेलिया आदि कई स्थानों में हमारी कला की प्रर्दाशनियाँ हुयीं। जिसकी प्रशंसा यूरोप आज करता है उसकी प्रशंसा भारत कल करता है। इसलिए यहाँ भी पक्षपात की दीवाल ढह गयी और अधिकारियों तथा सार्वजनिक संस्थाओं ने हमारी कला को संरक्षण दिया। "दि इंडियन सोसाइटी आफ ओरिएन्टल आर्ट" नामक एक संस्था स्थापित हो गयी और इसके तत्वावधान में टैगोर चित्रकला की शिक्षा देने लगे। प्रर्दाशनियाँ आयोजित की गई। प्रसिद्ध कला-आलोचक ओ० सी० गांगुली के सम्पादकत्व में एक कला सम्बन्धी नई पत्रिका "रूपम" प्रकाशित होने लगी। जेम्स एच० कजिन्स ने भारतीय कला के महत्व को पूरी तरह समझ लिया था। उन्होंने सर्वत्र पर्यटन करके इसके प्रचार को और भी आगे बढ़ाया। भारतीय कला का प्रचार कार्य अन्य कई लोगों ने भी किया जिनमें एन० सी० मेहता, रावल, स्टेला क्रैमरिश, कार्ल खंडेल-वाला तथा जी० वेंकटचलम के नाम उल्लेखनीय हैं। भारतीय चित्र-कला के नवीन पुनरुत्थान के पिता अवनीन्द्रनाथ टैगोर के जीवन पर भी यहाँ कुछ प्रकाश डाल देना उचित होगा सन् १८७१ में उनका जन्म हुआ था। पहले कला के यूरोपीय अध्यापकों ने उन्हें कला की शिक्षा दी परंतु इससे उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। इसी समय उनके सामने भारतीय चित्र-कला आयी। उसकी किसी वस्तु ने उनके अन्तरात्मा में हलचल पैदा कर दी। फलतः उन्होंने प्राचीन भारतीय कलाकृतियों का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने एक पूर्ण निपुण भारतीय कारीगर (कलाकार) से सबक लिए और राधा-कृष्ण की चित्रावली तैयार की। इस काल में उन्होंने जो अनुभव प्राप्त किये थे वे उन्हीं के शब्दों में स्पष्टतः प्रकट हैं—उस काल में मैंने क्या अनुभव किया इसे मैं कैसे प्रकट करूँ? मैं चित्रों से परिपूर्ण हो गया था—उन्होंने मेरे पूरे जीवन पर अपना प्रभुत्व जमा लिया था। मैं उन चित्रों को पाने के लिए केवल अपनी आँखे बन्द कर लेता था जिनकी रूप-रेखा-रंग-छाया आदि मेरे मस्तिष्क के समक्ष तैरने लगते थे, मैं ब्रुश लेकर उनको वैसा ही चित्रित कर देता था। "बाद में उनको हैवेल तथा टैगोर से प्रेरणा मिली

वे इंडियन सोसाइटी आफ ओरिएन्टल आर्ट" में सम्मिलित हो गये और उन्होंने औरेन्द्र गाँगुली, नन्दलाल बोस, के० वेंकटप्पा, हकीम खाँ असितकुमार हल्दर, समरेन्द्रनाथ गुप्ता आदि वर्तमान प्रसिद्ध कलाकारों को चित्रकला की शिक्षा दी।

इन लोगों को प्राचीन राजपूत कला के चित्रकार ईश्वरीप्रसाद वर्मा ने भी पुरानी भारतीय कलाओं की शिक्षा दी थी। भिन्न-भिन्न देशों के विदेशी कलाकार भी आमन्त्रित किए गए थे और उनमें तथा इस देश के कलाकारों में सहयोग कायम किया गया था। टैगोर के उपर्युक्त सब शिष्य अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कलाकार हो गए हैं। अस्तु, अवनीद्रनाथ का कार्य हमारी कला के इतिहास में बड़ा ही महत्वपूर्ण है। महाकवि टैगोर ने उनके सम्बन्ध में कहा है कि "उन्होंने देश को आत्म-ह्रास के पाप से बचाया। उन्होंने भारत को नीचे से ऊपर उठाया और उसे पुनः उस सम्मानपूर्ण स्थान पर पहुँचाया जो कि उसका अधिकार था।" वे शान्तिपूर्ण वातावरण में अपनी मृत्यु (१९५१) तक शान्तिनिकेतन में रहे। अब हम देश के आधुनिक काल के सब से प्रमुख चित्रकारों के कार्यों तथा उनकी कुछ विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं।

हमें अवनीन्द्रनाथ की कृतियों में हिन्दू कला का पूर्ण सौन्दर्य मिलता है; ईरानी रंगसाजी तथा जापानी प्रणालियाँ भी मिलती हैं। इस प्रकार उनकी कृतियों में (प्रणालियों में) या अनुभूति में कट्टर सिद्धान्तवादिता नहीं है। ताजगी और शक्ति, वैयक्तिकता और समन्वय उनकी कला के विशेष गुण हैं। "शाहजहाँ का देहावसान", "अशोक की सम्राज्ञी", "औरंगजेब" "राधा-कृष्ण", "सन्यासी बुद्ध", आदि उनके कुछ प्रमुख चित्र हैं। मानव शरीर अंकित करने तथा उसका मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण चित्रित करने में उन्होंने अजन्ता की कला प्रस्तुत की है। परन्तु कला के आवश्यक अंगों में उनकी निजी प्रतिभा रही जिसका लक्ष्य समन्वय था। वे हमारी संस्कृति के आधार-रचनात्मक आध्यात्मिकता के प्रति सच्चे रहे हैं। गगनेन्द्रनाथ टैगोर अवनीन्द्र-नाथ के बड़े भाई थे। उन्होंने जो कला-संग्रह किए हैं वे भारत की सर्वश्रेष्ठ कलाओं में से हैं। उनकी प्रतिभा किसी सिद्धान्त या मत की बन्दी नहीं बनी। उन्होंने बड़ी संख्या में भिन्न-भिन्न प्रकार के रेखाचित्र, चित्र, कार्टून, बर्फीले चट्टान, आदि के अनेकानेक चित्र प्रस्तुत किए हैं।

"हिमालय के बरसाती बर्फीले चट्टान", "मेरा आभ्यान्तरिक उद्यान", "वन की लपट (ज्वाला)", "ज्योति की प्रथम लौ" आदि उनके कुछ प्रमुख चित्र हैं। उन्होंने सार्वजनिक दृश्यों के कई चित्र अंकित किए हैं जिनमें "कांग्रेस की सभा में भाषण देते हुए महाकवि टैगोर" प्रमुख है। उनकी अल्पायु में मृत्यु हो जाने से भारतीय कला-जगत की महान् छति हुई।

मद्रास के के० वेंकटप्पा भारत के दूसरे प्रतिभावान चित्रकार हैं। वे अपनी कृतियों में "अद्वैतवादी" के सन्यास-वृत्ति का स्मरण कराते हैं। उनकी कृतियों में गम्भीरता है तथा वाह्याडम्बर नहीं है। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। मैसूर राजप्रासाद की दीवालों तथा अम्बा विलास में जो चित्रावलियाँ हैं वे उन्हीं की कृतियाँ हैं। "ऊटकमण्ड के बर्फीले चट्टानों के अध्ययन", "पक्षी का अध्ययन", "राम तथा स्वर्ण-मृग" आदि उनकी अन्य विशिष्ट कला-कृतियाँ हैं। वे रंग-साजी की कला के पंडित हैं और जिस वस्तु का भी चित्र अंकित करते हैं उसकी अन्तरात्मा को निकाल कर प्रस्तुत कर देना जानते हैं।

नंदलाल बोस भी न केवल कला-जगत में ही अपितु भारत की जनता में भी ख्याति प्राप्त चित्रकार हैं। वे भारत की प्राचीन कला के सच्चे अनुयायी हैं। हरिपुरा और फैजपुर के काँग्रेस अधिवेशन के पंडालों में उन्होंने जो चित्र अंकित किए थे उनमें भारत की प्राचीन कलात्मक प्रतिभा प्रकट है। उन्होंने हमारी पौराणिक तथा धार्मिक कथाओं के स्पष्ट चित्र प्रस्तुत किए हैं। "पार्वती के शोक में रत शिव", "सती", "उमा का शोक", "गरुड़" तथा "कैकेयी" आदि उनकी कुछ प्रसिद्ध कला कृतियाँ हैं। उन्होंने टैगोर की कविताओं के भी चित्र प्रस्तुत किए हैं। टाइम्स आफ इण्डिया के वार्षिक अङ्क में भी उनके चित्र हैं। उन्होंने टैगोर के संगीतमय नाटकों के लिए रंग-विरंगे चित्र (दृश्य) तैयार किए हैं। उन्होंने हमारे लिए अजन्ता के मुख्य चित्रों की पुनर्रचना की है।

असितकुमार हल्दर इस समय लखनऊ में रहते हैं। "लखनऊ स्कूल आफ आर्ट" के प्रिन्सिपल के रूप में उन्होंने ख्याति प्राप्त की है। वे टैगोर की कला के तथा हमारी प्राचीन परम्पराओं के सच्चे अनुयायी हैं। लकड़ी पर रोग़नदार चित्रकारी में उन्होंने अपने ढंग के एक अनोखे "झरोखे" की रचना की है। उन्होंने संतालों के रहन-सहन वेश-भूषा रस्मरिवाज आदि

के अनेक चिरस्मरणीय चित्र बनाए हैं। "अकबर निर्माता के रूप में", "संगीत की लपट (ज्वाला)", "रास-लीला", "कृष्ण का नृत्य", "चन्द्रमा और कमल" आदि उनकी अन्य प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। उनकी भी प्रतिभा एवं रुचि बहुमुखी थी। निर्माणकला में भी वे अपनी कारीगरी दिखाते हैं।

अन्य प्रसिद्ध कलाकारों में देवीप्रसाद चौधरी, एम० ए० रहमान चुग़ताई, शारदाचरण वकील, मुकुलचन्द्र दे, डी० रामदास, सुनयनी देवी, यामिनीराय, प्रमोदकुमार चटर्जी, पुलिनबिहारी दत्त, रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा अमृतशेर गिल के नाम उल्लेखनीय हैं। चौधरी पश्चिम या पूर्व दोनों ओर से किसी का भी अनुकरण करने वाले हैं और अपनी कला में दोनों की अच्छाइयों को मिला देते हैं। उनमें पुरुषत्व और रसिकता है। चुग़ताई मुग़ल कला के अनुयायी हैं। यूरोप के लोगों का जितना संरक्षण इनको प्राप्त है उतना किसी अन्य भारतीय कलाकार को नहीं। तस्वीर खींचने में वे बड़े योग्य हैं और अपनी कला में हिन्द ईरानी शैली प्रस्तुत कर देते हैं। वकील और उनके परिवार ने नई दिल्ली को कला-प्रेमी बना दिया है और उनके चित्र निराले ढंग के हैं तथा उनमें रंगों का पूर्ण सौन्दर्य है। वे कलकत्ता स्कूल आफ आर्ट के प्रिन्सिपल हैं। वे शहरी रुचि के कलाकार हैं। वे "शुष्क-बिन्दु" की पश्चिमी कला के पण्डित हैं। शुक्ला के साथ वे ही ऐसे एकमात्र कलाकार हैं जो धातु पर या शीशा पर चित्रकारी करने में पण्डित हैं। आन्ध्र के रामाराव का मस्तिष्क अजन्ता की कला से हट कर यवन-कला, जिसे लार्ड लेटन सरीखे लोगों ने विशेष रूप दिया, की ओर चला गया है। सुनयनी देवी ने किसी भी विद्यालय में कला की शिक्षा नहीं पायी है और न आज की प्रसिद्ध कलाओं की ओर उनकी झुकाव ही था। उन्होंने ग्रामीण "पात" कला को अपनाया है। इस प्रकार उन्होंने ग्राम्य-कला का पुनरुत्थान किया है। यामिनीराय वीर-पूजक नहीं है। वे अपनी पसन्द के चित्र तैयार करते हैं और उन्हें उन्हीं लोगों के हाथ बेचते हैं जो उनको चाहते हैं। "व्यावसायिक कलाकार" कहे जाने से वे भयभीत नहीं होते। प्रमोद कलाकारों में योगी हैं और उन्होंने प्रतीकवाद के पीछे जो भारतीय दर्शन था उसके हृदय तक पहुँच गये हैं। उनका "चन्द्रशेखर" (शिव) चित्र आधुनिक भारतीय कला की सबसे सुन्दर कृतियों में माना जाता है। पुलिन बंगाली कला के अनुयायी हैं और उन्होंने बच्चों को कला की शिक्षा देने के लिए बम्बई में "दि चाइल्ड आर्ट सोसाइटी" (बाल्य-कला-समाज) नामक

संस्था स्थापित की है। भारत ने टैगोर को उस समय नहीं जाना जबकि उनके चित्र सामने आये परंतु पश्चिम ने उनकी प्रशंसा की। उनके काव्य की भाँति उनकी चित्रकला में भी गूढ़ चातुर्य्य है जिसको पकड़पाना कठिन है।

इस समय की प्रवृत्तियाँ स्वतंत्रता की ओर हैं और बंगाल कला की ओर इनका झुकाव नहीं होता है परन्तु व्यावहारिक रूप में इसका अर्थ पश्चिमी कला को अपनाना है। ऐसे कलाकारों में ए० एफ़० हुसेन, माली, वी० डी० चिंचलकर, अवनी सेन, कमला दास गुप्त और दिल्ली के शैलोज मुकर्जी प्रसिद्ध हैं। ये लोग यूरोपीय छाप की नवीनतम शैलियों के अनुयायी हैं।

भारत में अनेक कला-केन्द्र या कला-संस्थाएँ हैं जिनमें आंध्र कलाशाला, मछलीपट्टम, बड़ोदा कला भवन, कलकत्ता, पटना, लखनऊ, बम्बई तथा मद्रास के कला स्कूल, कला भवन, शांति निकेतन, उकील स्कूल आफ आर्ट (दिल्ली) आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त "आल इंडिया फाइन आर्ट्स एंड क्राफ्ट्स सोसाइटी (नई दिल्ली)" नामक एक अखिल भारतीय कला-संस्था भी है। साथ ही, भारत में कई कला–पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होती हैं जिनमें "मार्ग" सबसे अधिक विख्यात है। कई लोगों तथा संस्थाओं के पास बहुमूल्य कला–संग्रह भी हैं। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि भारत ने चित्रकला में महान् प्रगति की। कुछ लोगों का यह मत है कि आगे की कला में फीकेपन के लक्षण दिखाई देते हैं और उसमें प्रेरणा नहीं है। मौलिकता के स्थान पर रेखा–चित्र आ गये और पश्चिमी कला के प्रभाव दिखाई देने लगे। कला का पुनरुत्थान केवल तभी हो सकता है जबकि मौलिकता के साथ–साथ परम्परा का भी सम्मान किया जाय। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भारत में प्रजातंत्र की यह माँग है कि जनता में कला को लोकप्रिय बनाया जाय। उनको कला के मुख्य अंग–संतुलन, गति और सदृशता–सिखाये जाने चाहिए। विश्वविद्यालय तथा शिक्षा संस्थाओं को कला–प्रेमी होना चाहिए। कला को घर-घर-में पहुँचाने के लिए कला-शालाएँ, कला–प्रदर्शिनी, प्रचार–पत्रिकाएँ आदि चाहिए। केवल तभी कला उस स्थिति में नहीं रहेगी जैसी स्थिति में वह आज है। अब हम पश्चिम की कला से भारतीय कला की तुलना करते हैं।

भारत में कला साम्प्रदायिक तथा धार्मिक थी और वह शिल्पशास्त्रों

में निर्धारित परम्पराओं पर चलती थी। वह इस अर्थ में आदर्शवादी थी कि यथार्थ जगत् आभ्यन्तरिक जगत है। हिन्दू धर्म का विश्वास है कि यह जगत उस "एक" में उत्पन्न इच्छा की सृष्टि है जिसने "अनेक" में अपने को प्रकट करने के लिए उसकी रचना की है। सृष्टि को बनाने के पश्चात् "परमात्मा" ने उसमें अपनी आत्मा भर दी। उसने परमानन्द (लीला) के कारण इसमें प्रवेश किया। अनेक रूपों में अपने को प्रकट करने तथा एकता में भिन्नता उत्पन्न करने में उसे आनन्द मिला। इसकी उसके द्वारा रचित पदार्थों में प्रतिक्रिया हुयी। इसके फलस्वरूप भिन्नता के जगत मे, मानवता के हृदय में अनेकता में से एकता को पुनः प्राप्त करके आनन्द प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न हुयी। अस्तु, हिन्दुओं के धर्म का यह निष्कर्ष है कि आत्मा को पहचानने का प्रयत्न किया जाय। हिन्दू कला इसी दर्शन पर आधारित है। कलाकार के लिए एक ईश्वर की एकता को प्राप्त करना आवश्यक है। यह तभी संभव है जब कि वह "आकार" धारण करे क्योंकि मनुष्य सीमित है और वह निराकार के बजाय साकार के सामने अधिक समाधिस्थ हो सकता है। ईश्वर की अनेकता को प्रकट करने के लिए प्रतीकवाद का जन्म हुआ। योगी के सिद्धांत ने हमारी कला को प्रेरित किया और आगे चलकर यवन-कला के विपरीत ईश्वर को मानवता से परे के स्वरूपों में चित्रित किया गया। अस्तु, भारतीय कला आत्मा से सम्बन्धित है परन्तु पश्चिमी कला बाह्यता या भौतिकता से सम्बन्धित है। साथ ही भारतीय कला के सिद्धांत तथा तरीके पश्चिमी कला से भिन्न हैं। पश्चिमी कला यथार्थवादी, लौकिक तथा वैज्ञानिक है जबकि भारतीय कला प्रतीकवादी, धार्मिक तथा आदर्शवादी है। भारतीय कला में हाथ की कारीगरी के बजाय कल्पना का अधिक भाग रहता है। यह अन्तर न केवल दोनों कला के माध्यमों में ही दिखाई देता अपितु कला के कार्यों तथा जीवन उसके सम्बन्ध में भी दिखाई देता है। परन्तु ये अन्तर ऐतिहासिक परिस्थितियों के परिणाम हैं। और जब विश्व की जनता में अधिकाधिक समागम होगा तब उनमें कुछ सामंजस्य अवश्य आयेगा। अस्तु, आधुनिक भारत के कलात्मक विकास उल्लेखनीय हैं और हमारी प्राचीन कला-सम्पत्ति के भाग हैं।

शैक्षिक तथा साहित्यिक विकास

राजकीय संरक्षण सर्वदा हमारी शिक्षा-व्यवस्था की प्रकट विशेषता

रही है। इसके परिणामस्वरूप मुग़ल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने एवं तज्जन्य १८ वीं शताब्दी में अराजकता फैल जाने के फलस्वरूप हमारी शिक्षा-व्यवस्था को भारी धक्का लगा और वह भारत के अनेक भागों में नष्ट हो गयी। सन् १८१३ ई० में ईस्ट इंडिया कम्पनी को सब स्थितियों का मुकाबला करना पड़ा। तब तक इस क्षेत्र में कोई क्रमबद्ध या व्यवस्थित अध्ययन या चिन्तन नहीं हुआ था। और उसके बाद भी जो उपाय किये गये वे आवश्यकताओं को देखते हुए पर्याप्त नहीं थे। वास्तव में, आधुनिक भारत का शिक्षा का इतिहास जैसा बताता है, भारत की समस्त जनता देश पर विदेशी अधिकार की विपत्त से पीड़ित थी। कोई राष्ट्रीय दृष्टि-कोण नहीं था, क्रमबद्ध योजना नहीं थी, शिक्षा में उत्साह नहीं था, समुचित सिद्धांत नहीं थे और हमारे पास धन भी अपर्याप्त था। इस पूरी अवधि में हम सिद्धांतों के संघर्ष में फँसे थे। भारतीय शैक्षिक विकास का जो संक्षिप्त अध्ययन हम प्रस्तुत कर रहे हैं उससे यह स्पष्ट हो जायगा।

सर्वप्रथम ईसाई मिशनरियों और कम्पनी के कर्मचारियों में इस विषय में विवाद चला। सन् १६९८ के चार्टर में कम्पनी को "धर्म-मंत्रियों" को रखने तथा सब किलों एवं बड़े-बड़े कारखानों में स्कूल रखने का आदेश दिया गया। सन् १७१५ में इस प्रकार का प्रथम स्कूल "सेन्ट मैरीज़ चैरिटी स्कूल" मद्रास में स्थापित किया गया। इसके बाद अन्यान्य स्कूल खोले गये। इस प्रकार मिशनरियों का कार्य कम्पनी की सहायता-प्राप्त शिक्षा-प्रतिष्ठानों से सम्बन्धित हो गया। परन्तु कम्पनी ने धर्म के प्रति तटस्थता की नीति अपनायी थी और इसलिए कैरे, मार्शमैन तथा वार्ड सरीखे ईसाई मिशनरियों और कम्पनी में संघर्ष चल पड़ा। इन लोगों ने सिरामपुर में अपना कार्य प्रारम्भ किया था। इनके मित्रों ने इंगलैंड में भी इसी प्रश्न पर आन्दोलन शुरू कर दिया। और सन् १८१३ के चार्टर ऐक्ट ने साहित्य के पुनरुत्थान एवं सुधार करने, विद्वान् भारतीयों को प्रोत्साहन देने तथा विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान-वृद्धि के लिए कम से कम १ लाख रुपया सुरक्षित रख देने के लिए कम्पनी को बाध्य कर दिया। पार्लमेन्ट ने भी मिशनरियों को भारत जाने तथा वहाँ रहने की आज्ञा दे दी। दूसरे शब्दों में, वे बलपूर्वक अपने सिद्धांतों को भारत में प्रचलित करने का प्रयत्न कर सकते थे।

इसके बाद ही इस संघर्ष ने प्राच्यवादियों और आंग्ल-वादियों के संघर्ष का रूप धारण कर लिया। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि कम्पनी की प्रारम्भिक शिक्षा-योजनाएं "शुद्ध और उत्तम लेख" के क्षेत्र में कार्यान्वित की गई थीं। सन् १७८१ ई० में वारेन हेस्टिंग्स ने अरबी और फारसी के अध्ययन के लिए "कलकत्ता मदरसा" की स्थापना की। सन् १७९१ में बनारस के रेज़िडेन्ट जोनाथन डंकन ने वहाँ संस्कृत का एक कालेज स्थापित किया। मुसलमानों तथा हिन्दुओं में सामन्जस्य लाने की आशा की गई थी। इसलिए जब कम्पनी को एक लाख रुपया खर्च करने की इजाजत मिली तब, जो लोग प्राचीन शिक्षा-व्यवस्था पर इस धन को खर्च करना चाहते थे उनमें और अंग्रेजी के माध्यम से पश्चिमी शिक्षा लागू किए जाने के समर्थकों में संघर्ष उपस्थित हो गया। भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा दिए जाने के समर्थकों का भी एक दल था जिसके नेता एल्फिन्सटन थे परन्तु इस दल का कोई महत्व नहीं था। शिक्षा सम्बन्धी उक्त अनुदान "जनरल कमेटी आफ पब्लिक इन्सट्रक्शन" को सौंप दिया गया था परन्तु पश्चिमी शिक्षा के ऊपर इस कमेटी के सदस्यों में मतभेद था। सन् १८३५ ई० में इन सदस्यों ने अपना विवाद गवर्नर जनरल की कौंसिल के सामने पेश किया। मेकाले इस कौंसिल के कानून-सदस्य थे। इन्होंने २ फरवरी सन् १८३५ की कार्यवाही में अपना मत प्रकट किया। यह कार्यवाही पुस्तिका ऐतिहासिक दस्तावेज़ है। मेकाले ने पश्चिमी शिक्षा और अंग्रेजी के माध्यम का समर्थन करते हुए यह विश्वास प्रकट किया कि "यूरोप के अच्छे पुस्तकालय की एक अलमारी भारत और अरब के सम्पूर्ण साहित्य के समान है।" ७ मार्च सन् १८३५ को बेंटिक ने उनके मत को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार, इस संघर्ष का हल किया गया और तभी से कम्पनी की सहायता प्राप्त शिक्षा संस्थाओं में अंग्रेज़ी शिक्षा का माध्यम हो गयी।

इसके उपरान्त प्राथमिक पाठशालाओं के प्रश्न पर विवाद उपस्थित हो गया। ऐसा विश्वास किया गया था कि उच्च वर्ग के लोगों को शिक्षित बनाया जाय जो बाद में जनता को शिक्षित बनाएंगे। यह सिद्धान्त "डाउनवर्ड फिल्ट्रेशन थ्यूरी" के नाम से विख्यात है। ऐडम्स नामक एक ईसाई मिशनरी (पादरी) ने कुछ चुने हुए जिलों में कार्यान्वित करने के लिए एक योजना प्रस्तावित की थी। इस योजना में यह सुझाव दिया गया था कि कुछ चुने हुए जिलों में शिक्षा सम्बन्धी पूरी जांच-पड़ताल की जाय; बच्चों के लिए

आधुनिक भारतीय भाषाओं में कुछ पुस्तकें तैयार की जायें; पूरे जिलों के चीफ इक्जीक्यूटिव अफसर के रूप में एक परीक्षक नियुक्त किया जाय जो अध्यापकों से मिला करे, परीक्षाओं का संचालन करे, पुरस्कार स्वीकृत करे और पुस्तकों की व्याख्या करे; अध्यापकों के लिए "नार्मल स्कूल" स्थापित किए जायें और गांवों की पाठशालाओं को भूमि-दान दिए जायें ताकि गांवों में बसने तथा गांवों के बच्चों को शिक्षित बनाने के लिए अध्यापकों को प्रोत्साहन मिले। यही योजना बाद में उत्तर-पश्चिम प्रांत (उ० प्र०) की "टोमेसन योजना का आधार बनी। यदि ऐडम की यह योजना स्वीकृत हो जाती तो भारत में जन-शिक्षा का तीव्र गति से प्रसार हो जाता किन्तु आकलैण्ड ने इस योजना को अस्वीकृत कर दिया। सन् १८४४ ई० में सरकारी घोषणा हुई कि शिक्षित भारतीयों को सरकारी नौकरियों में नियुक्त किया जायगा। लेकिन सन् १८५४ तक विभिन्न प्रकार के विवाद चलते रहे। उदाहरणार्थ, बम्बई में देशी भाषाओं या अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा देने के प्रश्न पर विवाद चला था और इसका निर्णय उस समय हुआ जब कि छोटी श्रेणी के स्कूलों में देशी भाषाओं को जारी रखने पर समझौता हुआ। साथ ही, कम्पनी ने अपने व्यावसायिक स्वरूप को अभी पूरी तरह नहीं छोड़ा था और राजनीतिक संघटन के कार्य को पूरा करना बाकी था। इस लिए योजना आँशिक (पक्षपातपूर्ण) तथा अव्यवस्थित थी। उक्त विवाद के दौरान में ही १९ जुलाई सन् १८५४ का "कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स का एजुकेशन डिस्पैच" सामने आया। बोर्ड आफ कन्ट्रोल के अध्यक्ष सर चार्ल्स उड के नाम से इसे "उड्स डिस्पैच" कहा जाता है। इस डिस्पैच ने पूरे भारतवर्ष के लिए एक शिक्षा-व्यवस्था का आधार प्रस्तुत किया और सन् १९२० तक हमारी शिक्षा व्यवस्था वैसी ही रही जैसी उड ने शिफारिस की थी। उक्त डिस्पैच" में शिक्षा सम्बन्धी यह नीति निर्धारित की गई थी कि "बौद्धिक योग्यता तथा नैतिक चरित्र की उन्नति के लिये शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाय ताकि भारत के लोग अपने देश के विस्तृत साधनों के विकास में हमारी बराबरी कर सकें.........और, साथ ही, हम जो वस्तुएँ तैयार करते हैं या जिनकी हमारे देश में खपत होती है उनके लिए वे आवश्यक सामग्रियों की पूर्ति कर सकें और हमारे देश के मजदूरों की माँग की भी पूर्ति कर सकें।"

इस प्रकार अंग्रेजों की शिक्षा-नीति उपयोगिता की, क्लर्क प्राप्त करने की तथा अंग्रेजी व्यवसाय को विकसित करने की थी। उक्त डिस्पैच में यह

सिफारिस की गई थी कि यूरोपीय कला, विज्ञान तथा साहित्य आदि अध्ययन के विषय रखे जायें इसमें अंग्रेजी तथा भारतीय भाषाओं दोनों का समर्थन किया गया था। डिस्पैच में सुझाव दिया गया था कि शिक्षा सम्बन्धी प्रशासन के लिए प्रत्येक प्रान्त में सार्वजनिक शिक्षा विभाग खोला जाय जिसका अध्यक्ष "डाइरेक्टर आफ पब्लिक इंस्ट्रक्शन" हो। उसके अधीन कई सहायक डाइरेक्टर, इन्सपेक्टर आदि अधिकारी हों। वह सरकार को वार्षिक रिपोर्ट दिया करें। लंदन विश्वविद्यालय के नमूने पर कलकत्ता और बम्बई में विश्वविद्यालय स्थापित किए जायें जिनके चान्सलर (कुलपति) गवर्नर हों। उनकी एक-एक सीनेट हो और उनमें एक-एक वायस चान्सलर (उप कुल-पति) हों। ये सब मनोनीत किए जायें और उनका काम केवल उपाधियां वितरित करना और परीक्षाएँ लेना हो। विश्वविद्यालयों में शिक्षा-कार्य न हो। शिक्षा की क्रमिक व्यवस्था बनाई जाय जिसमें विश्वविद्यालय तथा कालेज की शिक्षा सर्वोपरि हो, हाई स्कूल और मिडिल स्कूल माध्यमिक हों और सब से नीचे प्राथमिक शिक्षा हो। प्राथमिक स्कूल सरकार द्वारा प्रत्यक्षतः संचालित न हों किन्तु सरकार उनको सहायता दे। योग्य क्षेत्रों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए तथा गरीबों को क्षात्रवृत्तियाँ दी जायें। नार्मल स्कूलों में अध्यापकों को शिक्षण दिया जाय। व्यावसायिक तथा स्त्री-शिक्षा के लिए योजनाएँ बनाई जायें। इस प्रकार, इसी डिस्पैच ने हमारी शिक्षा-व्यवस्था का ढांचा निर्मित किया था। किन्तु भारतीयों को अवसर न देनें की नीति जारी रही और डिस्पैच की साधारण सिफारिशें तक लागू नहीं की गयीं। उदाहरण के लिए भारतीय भाषाओं को प्रोत्साहन नहीं दिया गया तथा व्यक्तिगत प्रयत्नों को सहायता नहीं दी गई। आगे चल कर प्राथमिक, माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में जो प्रगति हुई उसकी मुख्य विशेषताओं पर अब हम प्रकाश डालते हैं।

प्राथमिक शिक्षा

प्राथमिक शिक्षा पूरी शिक्षा-व्यवस्था का आधार बनी रही। सन् १८५९ में भारत सचिव स्टैनली ने भारत सरकार को अपने प्रत्यक्ष नियन्त्रण में प्राथमिक पाठशालाएँ खोलने का आदेश दिया। किन्तु हर प्रान्त ने अपने-अपने ढ़ंग से इस आदेश का अर्थ लगाया और इस प्रकार प्राथमिक शिक्षा मुख्यतः व्यक्तिगत प्रयास ही रही। प्राथमिक शिक्षा पर होने वाले व्यय के लिए स्थानीय करों की दरें बढ़ा दी गयीं, परन्तु, शिक्षा पर आय का कितना

प्रतिशत खर्च किया जाय इसकी व्यवस्था नहीं थी, इसलिए म्यूनिसिपैलिटियाँ इसकी उपेक्षा करती रहीं। इसके अतिरिक्त अधिकांश स्कूल शहरों में क़ायम थे। इसके परिणामस्वरूप स्कूल जाने की आयु के ७५ से ९२ प्रतिशत तक बच्चे अपढ़ ही बने रहे। सन् १८८२ में सर डब्ल्यू०डब्ल्यू०हन्टर की अध्यक्षता में नियुक्त हन्टर कमीशन ने इस पूरे मसले पर फिर से विचार किया। इस कमीशन ने सिफारिश की कि प्राथमिक शिक्षा मातृ भाषा में दी जाय, इस ओर सरकार अधिकाधिक ध्यान दे; प्राथमिक पाठशालाएँ स्वायत्त-शासन संस्थाओं के नियन्त्रण में कर दी जायँ; देशी भाषाओं के व्यक्तिगत स्कूलों को भी प्रोत्साहन तथा आर्थिक (राजकीय) सहायता दी जाय किन्तु उनके परीक्षा-फलों के आधार पर उनकी व्यवस्था में कम से कम सरकारी हस्तक्षेप हो। व्यावहारिक विषय भी प्रचलित किए जायँ, स्कूल का समय निश्चित करने का अधिकार उन्हीं को रहे, प्राथमिक शिक्षा के लिए "विशेष कोष" कायम किए जायँ और उनका निर्धारण शहरी तथा ग्रामीण स्कूलों के लिए अलग-अलग हो और सरकार भी उन्हें आर्थिक सहायता दे। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से इन्हीं सिफारिशों के आधार पर कार्य शुरू किया गया। ये सिफारिशें किसी कदर सन्तोषजनक थीं और देश में राजनीतिक चेतना के उदय के साथ-साथ प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य करने के प्रयत्न किए गए। उदाहरणार्थ, गोखले ने इसी उद्देश्य से सन् १९१२ में इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल मे एक बिल पेश किया जो अस्वीकृत कर दिया गया था। इसी बीच, प्राथमिक-शिक्षा-सुधार के लिए सरकार की कई घोषणाएँ हुयीं। उदाहरणार्थ, सन् १९०४ में लार्ड कर्जन ने "शिक्षा-नीति" सम्बन्धी अपने प्रस्ताव में यह सुझाव दिया था कि सरकारें उदारतापूर्वक अनुदान देकर प्राथमिक शिक्षा में सहायता दें, परीक्षाफलों के आधार पर सहायताएँ दी जायँ, अध्यापकों को अध्ययन-कला की शिक्षा दी जाय और अच्छी शिक्षा-प्रणाली लागू की जाय। सन् १९१३ के भारत सरकार के प्रस्ताव में शिक्षा का प्रसार करने का भी वचन दिया गया। किन्तु इन सब प्रस्तावों के बावजूद भी सन् १९२१ में साक्षरता लगभग १७ प्रतिशत रही और स्कूल जाने की आयु के लगभग २० प्रतिशत ही बच्चे शिक्षित हुए। सन् १९१७ से १९२२ तक प्रान्तीय सरकारों ने कानून पास करके प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य और निःशुल्क कर दिया परन्तु स्वेच्छा से और धीरे-धीरे कार्य कि? जाने के कारण अधिक प्रगति नहीं हुई और सन् १९४६ ई० तक भारत में साक्षरता ११ प्रतिशत ही रही परन्तु, इस सम्बन्ध में हार्टोग कमेटी रिपोर्ट, ऐबट एण्ड

उड रिपोर्ट, वर्धा योजना, सार्जेन्ट रिपोर्ट आदि भिन्न-भिन्न प्रकार की रिपोर्टों का निकलना जारी रहा। हार्टाग कमेटी रिपोर्ट में प्रारम्भिक शिक्षा में संख्या बढ़ाने के बजाय योग्यता बढ़ाने पर अधिक जोर डाला गया था। यहाँ पर हम सार्जेन्ट रिपोर्ट पर कुछ प्रकाश डालते हैं क्योंकि इसमें वर्धा योजना की कुछ विशेषताएँ निहित हैं और भारतीय प्रान्तों में यह रिपोर्ट, कुछ परिवर्तन के साथ, लागू की गई है। सन् १९३५ में निर्मित केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड द्वारा यह रिपोर्ट सन् १९४४ में प्रकाशित की गई थी और भारत सरकार के शिक्षा आयुक्त जान सार्जेन्ट इसके लिए, मुख्यतः, उत्तरदायी थे। इस रिपोर्ट में निम्नलिखित सुझाव दिए गए थे :—

१—३ से लेकर ६ वर्ष तक की आयु के बच्चों को प्रारम्भिक शिक्षा से पूर्व की शिक्षा दी जाय;

२—६ से लेकर १४ वर्ष तक की आयु के बच्चों को देशव्यापी अनिवार्य एवं निःशुल्क प्रारम्भिक या बेसिक शिक्षा दी जाय, ६ से ११ तक की आयु के बच्चों के लिए जूनियर बेसिक तथा ११ से १४ वर्ष तक की आयु के बच्चों के लिए सीनियर बेसिक की व्यवस्था रखी जाय;

३—वयस्क-साक्षरता और सार्वजनिक पुस्तकालयों के विकास के लिए और प्रयत्न किए जायँ;

४—इस योजना के लिए शिक्षकों को समुचित शिक्षण दिए जाने की पूरी व्यवस्था हो;

५—अनिवार्य शारीरिक शिक्षा, डाक्टरी जाँच, चिकित्सा, दूध और मध्यान्ह-भोजन की व्यवस्था रखी जाय;

६—शारीरिक और मानसिक दृष्टि से पिछड़े हुए बच्चों की शिक्षा प्रारम्भ की जाय;

७—सामाजिक तथा मनोरंजन आदि के कार्यक्रम रखे जायें।

वर्धा योजना का मुख्य सिद्धान्त "कार्य के द्वारा विद्योपार्जन" लागू कर दिया गया परन्तु इसका उपयोगी अंग था कि शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिए। इसे नहीं अपनाया गया। निचले दर्जों में "कार्य" कई प्रकार के हो सकते हैं, ऐसे मौलिक कला-कौशलों की शिक्षा दी जा सकती है जो

स्थानीय परिस्थितियों के उपयुक्त हों और इनसे सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के विषय सिखाए जा सकते हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हमारे राज्यों की सरकारों ने उपयुक्त संशोधन कर के इस योजना को कार्यान्वित करने की ओर कदम बढ़ाया परन्तु इस कार्य में अर्थाभाव की समस्या सब से बड़ी बाधा रही। इसके अतिरिक्त शिक्षा के आदर्श भी उतने अधिक विकसित नहीं थे जिससे कि लोगों में उत्साह पैदा हो। बेसिक शिक्षा महात्मा गांधी की प्रिय युक्ति थी। कई लोगों ने इसमें विश्वास नहीं किया। फिर भी इसे कार्यान्वित किया जा रहा है और अब भी इसका परीक्षण किया जा रहा है। अस्तु, सन् १८५४ से सन् १९५१ तक के लगभग १०० वर्षों में भारत के हर १०० व्यक्ति पर ८५ से अधिक व्यक्ति अशिक्षित बने रहे जब कि रूस में १५ वर्षों में ही शत प्रतिशत साक्षरता हो गई थी। माध्यमिक शिक्षा की भी यही स्थिति रही, यद्यपि सरकार इसपर प्रारम्भिक शिक्षा से अधिक ध्यान देती थी और प्रारम्भिक शिक्षा से अधिक इस पर खर्च करती थी।

माध्यमिक शिक्षा

उड के डिस्पैच के बाद, सन १८८२ के हन्टर कमीशन ने भारत में माध्यमिक शिक्षा की प्रगति की प्रथम साधारण जाँच-परताल की। इस अवधि में शिक्षा-क्षेत्र में अंग्रेजी का प्रभुत्व जारी रहा और उड के इस परामर्श की उपेक्षा की जाती रही कि भारतीय भाषाओं को भी अवसर और प्रोत्साहन दिया जाय। अध्यापकों के शिक्षण की कोई समुचित व्यवस्था नहीं की गई और वैयक्तिक देशी भाषाओं के विद्यालय (स्कूल) उपेक्षित बने रहे। माध्यमिक शिक्षा संस्थाओं की संख्या बढ़ गई परन्तु सरकारी धन का अधिकांश उन्हीं स्कूलों पर खर्च किया जाता था जिनका प्रत्यक्ष संचालन सरकार करती थी। पहले तो, जितने माध्यमिक स्कूल इस काल में खोले गये उनमें से अधिकांश व्यक्तिगत प्रयत्न के परिणाम थे। सन् १८१६ में राजा राममोहन राय के प्रयास से हिन्दू कालेज की स्थापना हुई थी और तभी से भारतीयों की व्यवस्था के अधीन शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना शुरू हो गयी थी। सन् १८८१-८२ तक भारतीय व्यवस्थापकों के अधीन १३४१ स्कूल हो गये थे जबकि अभारतीय व्यवस्थापकों के अधीन ७५७ स्कूल थे। इन समस्त स्कूलों को सरकार से आर्थिक सहायता मिलती थी। किन्तु इन स्कूलों में भी त्रुटियाँ बनी रहीं। इनमें व्यवसायिक विषयों के प्रति रुचि नहीं थी, अंग्रेजी भाषा को अधिक महत्व दिया जाता था तथा पर्याप्त

छात्रवृत्तियाँ नहीं थी जिससे की जनता को लाभ न हो सका। हन्टर कमीशन ने इस स्थिति में सुधार करने का प्रयास किया और यह सिफारिश की कि प्रत्यक्ष राजकीय संचालन के स्कूलों की संख्या न बढ़ाई जाय और यदि संभव हो तो उन्हें सार्वजनिक व्यवस्थापकों के अधीन कर दिया जाय ताकि अन्य स्कूलों को अधिक आर्थिक सहायता दी जा सके; सार्वजनिक (वैयक्तिक) शिक्षा-संस्थाओं की व्यवस्था में सरकारी हस्तक्षेप कम से कम हो और उन्हें आर्थिक सहायता अधिक से अधिक दी जाय। इसके साथ-साथ शिक्षा के प्रशासन के लिए ऐसे अधिकारी नियुक्त किये जाँय जिनकी नीति वैयक्तिक संस्थाओं के प्रति सहानुभूति पूर्ण हो। मिशनरी स्कूलों के संबंध में कमीशन ने उनके कायम रखे जाने की इजाजत दे दी परन्तु, उसने जनता के व्यक्तिगत प्रयत्नों को प्रोत्साहन दिए जाने की आवश्यकता पर अधिक जोर डाला। कमीशन ने आर्थिक सहायता संबंधी कानूनों को अधिक उदार बनाने की सिफारिश की। कमीशन ने यह भी सुझाव दिया कि सरकारी तथा गैरसरकारी कालेजों के लिए प्राकृतिक धर्म के मौलिक सिद्धांतों पर आधारित एक चरित्र संबंधी पाठ्यपुस्तक तैयार कराई जाय और कालेजों के प्रिन्सिपल या कोई प्रोफेसर मनुष्य तथा नागरिक के कर्तव्यों पर प्रतिवर्ष कई व्याख्यान दे। यह सिफारिश तो पूर्णतः मृत पत्र बन कर रह गयी। कमीशन ने उच्च माध्यमिक श्रेणियों में व्यावसायिक (कला-कौशल संबंधी) पाठ्यक्रम प्रचलित किये जाने की सिफारिश की ताकि लोग "स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट" परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद व्यावसायिक योग्यता प्राप्त करके स्कूल छोड़ सकें। कमीशन ने अध्यापकों को शिक्षण देने की भी सिफारिश की। शिक्षा के माध्यम का प्रश्न शिक्षा-संस्थाओं के व्यवस्थापकों पर छोड़ दिया गया। अस्तु, इस कमीशन की सिफारिशें पूर्ण तथा विस्तृत थीं किन्तु इनकी ओर भी पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया और सन् १९२७ में हम लोगों को इस बात पर दुःख करना पड़ा कि धन का अत्यधिक अपव्यय होता है, शिक्षितों की संख्या बढ़ाने के लिए योग्यता का बलिदान किया जाता है, व्यावसायिक शिक्षा उपेक्षित ही रही, स्त्री-शिक्षा को और आगे नहीं बढ़ाया गया और विद्यार्थी स्वावलम्बी तथा योग्य होने के बजाय केवल परीक्षा में उत्तीर्ण होने मात्र के लिए पढ़ने वाले रह गये। विद्यालयों (स्कूलों) की वृद्धि की माँग जारी रही क्योंकि वे विश्वविद्यालय-शिक्षा, जो सरकारी नौकरी दिलाती थी, के प्रवेश-द्वार थे। इस माँग की पूर्ति करने के लिए सरकार ने कुछ

प्रयत्न किया और सन् १९०४ तथा १९१३ के प्रस्तावों में इस दिशा में अधिकाधिक प्रयत्न करने की इच्छा प्रकट की। इन प्रस्तावों में सरकार ने स्कूलों पर नियंत्रण करने, उनका सुधार करने, सहायता, शिक्षा, मनोरंजन, अध्यापकों के शिक्षण, छात्रों के चरित्र आदि में सुधार करने की अपनी इच्छा प्रकट की। सरकार ने यह भी घोषणा की कि अब स्कूलों में दस्तकारी की शिक्षा तथा विज्ञान की शिक्षा की अधिक व्यवस्था रहेगी। सन् १९१३ के प्रस्ताव में यह भी निर्धारित किया गया कि सरकारी स्कूल वैयक्तिक संस्थाओं के लिए "आदर्श" होने चाहिए। सन् १९१७ ई० के विश्वविद्यालय आयोग (Commission) की सिफारिशों के बाद इस व्यवस्था में और परिवर्तन हुआ तथा बोर्ड आफ हाई स्कूल एण्ड इन्टरमीजिएट एजुकेशन के अन्तर्गत हाई स्कूल तथा इन्टरमीजिएट कालेज हो गये। आगे चल कर शिक्षा-व्यवस्था भारतीय मंत्रियों के हाथ में आ गयी परन्तु, जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, इस व्यवस्था में सुधार के लिए कोई उग्र परिवर्तन नहीं हुआ। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद समस्त प्रांतों में, कम या अधिक सीमा तक, सार्जेन्ट रिपोर्ट लागू की गई जिस पर प्रकाश डाला जा चुका है। हमारे उत्तर प्रदेश में हाई स्कूल तथा इंटरमीजिएट के पाठ्यक्रम ४ वर्गों में विभाजित कर दिये गये। साहित्यिक, वैज्ञानिक, व्यावसायिक तथा रचनात्मक (या कला) ये चार वर्ग रखे गये। एक छात्र को इनमें से कोई एक वर्ग लेना पड़ता है। इन्टरमीजिएट तक इस पाठ्यक्रम की शिक्षा देने की जिस संस्था में व्यवस्था है उसे उच्च माध्यमिक विद्यालय (Higher Secondary School) कहा जाता है और उसका प्रधान "प्रिन्सिपल" कहा जाता है। किन्तु इन सब परिवर्तनों के बावजूद भी स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ और सन् १९४९ के विश्वविद्यालय आयोग ने इस ओर संकेत किया कि "विश्वविद्यालय के अध्यापक लगभग सर्वसम्मति से यह शिकायत करते हैं कि विश्वविद्यालय-शिक्षा में प्रवेश करने वाले छात्रों का शैक्षिक स्तर औसतन नीचा होता है।" उन्होंने आगे चल कर यह भी मत प्रकट किया कि "हमारे स्कूलों तथा इन्टरमीजिएट कालेजों में छात्रों की भीड़ रहती है और अध्यापक कम होते हैं; इन स्कूलों के अध्यापकों में ऐसे लोगों की संख्या बहुत थोड़ी है जिनमें अपने व्यवसाय के लिए उत्साह हो और जिनमें उसके प्रति गर्व हो।" हमारी प्रांतीय सरकारें "बेसिक शिक्षा" में अधिक दिलचस्पी लेती हैं और उसके व्यापक प्रसार के लिए आर्थिक सहायता

ी खूब दे रही हैं परन्तु दुर्भाग्यवश वे उतना ही माध्यमिक शिक्षा पर नहीं
ेतीं जो कि हमारे पूरे शैक्षिक यन्त्र की वास्तविक दुर्बलता है ।

हमारे यहाँ की माध्यमिक शिक्षा—व्यवस्था में विभिन्न प्रकार की त्रुटियाँ
ेनकाली जा सकती हैं और ऊपर हमने ऐसा ही किया है, परन्तु, शिक्षा
ाणालियों में सुधार का प्रश्न उतना मौलिक नहीं है जितना कि मनुष्य के
ुधार का । जहाँ हमने भारत में विश्वविद्यालय—शिक्षा के इतिहास का
ध्ययन किया है वहीं हम इस बात का भी अध्ययन करेंगे कि मानव—दृष्टि—
ोण से उसमें कौन सा नूतनत्व देने की आवश्यकता है क्योंकि अतीत में
ुधार की कई आदर्श योजनाएँ प्रारम्भ की गयीं परन्तु वे सब असफल हो
गयीं थीं क्योंकि शिक्षा के क्षेत्र में व्यक्तित्व के भाग को उचित मान्यता नहीं
ी गयी थी और मनुष्य को कैसे बदला जा सकता है इसके उपाय को ढूँढ़
ेनकालने का कोई प्रयास नहीं हुआ था ।

विश्वविद्यालय शिक्षा

सन् १८५४ के उड के डिस्पैच के बाद विश्वविद्यालय शिक्षा समुचित रूप में
ारत में हुयी, यद्यपि इससे पूर्व ही राजा राममोहन राय द्वारा सन् १८१७ में
ंस्थापित हिन्दू कालेज जैसे कई कालेज स्थापित हो चुके थे। सन् १८३४ में
ंबई में एलफिन्सटन कालेज, सन् १८३६ में हुगली में एक कालेज तथा १८४०
े लगभग ढाका और पटना में एक-एक कालेज स्थापित हो चुके थे। इसी बीच
ंबई में विलसन कालेज, मद्रास में मद्रास क्रिश्चियन कालेज, आगरा (यू०पी०)
में आगरा कालेज तथा सेन्ट जान्स कालेज, नागपुर में हिस्लप कालेज (१८१८)
तथा राबर्ट नोबुल द्वारा स्थापित मसूलीपट्टम स्थित कालेज स्थापित किये गये।
उड के डिस्पैच ने केवल परीक्षा-संस्था के रूप में विश्वविद्यालय स्थापित किये
जाने की स्वीकृति दी थी। इसी के अनुसार कलकत्ता, बंबई और मद्रास के
विश्वविद्यालय स्थापित हुए थे। ये तीनों विश्वविद्यालय सन् १८५७ ई० में
स्थापित किये गये। शिक्षा देने वाले विश्वविद्यालय या इन्टरमीजिएट शिक्षा
की कोई व्यवस्था नहीं थी। सन् १८५७ ई० में कलकत्ता में प्रथम प्रवेशिका
(Entrance) परीक्षा हुयी जिसमें २४४ परीक्षार्थी सम्मिलित हुए।
इनमें से १६२ उत्तीर्ण हुए। इन्हीं उत्तीर्ण छात्रों में से १३ सन् १७५८ ई० की
प्रथम उपाधि (डिग्री) परीक्षा में सम्मिलित हुए जिनमें से केवल दो परीक्षार्थी
उत्तीर्ण हुए। प्रसिद्ध उपन्यासकार तथा "वन्देमातरम" (राष्ट्रगीत) के रचयिता

बंकिमचन्द्र चटर्जी इन्हीं दो छात्रों में थे। सन् १८८२ ई० तक कालेजों की संख्या में इतनी अधिक वृद्धि होगयी कि उस वर्षमें ७४२९ परीक्षार्थी डिग्री परीक्षा में शामिल हुए जिनमें से २७७८ उत्तीर्ण हुए। सन् १८८२ ई० में पंजाब विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए कानून बना और उच्च कोटि की शिक्षा को प्रोत्साहन देने तथा शिक्षा-कार्य करने के लिए प्रोफेसर और लेक्चरर नियुक्त किये जाने की आज्ञा दी गयी। १८८२ के कमीशन को विश्वविद्यालयों के कार्यों का पुनरावलोकन करने का कार्य नहीं सौंपा गया था किंतु, फिर भी, उसने इस संबंध में कुछ सिफारिशें कीं। नैतिकता संबंधी पाठ्य पुस्तक तैयार किये जाने की इस कमीशन की सिफारिश एक आवश थी। इस विषय पर प्रकाश डाला जा चुका है। सन् १८८६ ई० में विश्वविद्यालय-शिक्षा पर प्रथम वार्षिक रिपोर्ट प्रकाशित की गयी। इस रिपोर्ट के अनुसार केवल पंजाब तथा बंबई विश्वविद्यालयों को ही सरकारी सहायता मिलती थी। सन् १८८७ ई० में उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना हुयी। कालेज खोलने के सार्वजनिक संस्थाओं के प्रयत्न भी बढ़ते जारहे थे। उदाहरणार्थ, "दक्षिण शिक्षा समाज" (पूना), आर्य समाज तथा राष्ट्रीय शिक्षा परिषद (कलकत्ता) इस दिशा में काफी प्रयत्न शील थे। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा पंचयप्पा मुदालियर सरीखे विद्वानों ने भी कालेज शिक्षा की उन्नति में बहुत योग दिया। इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप सन् १९०१-०२ तक भारत में १७९ कालेज हो गये। सन् १९०२ में लार्ड कर्जन ने एक विश्वविद्यालय आयोग नियुक्त किया। इस आयोग ने अन्य सुझावों के साथ-साथ यह भी सिफारिश की कि विश्वविद्यालय शिक्षा-संस्था बनाये जाँय; उनकी स्थानीय सीमाओं की और अधिक स्पष्ट व्याख्या की जाय ; उनके सीनेटों, विभागों तथा सिन्डीकेटों का पुनर्संगठन किया जाय ; सम्बद्धता के और कड़े नियम बनाये जाँय; प्रत्येक कालेज में उचित रूप में संगठित प्रबन्धकारिणी समिति हो ; छात्रों के निवास तथा अनुशासन पर अधिक ध्यान दिया जाय तथा पाठ्यक्रम और परीक्षा प्रणाली में इस आयोग के सुझावों के अनुसार परिवर्तन किये जाँय। इन सब सिफारिशों में कर्जन के मत की प्रतिछाया दृष्टि गोचर होती है। कर्जन का यह विश्वास था कि विश्वविद्यालय-शिक्षा की योग्यता का स्तर काफी गिर गया है और उसमें उग्रसुधार की आवश्यकता है। भारतीयों ने कर्जन के मत को पसन्द नहीं किया और विश्वविद्यालय शिक्षा की सुविधाएं कम करने के प्रयत्नों का विरोध किया गया। सन् १९०४ का विश्वविद्यालय कानून स्वीकृत हो गया जिसमें उक्त सिफारिशें सम्मिलित थीं। किन्तु, इस शिक्षा की माँग बहुत अधिक

थी और विभिन्न कालेजों में छात्रों की संख्या में तीव्रगति से वृद्धि हो रही थी। सन् १९०२ में कालेजों में छात्रों की संख्या २०००० थी परंतु सन् १९२२ में यह संख्या बढ़ कर ५०००० हो गयी। राष्ट्रीय भावना से उत्पन्न नई राजनीतिक जागृति तथा जापान द्वारा रूस की पराजय के फलस्वरूप विश्वविद्यालय-शिक्षा की प्रगति हुयी। सन् १९१३ के प्रस्ताव में शिक्षा देने वाले विश्वविद्यालय स्थापित किए जाने की भी सिफारिश की गयी थी और तभी से इस प्रकार के विश्वविद्यालय बड़ी संख्या में स्थापित हो गये थे। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय (१९१६), अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय (१९१७), उसमानिया विश्वविद्यालय, मैसूर विश्वविद्यालय, लखनऊ विश्वविद्यालय, ढाका विश्वविद्यालय रंगून विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, तथा नागपुर आन्ध्र, पटना, अन्नमलय, त्रिवांकुर, उत्कल, राजपूताना, सागर, गौहाटी, पूना, रुड़की, काश्मीर और बड़ौदा के विश्वविद्यालय इसी बीच स्थापित हुए। आगरा विश्वविद्यालय सन् १९२७ में परीक्षा-विश्वविद्यालय के रूप में स्थापित हुआ और इसने इलाहाबाद विश्वविद्यालय का अधिकांश कार्य अपने हाथ में ले लिया। पहला कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग सन् १९१७ में सैडलर की अध्यक्षता में नियुक्त हुआ और दूसरा विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग राधाकृष्णन की अध्यक्षता में सन् १९४८ में नियुक्त किया गया।

विश्वविद्यालय-शिक्षा में जो महान त्रुटियाँ आ गयी थीं उनकी ओर इन दोनों आयोगों ने संकेत किया। उस समय विश्वविद्यालय-शिक्षा में कोई योजना नहीं थी; उसके लक्ष्य स्पष्ट नहीं थे; विद्यार्थी बिना अपनी योग्यता के विषय में सोचे हुए कालेजों में भर्ती होते थे; उन में परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने मात्र की ही भावना अधिक थी; विज्ञान एवं अनुसंधान की उपेक्षा होती थी; अध्यापकों को पर्याप्त वेतन नहीं दिया जाता था और इसी लिए उनमें येन-केन प्रकारेण धनोपार्जन करने की प्रवृत्ति थी; निर्वाचन व्यक्तिगत विषय होगये थे; अनुशासन और अध्यापन दोनों का स्तर गिर गया था; और छुट्टियाँ अधिक होती थीं। इसलिए सैडलर आयोग ने यह सिफारिश की कि इन्टरमीजिएट क्लास विश्वविद्यालय से पृथक कर दिये जायें; नवीं, दसवीं और इन्टरमीजिएट कक्षाओं को मिला कर इन्टरमीजिएट कालेज बनाए जाँय; इनके संचालन के लिए "बोर्ड आफ इन्टरमीजिएट एंड हाई स्कूल" बनाया जाय और स्नातक (डिग्री) शिक्षा की अवधि तीन वर्ष की कर दी जाय। कलकत्ता विश्वविद्यालय का केन्द्रीय सरकार से विशेष सम्बन्ध न रहे। मुफस्सिल कालेजों का पुनर्संगठन

किया जाय। कलकत्ता विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य को सुदृढ़ बनाया जाय। स्त्री-शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा, पेशों के प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान दिया जाय और परीक्षा के तरीकों में उग्रसुधार (क्रान्तिकारी सुधार) की आवश्यकता है। शिक्षा का माध्यम विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी तथा हाई स्कूलों में मातृभाषा हो। लेकिन इन समस्त सिफारिशों के बावजूद भी हमारे कालेजों की शिक्षा में बहुत अधिक सुधार नहीं हुआ। फिर भी विज्ञान तथा अनुसन्धान पर इतना अधिक जोर दिया जाने लगा कि भारत में बीसवीं शताब्दी को विज्ञान का युग कहा जा सकता है। राधाकृष्णन आयोग ने हमारे विश्वविद्यालयों में सुधार के लिए बहुत सी सिफारिशें कीं और हमारे सांस्कृतिक उद्दश्यों की पुनर्व्याख्या की। इस आयोग के अनुसार विश्वविद्यालय-शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य थे:-

सभ्यता तथा संस्कृति का ऐसा संघटन जिससे वे राष्ट्र के आभ्यन्तरिक जीवन के देवालय बन जांय ; बौद्धिक साहस ; साधुता का जीवन ; बुद्धि एवं ज्ञान ; सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक समता का सुविचार ; व्यक्तित्व के सभी अंगों-आध्यात्मिक, मानसिक, हृदय ग्राही तथा शारीरिक–विकास; प्रकृति का ज्ञान; कला विद्या एवं विज्ञान; मस्तिष्क की एकता और मस्तिष्क एवं ज्ञानकी पारस्परिक वृद्धि; समाज की समुचित व्यवस्था, सभी वर्गों के लिए न्याय की प्राप्ति ; सामाजिक अध्ययन एवं अन्वेषण की आवश्यकता ; नेतृत्व के लिए शिक्षा ; उदार शिक्षा; विचार-स्वातंत्र्य; सांस्कृतिक उन्नति तथा समन्वय ; प्रांतीयता या जातीयता से दूर रहने की भावना तथा विश्वव्यापी दृष्टिकोण। कैन्ट ने इस विषय में संक्षेप में लिखा है कि, "आदर्श अवस्था की कल्पनाएं मधुर स्वप्न होती है, परंतु उस तक पहुँचने का अथक प्रयत्न करना नागरिक तथा राजनीतिज्ञ दोनों का कर्तव्य है।" "विश्वविद्यालयों को इन आदर्शों पर दृढ़ रहना चाहिए ; जब तक मनुष्य ज्ञान की खोज में संलग्न है और सच्चे पथ पर चलता है तब तक ये आदर्श उससे कभी भी दूर नहीं हो सकते।"[१०]

इन्हीं लक्ष्यों को दृष्टि में रखते हुए राधाकृष्णन आयोग ने अन्य बातों के साथ-साथ निम्नलिखित सिफारिशें की थीं:-

१–अध्यापकों को और अच्छे वेतन स्तर दिये जाने चाहिए और उनका निर्वाचन उचित ढंग से किया जाना चाहिए। इन उद्देश्यों के लिए सरकार को और अधिक आर्थिक सहायता तथा ध्यान देना चाहिए।

२–इन्टरमीजिएट कक्षा उत्तीर्ण कर लेने तथा १२ वर्ष का अध्ययन पूरा करने के पश्चात् लोगों को विश्वविद्यालय में भर्ती किया जाना चाहिए।

३–व्यावसायिक शिक्षा-संस्थाएं बड़ी संख्या में कायम की जाँय।

४–हाई स्कूलों तथा इन्टरमीजिएट कालेजों के अध्यापकों को पुनः शिक्षा देने की व्यवस्था विश्वविद्यालयों के द्वारा संगठित की जाय।

५–विश्वविद्यालय तथा कालेज में छात्रों की अधिकतम संख्या क्रमशः ३००० और १५०० रखी जाय।

६–वर्ष में कम से कम १८० दिन शिक्षा-कार्य हो।

७–व्याख्यानों को ध्यानपूर्वक आयोजित किया जाय और वाद-विवाद, शिक्षा-सभा, पुस्तकालय, लिखित पाठ आदि के द्वारा शिक्षा दी जाय।

८–किसी भी विषय तथा पाठ्यक्रम की निर्धारित पाठ्य-पुस्तकें न रखी जाँय।

९–प्रयोगशालाओं का सुधार किया जाय।

१०–कलाओं तथा विज्ञान की सामान्य शिक्षा को भी प्रोत्साहन दिया जाय ताकि जहाँ तक हो सके विद्यार्थियों को हर क्षेत्र के कार्यों तथा उनके तरीकों की अच्छी जानकारी प्राप्त हो सके।

११–जितने अधिक विषयों में संभव हो उनके अनुसन्धान का शिक्षण विश्वविद्यालयों में प्रचलित (विकसित) किया जाय।

१२–जो लोग पी०एच०डी० की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं तथा और अधिक अध्ययन करना चाहते हैं उनके लिए "रिसर्च फेलोशिप" की बड़ी संख्या रखी जाय।

१३–विश्वविद्यालय के अध्यापक समाज में समय पर काम करने की मनोवृत्ति, योग्यता तथा कर्तव्यपरायणता की भावना पैदा करें।

१४–प्रमुख राष्ट्रीय विषय के रूप में कृषि शिक्षा को मान्यता दी जाय।

१५–वाणिज्य के छात्रों को उनके अध्ययन-काल में ही व्यावहारिक कार्य का अवसर दिया जाय।

१६–अध्यापकों के शिक्षण-कालेज नए ढंग से कायम किये जाँय।

१७–वर्तमान इंजीनियरिंग तथा कला-कौशल-यंत्रादि की शिक्षा संस्थाओं को राष्ट्रीय पूँजी माना जाय और इन दोनों तथा अन्य नई संस्थाओं को सरकार द्वारा उनकी और अधिक उन्नति करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाय।

१८–हमारे कानून के कालेजों का पुनर्संगठन किया जाय।

१९–मेडिकल कालेजों में अधिक से अधिक १०० छात्र भर्ती किये जाँय तथा उनको अनुसन्धान संबंधी अधिकाधिक सुविधाएं दी जाँय।

२०–सब शिक्षा-संस्थाओं में पढ़ाई शुरु करने के पूर्व कुछ देर तक मौन (Silence) रखा जाय तथा धार्मिक नेताओं, धार्मिक लेखों तथा दर्शन की केन्द्रीय समस्याओं का एक प्रगतिशील पाठ्यकम रखा जाय।

२१–सरकारी (प्रशासकीय) नौकरियों के लिए विश्वविद्यालय की उपाधि आवश्यक न रखी जाय; पाठशाला के अध्ययन-क्रम को विशेषता दी जाय और पाक्षिक परिक्षाओं में उत्तीर्ण होना अनिवार्य रखा जाय।

२२–छात्रवृत्ति, चिकित्सा-सुविधा, राष्ट्रीय कैडेट सेना, समाजसेवा-व्यवस्था, राजनीति मुक्त यूनियनों को प्रोत्साहन, खेल-कूद, आदि मनोरंजन के विभिन्न साधनों के द्वारा छात्र-कल्याण की सक्रिय रूप में उन्नति की जाय।

२३–स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाय।

२४–विश्वविद्यालय-शिक्षा सरकार की संयुक्त सूची में रखी जाय; विश्वविद्यालयों के निर्माण तथा नियन्त्रण के लिए और अच्छे विधान (कानून) बनाये जाँय।

२५–ग्रामीण क्षेत्रों में ग्राम्य-विश्वविद्यालय जैसी आवश्यक संस्थाएं स्थापित करके गाँवों में उच्च शिक्षा के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया जाय।

अन्त में उक्त आयोग ने अधिकाधिक आर्थिक सहायता देने की सिफारिश की क्योंकि तभी हम अत्यावश्यक ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे, कारण "बिना ज्ञान के स्वतन्त्रता (मुक्ति) नहीं होती।"

अब हम आधुनिक भारत के शैक्षिक विकास के पूरे इतिहास का अध्ययन कर चुके हैं। उक्त तथ्यों से यही निष्कर्ष निकलता है कि शिक्षितों की संख्या की दृष्टि से हमारी काफी प्रगति हुयी परंतु उनकी योग्यता की दृष्टि से हमारी बहुत प्रगति नहीं हुयी। हाल में ही यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन ने दुःख प्रकट करते हुए यह मत प्रकट किया है कि हमारे देश में शिक्षा का स्तर गिरता जारहा है। यह समस्या बहुत ही गंभीर है क्योंकि राष्ट्र-निर्माण के समस्त कार्य मनुष्य की समुचित शिक्षा पर निर्भर करते हैं। मनुष्य ही केन्द्रीय समस्या है। इसके लिए, पहले तो, शिक्षा संबंधी विचारों को विस्तृत एवं व्यापक बनाना

चाहिए। वैज्ञानिक, उपयोग तथा आर्थिक मूल्यों के साथ-साथ शिक्षा का सांस्कृतिक मूल्य भी होना चाहिए। साथ ही, हम में इस बात की भी अनुभूति होनी चाहिए कि मनुष्य आभ्यांतरिक रूप में ईश्वर की आत्मा तथा उसकी जागृत शक्ति है और उसी वास्तविक मानव का उभारना ही शिक्षा का सही उद्देश्य है। मनुष्य ने स्वस्थ शरीर तथा जीवन-शक्ति विकसित कर लिया है। उसने अपने मस्तिष्क को स्पष्ट कर लिया है और अपने मनोरंजनादि के लिए क्षेत्र की सृष्टि कर ली है। उसने धार्मिक व्यस्थाएं बना ली हैं और सामाजिक तथा आर्थिक कल्याण को आगे बढ़ाया है किंतु इनमें से किसी ने भी मनुष्य को माया (भ्रम) जाल, क्लांति तथा नाश के चक्र से मुक्त नहीं किया। आज कल सामाजिक या आर्थिक प्रगति पर जो अधिक जोर दिया जा रहा है वह यूरोप की प्राचीन बौद्धिक संस्कृतियों तथा एशिया की दुःखद स्थिति का ही दूसरा स्वरूप है। लेकिन ये सब भी मानव को जन्म, उन्नति, ह्रास तथा मृत्यु के चंगुल से नहीं बचा सके और इस से तब तक नहीं बचा जा सकता जब तक कि न केवल व्यक्ति अपितु पूरा मानव समाज आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचान नहीं लेता। अस्तु मनुष्य की शिक्षा का लक्ष्य आध्यात्मिक अवश्य होना चाहिए। इसी के द्वारा वह अपने अन्तरात्मा में स्थित ईश्वर के सच्चे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। किंतु ऐसा आध्यात्मिक लक्ष्य यथा संभव पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करेगा। यह मनुष्य को भूल करने तक की स्वतंत्रता देगा भूलों के द्वारा ही अनुभव होता है। इसी लक्ष्य से विज्ञान एवं दर्शन, कानून तथा औषधि विज्ञान, कला एवं नैतिकता को व्यापक क्षेत्र मिलेगा क्योंकि "अनन्त" तक पहुँचने के लिए उन्हें भी "अनन्त" होना पड़ेगा। शिक्षा का आध्यात्मिक लक्ष्य "मनुष्य की अन्तरात्मा में स्थित देवत्व, ज्योति, शक्ति, सौन्दर्य, अच्छाई, आनन्द, अमरत्व को उसके समक्ष प्रकट कर देगा और उसके वाह्य जीवन में भी "ईश्वर के उस साम्राज्य" का निर्माण कर देगा जो हम लोगों में सर्वप्रथम प्रकट है।"[११]

साहित्यक एवं वैज्ञानिक विकास

आधुनिक भारतीय साहित्य का विकास तथा उसकी समृद्धि हाल की ही अद्‌भुत घटना है, यद्यपि इसकी नींव दीर्घ काल पूर्व डाली गयी थी। ऐसे कई सामान्य लक्षण थे जिनसे आधुनिक भारत के साहित्यिक पुनरुत्थान को प्रेरणा मिली थी। साहित्य पर अंग्रेजी का प्रभाव, प्राचीन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, गद्य की आवश्यकता, उपन्यास तथा सामाजिक नाटक का प्रचार, साहित्य के स्वरूपों तथा तरीकों में प्रयोग की भावना, राष्ट्रीय भावना तथा देशभक्ति,

सांसारिक दृष्टिकोण, ईसाई धर्म प्रचारकों के उदाहरण जिन्होंने भारतीय भाषाओं में अपनी पुस्तकें छपाकर प्रचार का रास्ता साफ कर दिया था, अंग्रेजी साहित्य को अपनाने तथा उसे हिन्दी में अनूदित कराने के प्रगतिशील आन्दोलन तथा बंगाल की प्रेरणा आदि के कारण हमारा आधुनिक साहित्य विकसित एवं समृद्ध हुआ। "गद्य" का विकास तथा विषयों को सांसारिक रूप देना इस साहित्यिक विकास के मौलिक तत्व हैं।

बंगला साहित्य

सर्वप्रथम बंगाल प्रान्त ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया। राजा राममोहन राय, अक्षयकुमार दत्त, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर तथा राजनारायण बोस प्रथम महान् लेखक हुए। इन लोगों ने एक ऐसे साहित्यिक क्षेत्र की रचना की जिसकी तुलना विचार पूर्ण विद्युतशक्ति युक्त समाज से की गयी है। श्री अरविन्द ने लिखा है कि "इस साहित्यिक विकास का पहला धक्का ही बहुत भारी था और इसने मौलिक व्यक्तित्वों को जन्म दिया। राजा राममोहन राय एक नया धर्म लेकर सामने आये। इस धर्म का मौलिक विकास राजनारायण बोस तथा देवेन्द्रनाथ टैगोर ने किया जिन्हें उनसे भी महान् माना जाता है अक्षयकुमार दत्त तथा मधुसूदनदत्त ने नया गद्य और नया काव्य प्रारंभ किया विद्यासागर ने नवीन बंगला भाषा तथा नये बंगाली समाज की रचना करने में भारी परिश्रम किया। वे विद्वान्, ऋषि, तथा बौद्धिक अधिनायक थे। राजेन्द्र लाल मित्र भी अद्वितीय विद्वान् थे। इन लोगों के साथ ही एक ऐसा वर्ग पैदा हो गया जिसने संगीत, कला, साहित्य, मौलिक संस्कृति आदि के पूर्ण विद्वानों को उत्पन्न किया।"

सन् १८०० ई० में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुयी थी और तभी से बंगला भाषा का आधुनिक काल प्रारंभ होता है। इससे पहले भी श्रीरामपुर के ईसाई मिशनरियों के इस संबंध में प्रयत्न जारी थे। उन्होंने सन् १७७८ में ही बंगला भाषा में मुद्रण-कार्य शुरु कर दिया था। साहित्य का विकास तब प्रारंभ हुआ जबकि वह पश्चिमी शिक्षा प्राप्त लोगों के विचार-प्रकाशन का साधन हो गया। मुद्रण यंत्र का प्रचलन हो जाने तथा बंगला पत्रकारिता की नींव पड़ जाने के कारण बंगला साहित्य के विकास में और भी सुविधा हो गयी। इस काल के प्रसिद्ध पत्रों में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का "संवाद प्रभाकर" तथा बंकिमचन्द्र

चटर्जी का "तत्वबोधिनी" उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार ज्ञान के भंडार तथा संस्कृति की वाहिनी के रूप में बंगला साहित्य संस्कृत का स्थान लेने लगा। साथ ही यह धार्मिक नहीं बल्कि साहित्यिक एवं कलात्मक दृष्टिकोण से ही अधिक संबंधित रहा और इसके उद्देश्य सांसारिक तथा अ-धार्मिक रहे। अंग्रेजी के प्रभाव ने इसमें आधुनिकता, बौद्धिकता तथा स्वतंत्रता की चेतना प्रदान की। बंगाली लेखक समस्त विश्व का नागरिक है और उसका साहित्यिक प्रभाव समस्त भारतीय भाषाओं पर फैल गया है। बंगला काव्य का भी विकास हुआ। उसके पिंगल के अपने नियम बन गये तथा उसका अपना मौलिक स्वरूप और सौन्दर्य विकसित हो गया। अतुकान्त कविता तथा चौपाइयों का प्रचलन हो गया। उपन्यास और नाटक के क्षेत्र में बंगाल ने नेतृत्व किया। बंगला भाषा के प्रारंभिक लेखकों में माइकेल मधुसूदन दत्त (१८३१) और बंकिमचन्द्र चटर्जी (१८६४-९४) नामक दो व्यक्ति सब से अधिक महत्वपूर्ण हैं।

मधुसूदन दत्त का जीवन बहुरूपी रहा। उन्होंने एक अंग्रेज स्त्री से शादी की थी और कुछ समय तक वकालत की थी। मद्रास में एक अंग्रेजी समाचार पत्र का उन्होंने सम्पादन भी किया था। वे प्रारंभ में अंग्रेजी के लेखक थे। परंतु, शीघ्र ही उन्हें यह महसूस हुआ कि उनकी महानता केवल मातृभाषा में ही प्रकट हो सकती है और मातृभाषा के माध्यम से भी वे अपनी महानता की चरम सीमा पर पहुँच गये। अपने देश की जनता के प्रति गंभीर अनुभूति के साथ ही उनमें मानवता के प्रति भी गंभीर अनुभूति थी। उन्होंने देवताओं तथा भाग्य के ऊपर मनुष्य की प्रतिष्ठा को उन्नत किया। शब्दों के ऊपर उनका इतना अधिकार था जिससे वे कलाकारों के अग्रिम पंक्ति में आ गये। वे महान् कवि तथा महान् नाटककार थे। उन्होंने बंगला साहित्य में अतुकान्त कविता की तथा ख्याल रचना की तथा सर्वश्रेष्ठ वीरगाथा (बंगला में) "मेघनाथवध" की भी रचना की। महान् बंकिमचन्द्र चटर्जी बंगाली पुनरुत्थान की आधार शिला थे। उन्होंने अपने उपन्यास में "सर वाल्टर स्काट के कल्पनावाद तथा पुनरुत्थानोन्मुख बंगाल की भावुकता का सम्मिश्रण किया" "आनन्दमठ", "विषवृक्ष" "कृष्णकान्त की वसीयत" आदि उनके उपन्यासों का अन्य भारतीय भाषाओं में शीघ्र ही अनुवाद हो गया और वे देश भर में पढ़े जाने लगे। इनसे अन्य भारतीय भाषाओं के लेखकों को नवीन गति मिली। उनका "आनन्दमठ" भारतीय क्रान्तिकारियों का धर्मग्रन्थ हो गया और उसके "वन्देमातरम" "गीत" ने उन को राष्ट्रीय नायक बना दिया। वही गीत अब भारत का राष्ट्र-गीत मान लिया गया है। उनकी साहित्यिक प्रतिभा

तर्क-वितर्क से परे, अद्वितीय तथा दोष रहित थी। उन्होंने अपनी रचनाओं में मानव हृदय का गहन ज्ञान तथा मानव-चरित्र-चित्रण की अद्भुत शक्ति प्रस्तुत किया है उनके उपन्यास सामाजिक, काल्पनिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक आदि सभी विषयों से संबंधित हैं। मानव-संघर्ष तथा विभाजित हृदय के विषय में उनकी कल्पना-शक्ति शेक्सपियर के ढंग की है। अन्य लेखकों में रमेशचन्द्रदत्त (राजनीतिज्ञ उपन्यासकार), बिहारीलाल चक्रवर्ती (राजकवि), सत्येन्द्रनाथदत्त (कवि), देवेन्द्रनाथ (कवि), रमेन्द्र सुन्दर त्रिवेदी (दार्शनिक-निबन्धकार), हरप्रसाद शास्त्री (इतिहासकार), दीनबन्धु मित्र (नाटककार), तथा द्विजेन्द्रलालराय (नाटककार) के नाम उल्लेखनीय हैं। द्विजेन्द्रलालराय अन्तर्प्रान्तीय ख्याति के नाट्यकार थे। "दुर्गादास" जैसे उनके राष्ट्रीय नाटक सभी प्रान्तों में अभिनीत किये गये। हाल में बंगाल ने अन्य लोगों के अलावा विश्वविख्यात रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय नामक नर-रत्नों को जन्म दिया है।

टैगोर की दृष्टि विश्वव्यापी थी। उनमें भारतीय संस्कृति के आत्मा की स्पष्ट परख थी। वे राष्ट्रीय अहंकार से घृणा करते थे तथा सौन्दर्य के सभी अंगों की सराहना करते थे। इन्हीं कारणों से वे आधुनिक भारत के लोगों में सबसे महान् व्यक्ति हो गये। रवीन्द्रनाथ का जन्म (१८६१-१९४१) उस प्रतिभा-सम्पन्न परिवार में हुआ था जिसने आधुनिक भारत के आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान में अद्भुत कार्य किया है। उनके पिता देवेन्द्रनाथ टैगोर "महर्षि" कहे जाते हैं। उनके पुत्र रवीन्द्रनाथ भी उनके सच्चे प्रतीक थे। साहित्य के भेदों तथा तत्वों में उनकी मौलिकता अद्वितीय है। गद्य, काव्य, नाटक, संगीत, चित्र-कला, निबन्ध, नृत्यकला, युवक पाठकों के लिए वैज्ञानिक पाठ्य-पुस्तकों आदि संस्कृति के सभी अंगों में टैगोर का योगदान है। उनके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि "वे बंगाल तथा भारत के बीसवीं शताब्दी के महान् पुनरुत्थान के उसी प्रकार साकार प्रतीक थे जिस प्रकार गटे यूरोप के पुनरुत्थान के प्रतीक थे।" गीतों के लेखक के रूप में विश्वसाहित्य में कोई भी उनकी समानता नहीं कर सकता। भक्ति संबंधी उनके कुछ गीतों का संग्रह किया गया है। इस संग्रह का नाम "गीताञ्जलि" है जो विश्व विख्यात है और इसी ने सन् १९१३ ई० में उन्हें साहित्य का नोबुल पुरस्कार दिलाया। इन कविताओं में यह सिद्धान्त स्पष्ट रूप में प्रकट है कि प्रकृति ईश्वर का प्रकट रूप है; धूप और वर्षा में अर्थात् हर जगह उस ईश्वर से मिलने का आनन्द प्राप्त किया जा सकता है;

परिश्रम, करना आदरपूर्ण है सबसे गरीब या नीच लोगों में, जिनमें ईश्वर रहता है, जाकर सेवा करने से मोक्ष मिल सकता है। टैगोर के अनुसार मृत्यु ईश्वर का सन्देश-वाहक तथा मनुष्य का मित्र है। उनकी कविता भारत के आत्मा को प्रकट करती है। "साहित्यिक क्षेत्र में रवीन्द्र के प्रकट होने के बाद आधुनिक भारत पुनः गर्व तथा साहस से सभ्य संसार में उठ खड़ा हुआ। उन्होंने हमारे समस्त द्वारों को उन्मुक्त कर दिया। हमारा काम केवल उनके किये हुए कार्यों का संग्रह करना मात्र रह गया है।"[१२] टैगोर महान् कवि होने के साथ-साथ महान् विचारक भी थे। आधुनिक विश्व-संकट का उन्होंने जो विश्लेषण किया है वह मननीय एवं विचारणीय है। उनके मतानुसार वर्तमान सभ्यता "मस्तिष्क का युग" है। लेकिन इस मस्तिष्क का विकास संकीर्ण घेरे तथा बोझ में हुआ है। "बात यह है कि हर नयी शक्ति का विकास तभी तक होता है जब तक कि वह समता का उल्लंघन नहीं करती और समता का उल्लंघन करने के पश्चात् वह नाश का सीधा रास्ता तैयार कर देती है। क्योंकि तब वे रास्ते जो किसी समय उसके सहायक (वैज्ञानिक आविष्कार) थे उसी शक्ति के घातक शत्रु हो जाते हैं और उनका उसी के विरुद्ध प्रयोग किया जाता है। लोभ तथा इच्छा दोनों का दास बन कर मनुष्य अपनी मृत्यु का मार्ग स्वयं तैयार कर लेता है। अतः हमें यह जान लेना चाहिए कि मस्तिष्क ही सब कुछ नहीं है, उसकी भी कुछ सीमाएं होती हैं। "इसी लिए वेदों के प्राचीन ज्ञान ने यह घोषित कर दिया था कि मस्तिष्क "परम सत्य" तथा "परम ज्ञान" तक कभी नहीं पहुँच सकता। इसके लिए मनुष्य को आत्मा (अध्यात्म) से मार्ग दर्शन प्राप्त करना होगा। "मस्तिष्क निर्धारित सीमा तक ही अनुसंधान कर सकता है, किसी वस्तु का निर्माण कर सकता है और लोगों का हित कर सकता है। परंतु जब यह अपने को सब कुछ (सर्वेसर्वा), एकमात्र विधायक समझने लगता है तब यह मानवता को नाश की ओर ले जाता है। अस्तु, एक न एक दिन समस्त विश्व को इस बात का ज्ञान हो जायगा कि उसका मोक्ष केवल आध्यात्मिकता में ही है।

शरत्चन्द्र बंगाल के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार माने जाते हैं। उनके उपन्यासों में पीड़ितों तथा दुःखितों, पददलितों तथा तिरष्कृतों के प्रति अपार सहानुभूति प्रकट होती है। उनमें अद्भुत वर्णन-शक्ति थी। उनके उपन्यास आत्म चरित्र संबंधी तथा बंगाल के सामाजिक जीवन के वास्तविक चित्र हैं। "श्रीकान्त", "चरित्रहीन, "पथेर दावी," "गृहदाह" तथा "बड़ी-दीदी" उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इन उपन्यासों में यह प्रकट है कि लेखक के हृदय में दुर्भाग्य ग्रस्त तथा स्त्री

जाति के प्रति गंभीर सहानुभूति है। उन्होंने मानव सम्मान को ऊंचा उठाया। उनके उपन्यास यथार्थता पूर्ण तथा नीतियुक्त हैं। उनके चरित्र-चित्रण उपदेशपूर्ण हैं। उनकी शैली अत्यन्त स्वाभाविक है। पाठक जब तक इनके उपन्यासों को आदि से अन्त तक पढ़ नहीं लेते तब तक उन्हें नहीं छोड़ते। उनके जीवन के अन्तिम दिनों में उनकी शक्तियाँ क्षीण होने लगी थीं और वे परम्पराओं के रक्षक हो गये थे। कहीं कहीं, उनमें निर्माणात्मक कल्पना-शक्ति का अभाव दिखाई देता है। शरत् के उपन्यास उच्च कोटि के ग्रन्थ हो गये हैं और उनका अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। वर्तमान लेखकों को उनके उपन्यासों से बड़ी प्रेरणा मिली है।

बंगला साहित्य को समृद्ध बनाने में कई मुसलमान लेखकों ने भी बहुत योग दिया। इनमें काजी नजरुल इस्लाम सर्वश्रेष्ठ हैं। साहित्य-क्षेत्र में इनका उदय सन् १९१९-२० में हुआ। वैसे वे महान् कवि थे जिन्हें विशेषतः जनता के मस्तिष्क का स्पर्श करने में सफलता मिली। ढाका के आस-पास मुसलमान लेखकों का ऐसा क्षेत्र बन गया था जिसका लक्ष्य बौद्धिक स्वातन्त्र्य था। बंगला साहित्य के दूसरे महान् मुस्लिम कवि नसीमुद्दीन थे जो ग्राम-कवि थे।

बंगाल में आज भी साहित्य की समृद्धि हो रही है और इसमें उल्लेखनीय योग हो रहे हैं। गोकुल नाग, प्रेमेन्द्र मित्र, जीवानन्द दास, बुद्धदेव बोस, अचिन्त्य सेन गुप्त आदि लेखकों का दल उग्र आधुनिकतावादी या फ्रायडवादी है। प्रगतिशील लेखक हैं और जनता का यथार्थतापूर्ण चित्र चित्रित करने का दावा करते हैं। विष्णु दे एक अन्य कवि हैं जो अभी अपने को महान् बना रहे हैं। अन्य लेखकों में विभूतिभूषण वन्द्योध्याय, ताराशंकर बनर्जी, बलाई चन्द मुखर्जी, माणिक बनर्जी, श्रीनारायण गांगुली तथा गोपाल हल्दर के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी लेखक मुख्यतः उपन्यासकार हैं। कहानीकारों (कहानी लेखकों) में प्रभात कुमार मुकर्जी, देसब तथा अवनीन्द्रनाथ टैगोर के नाम उल्लेखनीय हैं। बच्चों के लिए अवनीन्द्र की लिखी हुयी कहानियाँ विद्वत्तपूर्ण हैं। आनन्दशंकर राय विद्वान् तथा गंभीर गद्य लेखक हैं। उनकी शैली में विचित्र सौन्दर्य तथा गांभीर्य है। उनकी कहानियों में "वनफूल" मौलिक तथा वैचित्र्यपूर्ण एवं अद्वितीय है। परशुराम हास्यरस के सर्वश्रेष्ठ लेखक हैं। पश्चिमी साहित्य के आलोचकों में श्रीकुमार वन्द्योपाध्याय तथा सुबोध सेनगुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं।

हाल में ही बंगला साहित्य में विद्रोह का युग आया है। इस युग में सामाजिक

बुराइयों, निर्धनता, दासता तथा काव्य की पुरानी शैली के विरूद्ध विद्रोह हो रहा है। इस विद्रोह में साहित्यकार उस "पश्चिम" के पदचिन्हों पर चल रहे हैं जहाँ के साहित्य के देवता फ्रायड तथा मार्क्स हो गये हैं। इन सभी प्रवृत्तियों में, अब भी, बंगाल नेतृत्व कर रहा है और अन्य लोग उसका अनुकरण कर रहे हैं। बंगला साहित्य भारत के साहित्यक पुनरुत्थान का प्रतीक है और बंगाल की जागृति ने ही भारत के अन्य भागों में पथप्रदर्शन किया। इसलिए बंगला साहित्य का अध्ययन भारतीयों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। (विशेषतः बंगला काव्य ऐसे साहित्यक समृद्धि का चमत्कार है जिसका कभी अन्त नहीं हो सकता। संक्षेप में, बंगाल में साहित्य का जो विकास हुआ उस में सर्वप्रथम पश्चिम के सम्पर्क का प्रभाव दिखाई देता है इसी के और फलस्वरूप हमारे साहित्य में गद्य तथा साँसारिकतापूर्ण लेख लिखना प्रारंभ हुआ। सर्वप्रथम उपन्यास या नाटक लिखना प्रारंभ हुआ। इसके पश्चात् मधुसूदन तथा टैगोर सरीखे लोगों की काव्य-प्रतिभा विकसित हुई। इस समय साहित्य में सामाजिकता, राष्ट्रीयता तथा यथार्थता की नयी प्रवृत्तियाँ हैं। महात्मा गाँधी के प्रादुर्भाव के साथ ही सामाजिक तथा देश भक्ति पूर्ण विषय सामने आ गये। इसके बाद निराशा तथा पूंजीवाद के विरुद्ध का युग आया। इस युग में तत्वज्ञान संबंधी खोजपूर्ण या साम्यवादी ढंग की रचनाएं (लेखादि) हुयीं। बुद्धदेव बोस, अचिन्त्य सेन-गुप्त, गोपाल हलदार की रचनाएं इसी प्रकार की हैं। इन सभी प्रवृत्तियों तथा विषयों का अन्य भारतीय भाषाओं में नकल किया गया है और इसके फलस्वरूप हाल के युग में भारतीय भाषाओं का एक रूपी विकास हुआ। मुद्रण यन्त्र, सरल सम्पर्क साधन तथा यूरोपीय साहित्य के प्रचार के कारण समानान्तर रूप में भारतीय साहित्य का विकास हुआ और इस में एकरूपता तथा सामंजस्य आ गया। अब हम हिन्दी, मराठी, गुजराती, उर्दू, तामिल तथा तेलगू आदि अन्य मुख्य भारतीय भाषाओं के विकास का संक्षेप में वर्णन करते हैं।

हिन्दी साहित्य

अब हिन्दी वैधानिक रूप में भारत की राष्ट्र भाषा मान ली गयी है और इसको समृद्ध बनाने के लिए भारत के समस्त राज्य तथा नागरिक चिन्तित हैं। हिन्दी साहित्य का इतिहास बताता है कि उसका अतीत सुन्दर और समृद्ध था तथा वर्तमान काल में उसकी प्रगति उसकी महान् परम्पराओं के अनुकूल होगी। बंगला साहित्य की भांति हिन्दी में भी वर्तमान युग में गद्य तथा सांसारिकता पूर्ण लेख लिखने का प्रचलन हुआ। शब्द-विज्ञान तथा वाक्य

रचना के क्षेत्र में एक नया विकास हुआ और गद्य तथा पद्य दोनों में वृजभाषा के स्थान पर "खड़ी बोली" आगयी।

वेलेजली द्वारा सन् १८०० में स्थापित फोर्ट विलियम कालेज का आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास में मुख्य भाग रहा है। ईस्ट इंडिया कम्पनी के कर्मचारियों को इस देश की भाषाओं तथा प्रथाओं की शिक्षा देने के लिए यह कालेज स्थापित किया गया था। इस के प्रिन्सिपल डा० जान गिलक्राइस्ट थे। उनके उत्साहपूर्ण निर्देशन के अधीन इस कालेज ने हिन्दुस्तानी के व्यवस्थित अध्ययन को बड़ी गति प्रदान की। गिलक्राइस्ट ने एक अंग्रेजी-हिन्दुस्तानी शब्दकोष, एक हिन्दुस्तानी व्याकरण तथा अन्य कई पुस्तकें प्रकाशित कीं। विभिन्न लेखकों द्वारा भिन्न-भिन्न भाषाओं में लिखित पुस्तकों को प्रकाशित कराना इस कालेज का मुख्य कार्य रहा। परंतु, इससे यह सोच लेना भूल होगी कि इस कालेज ने "खड़ी बोली" या हिन्दी के प्रचलित रूप की नींव डाली थी। कालेज ने बृजभाषा के भी अध्ययन को प्रोत्साहित किया। परन्तु गिलक्राइस्ट की रुचि मुख्यतः हिन्दुस्तानी के उर्दू स्वरूप में थी। इस कालेज में हिन्दू पंडित भी नियुक्त किये गये जिनमें लल्लू लाल मिश्र प्रमुख थे। हिन्दी के अन्य अध्यापकों में सदल मिश्र, शेष शास्त्री तथा सीता राम थे। सिंहासन बत्तीसी, बैताल पचीसी, शकुन्तला नाटक, माधोनल तथा प्रेमसागर लल्लूलाल की प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। ये पुस्तकें ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं क्यों कि इनमें आधुनिक काल में हिन्दी गद्य का विकास दिखाई देता है। इस विकास में सदल मिश्र की "चन्द्रावती" का भी महत्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी के प्रारंभिक विकास में जिन लोगों का प्रमुख भाग रहा उनमें सदा सुख लाल (१७४६-१८२४), इंशा (१८१७ में मृत्य) तथा राजा शिवप्रसाद (१८२३-१८९५), के नाम प्रसिद्ध हैं। स्कूलों तथा कालेजों की स्थापना करने के अतिरिक्त यूरोपीय मिशनरियों ने बाइबिल का हिन्दी में अनुवाद कराने तथा मुद्रणयंत्रों का प्रचलन कराने में भी बड़ी सहायता पहुँचायी। इससे हिन्दी में पाठ्य पुस्तकें तैयार कराने में भी बड़ी सहायता मिली। सरल हिन्दी के विकास में जिन अन्य लेखकों ने सहायता की उनमें मुंशी देवी प्रसाद (१८४७-१९२३) तथा देवकीनन्दन खत्री (१८६१-१९१३) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। देवकीनन्दन खत्री की "चन्द्रकान्ता सन्तति" बीसवीं शताब्दी की प्रथम तीन दशाब्दियों में बड़ी जनप्रिय पुस्तक रही। राजा लक्ष्मण सिंह (१८२६-१८९६) भी शुद्ध हिन्दी के लेखक थे। किन्तु आधुनिक हिन्दी की वास्तविक नींव भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

(१८५०-१८८५) द्वारा डाली गयी और इन्हें आधुनिक हिन्दी साहित्य का पिता कहना चाहिए। इन्होंने हिन्दी की बहुमुखी सेवाएं की हैं। इन्होंने हिन्दी भाषा को इतना शुद्ध रूप दे दिया कि उसमें जगत व्यापी आकर्षण हो गया। इन्होंने ऐसी पुस्तकों की रचना की जो हिन्दी लेखकों के लिए आदर्श हो गयीं। इन्होंने बृजभाषा को आधुनिक रूप दिया और उसकी नई शैलियाँ प्रचलित कीं और वे इस भाषा को जनता के निकट ले आये। आधुनिक युग में भारत की जो दयनीय दशा है उसका इन्होंने यथार्थ चित्रण किया है। ये वास्तव में बहुमुखी प्रतिभायुक्त व्यक्ति थे। इन्होंने कविता, नाटक, निबन्ध तथा कहानियाँ लिखी हैं। भारतेन्दु के समकालीन लेखकों में प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी तथा ठाकुर जगमोहनसिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। बीसवीं शताब्दी में हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाने में जिन लोगों ने योगदान किया है उनमें बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१९१४) गदाधर सिंह (१८४८-१८९८), बालमुकुन्द गुप्त (१८६५-१९०७), किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९३२), श्रीधर पाठक, देवी प्रसाद पूर्ण, जगन्नाथ प्रसाद रत्नाकर, सत्यनारायण कविरत्न तथा अयोध्यासिंह उपाध्याय सरीखे लोग प्रसिद्ध हैं। आर्यसमाज तथा उसके प्रवर्तक स्वामी दयानन्द का भी हिन्दी के प्रचार में प्रमुख भाग रहा। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दी अपने पैरों पर खड़ी हो सकी। इसकी मध्य कालीन वासनाप्रियता इससे दूर हो गयी। इसने आधुनिक रूप धारण कर लिया, इसमें सरलता आगयी और इसमें सरल गद्य का प्रचलन हो गया। इसमें "खड़ी बोली" आ गयी और साहित्यिक समालोचना की कला का विकास हो गया। अब हम बीसवीं शताब्दी के हिन्दी के विकास का संक्षिप्त वर्णन करते हैं।

इस शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से "खड़ी बोली" का विकास हुआ। यह विकास युगान्तरकारी हुआ। श्री द्विवेदी नागरी प्रचारिणी सभा (१८९३ में स्थापित) के मुख्य पत्र "सरस्वती" के सम्पादक थे। उनके स्पष्ट निबन्धों तथा आलोचनाओं के अन्तर्गत हिन्दी गद्य तथा पद्य का आधुनिक रूप में विकास होने लगा। लगभग ५० वर्षों तक हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में उनका प्रभुत्व रहा और उन्होंने उदीयमान लेखकों को अपना विकास करने के लिए प्रोत्साहन दिया। खड़ी बोली के प्रथम महान् कवि अयोध्यासिंह उपाध्याय थे। उनके "प्रियप्रवास" में श्रीकृष्ण की मथुरा–यात्रा की भावपूर्ण तथा मनोवैज्ञानिक

कहानी का वर्णन है। उन्होंने प्रकृति से परे के तथ्यों को अपनी रचनाओं में स्थान नहीं दिया है। उन्होंने अपने नायक श्रीकृष्ण, जो महान् व्यक्ति के रूप में अपनी जनता की सेवा में निरत थे, के जीवन का चित्रण किया है। हिन्दी के राजकवि मैथलीशरण गुप्त ने देशभक्ति पूर्ण विषयों पर अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। उनकी "भारतभारती" में भारत के अतीत की महानता का जो चित्रण किया गया है उसका हिन्दी के पाठकों पर गहरा प्रभाव पड़ा। बाद में उन्होंने "चन्द्रहास," "शकुन्तला," "जयद्रथ-वध," "साकेत," "पंचवटी," "यशोधरा," "क़रबला" आदि अन्यान्य पुस्तकें हिन्दी जगत को भेंट कीं। उनकी पुस्तकों में भाषा की शुद्धता की उनकी रुचि प्रकट है। उनकी रचनाओं में बंगला काव्य के आदर्श तथा वेदान्त के प्रति उनका प्रेम भी प्रकट है। उन्होंने प्राचीन तथा नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियों में समन्वय करने का भी प्रयत्न किया था।

हाल में, हिन्दी काव्य का विकास "वेदान्दी" तथा "प्रगतिशील" दो रूपों में हुआ है। वेदान्दी रूप धार्मिक लेखों तथा कबीर, जायसी, मीरा एवं रवीन्द्रनाथ सरीखे भारतीय तथा शैली, कीट्स एवं वर्ड्सवर्थ सरीखे आँग्ल कवियों की प्रेरणा का परिणाम था। इन कवियों के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि श्री जयशंकर प्रसाद थे। इनका सबसे महत्वपूर्ण एवं प्रमुख ग्रंथ "कामायिनी" है जिसमें भारतीय दर्शन के अनुसार मानव-जीवन का पूर्ण अध्ययन चित्रित है। इस महाकाव्य में भाग्य के विरुद्ध मानवता के संघर्षों तथा ईश्वर को पाने में साँसारिक बन्धनों से उसके मोक्ष का स्पष्ट चित्रण है। प्रसाद ने वेदान्तवाद के उस चरण को प्रारम्भ किया जिसे "छायावाद" कहा जाता है और यह आधुनिक कल्पनावाद का ही एक दूसरा स्वरूप है। "छायावाद" वैसी ही अद्भुत घटना है जैसी हर साहित्य में उस समय में होती है जबकि सामंतवाद के चंगुल से मुक्त होकर मध्यमवर्ग पूँजीवाद द्वारा उत्पन्न की गई परिस्थितियों के विरुद्ध सामाजिक विद्रोह का नेतृत्व करता है। उक्त कवियों की यह मांग है कि संस्कृति का पुनः मूल्यांकन किया जाय। उनके काव्य में केवल एक ही प्रेरणा नहीं है। उनका काव्य आदर्शवाद, वेदान्तवाद तथा कल्पनावाद का मिश्रण है। उनकी रचनाओं में "गीतों" का प्रभुत्व है तथा टैगोर और शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। निराला, पन्त तथा महादेवी वर्मा अन्य प्रसिद्ध कवि हैं। सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी हैं किन्तु उनकी रचनाएँ अधिकांशतः

अद्वैतवाद पर आश्रित हैं। वे मुक्त छन्द (गीत) के पण्डित हैं। "तुलसीदास" नामक उनका महाकाव्य दार्शनिक रचना है। "गीतिका" में भी वे ईश्वर की दैवी लीला के गीत गाते हैं परन्तु इसमें उन्होंने श्रीराम की शक्ति-पूजा का भी वर्णन किया है। इसलिए उनका वर्गीकरण करना कठिन है। तीसरे कवि सुमित्रानन्दन पन्त हैं। इनकी कविताएँ सबसे अधिक प्रेरणादायक हैं। वे सर्वश्रेष्ठ गीतकार हैं और उनकी कविताओं में नये मानव-वाद की गहरी अनुभूति है। संगीत प्रेमी होने के कारण उनकी कविताओं में सुरताल की प्रचुरता है। उनका प्रकृति-वर्णन, आधुनिक समाज के दुःखों का वर्णन तथा उनके वेदान्ती अनुभव अपने ढंग के निराले हैं। इधर हाल में ही उनका झुकाव श्री अरविन्द की ओर हो गया है और वे साम्यवादी ढंग के प्रगतिवाद से दूर हो गये हैं। अब उनकी कविताओं में अध्यात्मवाद की नयी झनकार आ गयी है। महादेवी वर्मा की कविताओं में तो इतनी गहरी अनुभूति है और वे इतनी मनोभावपूर्ण हैं कि वे आधुनिक भारत की "मीरा" हो गयीं। "यामा" और "दीपशिखा" नामक उनके काव्य वेदान्ती भावनाओं के सर्वश्रेष्ठ उद्‌गार हैं। बंगाल के अकाल की दुःखप्रद घटना से वे अत्यधिक प्रभावित हुयी थीं और उन्होंने "बंगदर्शन" का सम्पादन किया था जिसकी बिक्री से होने वाली समस्त आय बंगाल की सहायता में लगी थी। महादेवी वर्मा वास्तव में आधुनिक हिन्दी काव्य-जगत की "बुलबुल" हैं।

हिन्दी काव्य-साहित्य की आधुनिकतम प्रवृत्तियों तथा कवियों का वर्गीकरण करना कठिन है। संकट और निराशा पूर्ण वर्तमान युग के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के प्रयोग हुये हैं। मुक्त छन्द या अतुकान्त काव्य का प्रचलन हो गया है। पुनरुत्थानवाद, प्रगतिवाद, नववेदान्तवाद, प्रतीकवाद, प्रयोगवाद, हालावाद आदि कई प्रकार के वाद प्रचलित हो गये हैं। हालावाद और उमरख़य्याम की कविता में अत्यधिक सामंजस्य है। इस वर्ग के लेखकों में या कवियों में भगवतीचरण वर्मा, रामविलास शर्मा, शमशेरजंग, बच्चन, नरेन्द्र, सुमन, बालकृष्ण शर्मा "नवीन," नगार्जुन, रामधारीसिंह दिनकर, वात्स्यायन, सुभद्राकुमारी चौहान, वियोगी हरि तथा सोहनलाल द्विवेदी आदि हैं।

हिन्दी में नाट्यकला के भी प्रसिद्ध व्याख्याता हुए हैं और नाटक का भी पर्याप्त विकास हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा डी० एल० राय के बंगला

नाटकों के अनुवादों ने इस क्षेत्र में नेतृत्व किया। माधव शुक्ल, बद्रीनाथ भट्ट, गोविन्दवल्लभ पन्त, माखनलाल चतुर्वेदी तथा बल्देवप्रसाद मिश्र सरीखे अन्य नाट्यकारों ने प्रणयवाद के हिन्दी नाटक को शुद्ध और आधुनिक रूप दिया। परंतु नाटक के क्षेत्र में सबसे अच्छी रचनाएँ जयशंकर प्रसाद ने प्रस्तुत की हैं। उन्होंने कई उच्च कोटि के ऐतिहासिक नाटक हिन्दी-जगत को भेंट किये हैं। उन्होंने चन्द्रगुप्त मौर्य से हर्षवर्द्धन के काल तक के हमारे प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास पर नाटक लिखे हैं और इनमें उन्होंने उस युग की सामाजिक, राजनीतिक तथा दार्शनिक स्थिति का यथार्थतापूर्ण तथा स्पष्ट चित्रण किया है। वे नाट्यकला के पण्डित भी थे और उन्होंने मानवी संघर्षों को सच्चे रूप में चित्रित किया है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी तथा सेठ गोविन्ददास उनके अनुयायी हैं। पूरे नाटकों के अतिरिक्त हाल के लेखकों ने एकांकी नाटक की कला को अपनाया है। इस प्रकार के लेखकों में उपेन्द्रनाथ अश्क, गणेश प्रसाद द्विवेदी, भोग्नेश्वर तथा रामकुमार वर्मा प्रसिद्ध हैं। पन्त की "ज्योत्स्ना" (कथा-नाटक) हिन्दी जगत में एक अद्भुत रचना है। चलचित्र के आ जाने से रंगमंच का गौरव समाप्त हो गया है किन्तु इधर भारतीय रंगमंच (नाटक) में यथार्थवाद प्रचलित करने के प्रयत्न किये गये हैं और आजकल पृथ्वीराज का हिन्दी के छोटे-छोटे नाटकों को अभिनीत करने के प्रयास जारी हैं। इनकी नाट्य-कला बहुत सरल और सादे ढंग की है और इनके नाटकों का जनता पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

कहानी तथा उपन्यास की कला को इस युग में (हाल में) बड़ी पूर्णता मिली। इस क्षेत्र में पश्चिम तथा बंगाल के प्रभाव ने सबसे अधिक काम किया। प्रारम्भिक उपन्यासों में विशेषतः काल्पनिक घटनाओं, सनसनीपूर्ण घटनाओं या वैचित्र्य का चित्रण रहता था और चन्द्रकान्ता या भूतनाथ जैसे उपन्यासों में जादू-टोने की घटनाएँ रहती थीं। मुंशी प्रेमचन्द्र का प्रादुर्भाव उपन्यास लिखने की कला में युगान्तरकारी रहा। वे उर्दू के ख्यातिशक्ति प्राप्त कहानी लेखक थे परन्तु सन् १९१६ से वे हिन्दी के लेखक हो गए। उनकी कहानियाँ हिन्दू सामाजिक जीवन की दर्पण हो गयीं। ग्राम्य जीवन का उनका वर्णन विद्वतापूर्ण है और इसमें यथार्थवाद के साथ-साथ आदर्शवाद का पुट है। उन्हें हिन्दी साहित्य का "गोर्की" कहना उपयुक्त होगा। "रंगभूमि," "कायाकल्प," "सेवासदन," "प्रेम आश्रम," "गबन,"

"निर्मला", तथा "गोदान" उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द्र के पदार्पण ने एक नया मार्ग प्रशस्त कर दिया। इनसे पहले यथार्थवाद या आदर्शवाद का अभाव था। भाषा अपरिमार्जित और प्रभावहीन थी। भावों का चित्रण साधारण था तथा साहित्य में आकर्षण कम था। शैली भी साधारण थी। प्रेमचन्द्र ने इन सबका रूप परिवर्तित कर दिया। उनकी शैली अश्लील हुए बिना यथार्थतापूर्ण हो गयी। उनकी मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि में बड़ी तीक्ष्णता है। उनकी शैली तथा उनके उपन्यासों के सार-तत्व अपने ढंग के निराले हैं। उनका चरित्र-चित्रण इस बात का प्रतीक है कि वे निम्न वर्ग तथा गाँवों के लोगों के जीवन के अध्येता थे। रहन-सहन का जैसा चित्रण उन्होंने किया है वैसा बहुत थोड़े लोग कर पाते हैं। उनके उपन्यास हमारे राष्ट्रीय संघर्ष के भिन्न–भिन्न चरणों के यथार्थ चित्रण हैं और परिवर्तनशील सामाजिक व्यवस्थाओं के स्पष्ट चित्र हैं। मुंशी प्रेमचन्द्र अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के उपन्यासकार तथा लेखक हैं। उनकी कहानियाँ भी पाँडित्यपूर्ण हैं। सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, जैनेन्द्रकुमार तथा विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक ने उनका अनुकरण किया। भगवतीचरण वर्मा तथा प्रतापनारायण श्रीवास्तव आदि भी उन्हीं के अनुयायी हैं। इधर फ्रायड और मार्क्स हिन्दी लेखकों के देवता हो गए हैं। और इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों तथा यशपाल, उपेन्द्रनाथ अश्क और अज्ञेय के प्रगतिवादी उपन्यासों में यही विशेषता है। ऐतिहासिक उपन्यासों के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि वृन्दावनलाल वर्मा हैं। भगवतीप्रसाद बाजपेयी कल्पनावादी विचारधारा के प्रतिनिधि हैं। बेचन शर्मा उग्र अपनी निराली कोटि के लेखक हैं। उनकी रचनाएँ डी० एच० लारेन्स तथा जेम्स जायस का स्मरण कराती हैं।

निबन्ध तथा साहित्यालोचन के क्षेत्र में हिन्दी साहित्य बहुत ऊँचे स्तर पर पहुँच गया है। महाबीरप्रसाद द्विवेदी ने इस क्षेत्र में नेतृत्व किया। इनके बाद पद्मसिंह शर्मा, श्यामसुन्दरदास तथा पण्डित रामचन्द्र शुक्ल सरीखे प्रसिद्ध लेखक इस क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा धीरेन्द्र वर्मा सरीखे लोगों ने भी साहित्यालोचन को सुविकसित किया। विभिन्न विश्वविद्यालयों के हिन्दी प्राध्यापकों तथा प्रसिद्ध हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं ने भी इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण काम किया है। आज कल हिन्दी साहित्य तथा हिन्दी साहित्यकारों का आलोचनात्मक अध्ययन होता है। जैनेन्द्रकुमार,

डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० रघुवीर सिंह, सद्गुरुशरण अवस्थी, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, नागेन्द्र, नन्ददुलारे बाजपेयी, श्री सुधांशु, अंचल तथा नागार्जुन आदि आधुनिक लेखकों ने भी इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योग दिया है और दे रहे हैं।

उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त अन्य कई ऐसे हिन्दी के लेखक हैं जिन्होंने दर्शन, विज्ञान आदि विभिन्न विषयों पर अनेक पुस्तकें लिखीं हैं। बल्देव उपाध्याय, रामदास गौड़ तथा सम्पूर्णानन्द, धर्म तथा दर्शन संबंधी विषयों के प्रसिद्ध लेखक हैं। डा० सत्यप्रकाश, डा० गोरखप्रसाद, महावीर प्रसाद श्रीवास्तव तथा श्रीचरण आदि लेखकों ने वैज्ञानिक विषयों पर पुस्तकें लिखी हैं। हिन्दी में अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास, नागरिकशास्त्र आदि सामाजिक विज्ञानों पर सम्पूर्णानन्द, दयाशंकर दुबे, भगवानदास केला, गुलाबराय, राजाराम शास्त्री, राहुल सांकृत्यायन, जयचन्द विद्यालंकार, डा० बेनीप्रसाद, डा० भगवानदास, डा० लक्ष्मीचन्द जैन आदि विद्वानों ने अनेक पुस्तकें लिखी हैं। हाल में ही डा० रघुवीरशरण तथा सुखसम्पत्तिराय भंडारी ने संस्कृत के आधार पर हिन्दी में वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्द तैयार करने का प्रयास प्रारम्भ किया है जो अब भी जारी है। पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी, श्यामसुन्दर दास तथा अयोध्यासिंह उपाध्याय सरीखे प्रसिद्ध जीवन-चरित्र—लेखक भी हैं। श्यामसुन्दर दास तथा अयोध्यासिंह उपाध्याय के आत्म-चरित्र प्रसिद्ध हैं। मिश्रबन्धु तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन (इलाहाबाद) ने भी हिन्दी का प्रचार करने तथा उसे समृद्ध बनाने में महत्वपूर्ण योग दिया है। मिश्रबन्धु का हिन्दी साहित्य का इतिहास विख्यात है। पुरुषोत्तमदास टन्डन तथा महात्मा गांधी ने भी हिन्दी को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण सहायता दी है।

इसलिए, जहाँ तक हिन्दी साहित्य के अतीत तथा वर्तमान का प्रश्न है, वह भारत के किसी भी साहित्य से कम नहीं है। आज उसे पुनः नया रूप देने तथा वैज्ञानिक एवं सामाजिक विषयों पर अधिकतर ध्यान देने की आवश्यकता है। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के बीच समन्वय स्थापित करना भी सामयिक आवश्यकता है। हिन्दी में सरल गद्य का प्रचलित किया जाना भी आवश्यक है। हिन्दी व्याकरण को और सरल किया जाना चाहिए। हिन्दी के शब्दकोष को इतना अधिक समृद्ध बनाने की आवश्यकता है जिससे कि वह वास्तव में भारत की राष्ट्र भाषा बन सके।

मराठी साहित्य

मराठी साहित्य की बड़ी लम्बी परम्परा है। इसके काव्य का विकास सातवीं शताब्दी में ही हो गया था। कहा जाता है कि महाकवि भाष्कर ने १३ वीं शताब्दी में "श्रीकृष्ण चरित्र" गद्य में लिखा और यहीं से गद्य का विकास प्रारम्भ हुआ। अंग्रेजी के आगमन तथा पश्चिमी शिक्षा के प्रचलन से मराठी साहित्य का आधुनिक काल शुरू हुआ। सन् १८५७ के विद्रोह के पूर्व एलिफन्सटन की उदार नीति के कारण मराठी भाषा का प्रारम्भिक विकास हुआ। एलिफन्सटन अंग्रेजी भाषा के साथ-साथ देशी भाषाओं को प्रोत्साहन देना चाहते थे। इस प्रारंभिक काल में बंबई तथा पूना में कई प्रसिद्ध लेखक हुए। श्री जानभेकर ने बंबई में "साहित्य मंडल" की स्थापना की और इसके तत्वावधान में अनेक मासिक पत्रिकाएँ प्रकाशित की गईं। काशीनाथ, सदाशिव, रावसाहब मांडलीक तथा दादोबा पान्डरंग आदि अन्य प्रसिद्ध लेखक थे। पूना में कई अन्य साहित्यकारों द्वारा नवीन साहित्य लिखा गया। इन साहित्यकारों में श्री कृष्ण शास्त्री चिपलुंकर तथा लोहितवाड़ी प्रसिद्ध हैं। इन दोनों साहित्यकारों का मराठी में वही स्थान है जैसा कि हिन्दी में भारतेन्दु तथा शिवप्रसाद का है। मराठी शब्दकोष तथा व्याकरण भी लिखे गये।

मराठी में दूसरा काल सन् १८७६ ई० से सन् १९४३ तक का है। इस काल में मराठी साहित्य का बड़ा रचनात्मक विकास हुआ। इस बीच, प्राचीन तथा पुनरुत्थान, और आधुनिक तथा समन्वय की दो विचारधाराएँ मराठी साहित्य में चलीं। काव्य साहित्य में विष्णु शास्त्री चिपलुंकर पहली विचारधारा के प्रतिनिधि थे और वे आधुनिक साहित्य के पिता हैं। "निबन्ध माला" नामक मासिक पत्रिका में उन्होंने "परशुराम तात्या," "कृष्ण शास्त्री राजवाड़े" तथा "महादेव शास्त्री कोल्हातकर" आदि लेख लिखे। केशव सुत तथा उनके बाद रामचन्द्र प्रधान और विष्णु मोरेश्वर ने (अन्य लेखकों के अतिरिक्त) आधुनिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व किया। सन् १८८१ में "केशरी" तथा लोकमान्य तिलक द्वारा "मराठा" की स्थापना से चिपलुंकार की विचारधारा को नयी शक्ति मिली। अगरकर ने "केशरी" की नींव डाली। परन्तु इस क्षेत्र में जस्टिस रानाडे ने सबसे महत्वपूर्ण भाग लिया। वे बुद्धिवादी तो थे किन्तु प्राचीन संस्कृति के विध्वंसक आलोचक नहीं थे।

बाद में तिलक रूढ़िवादी विचारधारा की ओर झुक गये और एन० सी० केलकर, एस० एम० परांजपे, के० पी० खाडिलकर तथा कर्वे ने उनका अनुकरण किया। सामाजिक प्रश्नों पर अगरकर के मत तिलक से भिन्न थे। अगरकर ने सन् १८८७ में "सुधारक" नामक नया पत्र प्रकाशित किया। अस्तु, बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अगरकर तथा तिलक की दो विचार-धाराएँ मराठी साहित्य में चल रही थीं। अब हम आधुनिक काल में मराठी काव्य तथा गद्य के विकास का अध्ययन करते हैं।

तिलक तथा विनायक सावरकर काव्य की प्राचीन विचारधारा के प्रतिनिधि थे। तिलक का प्रकृति-वर्णन उच्च कोटि का था तथा विनायक देश-भक्ति पूर्ण कविताओं के विद्वान् रचयिता थे। "महाराष्ट्र लक्ष्मी" तथा "हृतभागिनी" नामक उनके काव्यों में उनकी देशभक्ति प्रकट है। अन्य महान् लेखक चन्द्रशेखर थे। ये संभवतः सर्वश्रेष्ठ मराठी कवि हैं। ये जगन्नाथ और जयदेव की प्राचीन शैली में कविता करते थे। इनकी रचनाओं की मधुरता आज भी अद्वितीय है। अन्य महाकवियों में "बी" और ताम्बे प्रसिद्ध थे। पारखी, चिन्तामणि, मजुमदार तथा माधवानुज इस विचारधारा के अन्य कवि थे।

केशव सुत इन कवियों में आधुनिकतावादी थे। इनकी मृत्यु सन् १९०५ में हुई थी। किन्तु मृत्यु तक सर्वोपरि रहे तथा आधुनिक मराठी काव्य के पिता माने जाते थे। रामगणेश गदकरी या गोविन्दाग्रज, रेन्दालकर, नागेश, केशवकुमार, आनन्द, अरविन्द तथा सोनलकर उनके अनुयायी थे। इन कवियों का मुख्य केन्द्र गीत काव्य था। भास्कर रामचन्द्र ताम्बे अपने ढंग के निराले कवि हैं। इनका काव्य संगीत, शब्दचित्र तथा कल्पनावाद का समन्वय है। इनका अनवरत विषय प्रेम ही रहा। नारायण मुरलीधर गुप्त (बी) ने उपदेश युक्त तथा दार्शनिक कविताएँ लिखीं। माधव ने ऐतिहासिक विषयों से संबंधित कविताओं की रचना की। इनकी कविता सुरीली होने के बजाय प्रेरणादायक अधिक है। प्रथम महायुद्ध के बाद नये-नये कवि उदय हो गये जिनमें केशव महादेव, तिवारी त्र्यम्बक बापू जी, थोनबारे, आनन्दराव टेकाणे, माधव त्र्यम्बक पटवर्धन (माधव जुलियन) यशवन्त तथा गिरीश प्रसिद्ध हैं। माधवजुलियन, यशवन्त और गिरीश ने "रविकिरण मन्डल" नामक संस्था स्थापित की थी। माधव जुलियन कलापूर्ण प्रेम के विषयों के

विशेषज्ञ कवि थे। यशवन्त गीत–कवि थे। प्रेरणा तथा कल्पना उनकी कविता के सुदृढ़ केन्द्र थे। गिरीश समाज–सुधारक तथा भावुक थे। अन्य महाकवियों में साने गुरू जी, यशवन्त, आर० जी० जोशी, अत्रे, काणेकर तथा कुसुमाग्रज उल्लेखनीय हैं। आधुनिक मराठी काव्य मुख्यतः प्रेमरस, प्रकृति तथा स्त्री–सौन्दर्य वर्णन से परिपूर्ण है। कुछ ही लोगों ने सामाजिक, राष्ट्रीय तथा देशभक्ति संबंधी विषयों पर कविताएँ लिखी हैं।

मराठी साहित्य में नाटक की भी उल्लेखनीय प्रगति हुई। प्रारम्भ में संस्कृत के प्राचीन नाटकों का अनुवाद किया गया और वे रंगमंच पर अभिनीत किये गये। उदाहरणार्थ, परशुराम तात्या ने शकुन्तला तथा कृष्ण शास्त्री राजवाड़े ने मुद्राराक्षस का अनुवाद किया। बाद में "ओथेलो" तथा "किंगलीयर" नामक अंग्रेजी नाटक अनूदित किये गये। नाटक में विशेषतः त्रिलोकेकर द्वारा अनूदित "नल–दमयन्ती" में संगीत का प्रमुख स्थान रहा। श्री बी० पी० किर्लोस्कर आधुनिक मराठी नाट्य साहित्य के पिता थे। "विक्रमचरित्र", "शकुन्तला", "सौभद्रा", तथा "रामराज्य वियोग" उनके विख्यात नाटक हैं। दूसरे प्रसिद्ध नाट्यकार देवल थे। इन्होंने सात नाटक लिखे हैं। इनका अनुकरण कोल्हातकर ने किया और इन्होंने १२ नाटक लिखे। इनके पश्चात् खाडिलकर आये और वे आधुनिक मराठी नाट्य साहित्य के प्रणेताओं में सर्वोपरि हैं। हिन्दी नाट्य साहित्य में इनकी तुलना प्रसाद से की जा सकती है। उन्होंने संगीतपूर्ण नाटक तथा गद्य–नाटक लिखे और अंग्रेजी नाटकों को मराठी रंगमंच पर अभिनीत किया। "माधवराव की मृत्यु" "कीचक–वध", "प्रेमध्वज" तथा "मानापमान" उनके प्रसिद्ध नाटक हैं। इनके बाद नाट्य साहित्य के क्षेत्र में श्री रामगणेश गोडकरी आये और उनके पश्चात् वारेरकर आये जिन्होंने कई प्रचार–नाटक लिखे हैं। अन्य सर्वश्रेष्ठ लेखकों में एन० सी० केलकर, खरे, वामनराव जोशी तथा अत्रे हैं। इधर हाल में सामाजिक विषयों पर भी नाटक लिखे गये हैं। अब तक मराठी में १२०० से अधिक नाटक लिखे जा चुके हैं।

गद्य की पुस्तकों में उपन्यासों तथा कहानियों का इस समय गौरवपूर्ण स्थान है। पहली कहानियाँ संस्कृत तथा अंग्रेजी साहित्य से अनूदित की हुई हैं। आधुनिक कथा–साहित्य के पिता एच० बी० आप्टे थे। उनके अनुयायी "सहकारी कृष्ण" हुए। इसी समय "मनोरंजन" नामक नाटक मासिक

पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। जिसमें उदीयमान लेखकों की कहानियाँ प्रकाशित होती थी। इन पर यूरोपीय, बंगाली तथा हिन्दी कहानी लेखकों का प्रभाव पड़ा। प्रसिद्ध कहानी लेखकों में गुर्जर, गोखले, एन० एच० आप्टे, देश पान्डे तथा सरस्वती कुमार के नाम उल्लेखनीय हैं। कोल्हात्कर की कहानियों में यथार्थवाद और बुद्धिवाद का प्रभुत्व था और वे रूसी लेखकों से मिलते-जुलते थे। के० के० जोशी ने कथा साहित्य में सामाजिक विषय प्रचलित किये। गिरजाबाई केलकर, काशीबाई तथा आनन्दीबाई महिला लेखक थीं। बी० एम० जोशी, परांजपे तथा केलकर ने भी कथा-साहित्य में योग दिया। हाल में ही प्रगतिशील कथा-साहित्य का भी रचना हुई और फड़के, खांडेकर, कर्नल लिमाये, दिवाकर कृष्ण, कृष्णाबाई, बोकिल तथा वाई० जी० जोशी कथा-साहित्य के प्रसिद्ध प्रणेता हुए।

मराठी उपन्यासकारों में सर्वप्रथम नाम हरिनारायण आप्टे का है। इन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी की अन्तिम दो शताब्दियों में उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया था। इनके पहले भी विष्णु शास्त्री चिपलुं-कर, विष्णु जनार्दन तथा नागेश विनायक बापट सरीखे लोगों ने कल्पनापूर्ण तथा ऐतिहासिक उपन्यास लिखे थे। एच० एन० आप्टे मराठी साहित्य के वाल्टर स्काट थे। इनका प्रथम उपन्यास "आजकल छया गोष्टी" तत्कालीन परिस्थितियों का वास्तविकतापूर्ण चित्र था। बाद में, उन्होंने "भावनन्द" जैसे राजनीतिक उपन्यास लिखे परन्तु उनके ऐतिहासिक उपन्यास उनकी अद्भुत विद्वता के प्रतीक हैं। 'उषाकाल', 'सूर्योदय', 'सूर्यग्रहण', 'गढ़ आला पार्नसिंह गेला', 'रूपनगर चीकन्या' तथा 'मध्यान्ह' उनके प्रसिद्ध तथा सबसे अधिक महत्वपूर्ण उपन्यास हैं। इनके बाद "गुर्जर" का स्थान है जिन्होंने बंगाल उपन्यासों का मराठी में अनुवाद किया। मागव ने राष्ट्रीय तथा सामाजिक उपन्यासों को प्रचलित किया। फड़के, बी० एस० गदकरी, डामले, बी० जी० आप्टे, सहकरी कृष्ण तथा एन० एच० आप्टे अन्य प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। परन्तु इन लोगों ने सामान्यतः आप्टे की परम्परा का अनुकरण किया।

जनता साधारण विषयों से ऊब गयी थी और वह कोई नयी चीज चाहती थी। प्रोफेसर वामन मल्हार जोशी ने इस नयी रुचि को अपने प्रथम उपन्यास "रागिनी" से सन्तुष्ट किया। इनके उपन्यासों में न केवल मनोवैज्ञानिक

अन्तर्वृष्टि ही दिखाई देती है अपितु उनमें तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याओं का भी चित्रण है। हाल के उपन्यासकारों में फड़के, केतकर, खान्डेकर, मढखोलकर, पी०वाई०देशपान्डे, साने गुरूजी, वारेरकर, कुलकर्णी, तथा जानकी-बाई सबसे अधिक विख्यात हैं आधुनिकतम प्रवृत्ति समाजवाद तथा आत्मविश्लेषण की ओर है। इधर इतिहास, जीवन चरित्र, साहित्यालोचना आदि भी लिखे गये। महान् इतिहासकारों में डी० बी० परसनीस, चिमना जी, वासुदेव शास्त्री' खरे, वी० के राजवाड़े, राजाराम शास्त्री, भागवत, तिलक, रानाडे, सरदेसाई, सी०आर० वैद्य तथा डा० केतकर के नाम प्रसिद्ध हैं। "इतिहास संशोधक मंडल" तथा "भंडारकर अनुसन्धानशाला" (पूना) जैसी ऐतिहासिक संस्थाएं भी हैं। जीवन चरित्र लेखकों में एन०सी० केलकर, विनायक, के० ओक, खरे और पंगारकर प्रसिद्ध हैं। हाल में ही प्रोफेसर रानाडे की "हिटलर की जीवनी", प्रोफेसर कर्वे का "रानाड़े चरित्र," एन० डी० सावरकर का "तन्तुजाटोपे", आदि जीवन चरित्र लिखे गये हैं। साहित्यालोचना के क्षेत्र में केतकर द्वारा सम्पादित "मराठा ज्ञानकोष" प्रकाशित हुआ। केलकर, प्रोफेसर डी० के० केलकर, प्रोफेसर आर० एस० जोग, काले, हार्शे तथा डा० एम० जी० देशमुख विख्यात साहित्यालोचक हैं। दर्शन संबंधी विषयों के लेखकों में बी० जी०तिलक सरीखे मौलिक विचारक हैं। दर्शन, विज्ञान, अर्थशास्त्र तथा राजनीति शास्त्र जैसे सामाजिक विज्ञानों पर बहुत थोड़ी पुस्तकें लिखी गयीं अथवा वे संस्कृत या यूरोपीय पुस्तकों के अनुवाद हैं। मराठी साहित्य ने हास्यरस की रचनाओं में भारी प्रगति की। हास्य रस के प्रसिद्ध लेखकों में कोल्हातकर, अत्रे, गदकरी, प्रोफेसर चिन्तामणि विनायक जोशी आदि उल्लेखनीय हैं। मराठी में तरुण साहित्य का भी बड़ा विकास हुआ।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि मराठी साहित्य में सर्वतोमुखी विकास हुआ। इस पर पश्चिम तथा बंगाल की साहित्यक प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ा तथा अन्य भारतीय साहित्यों की भांति इसमें भी इधर रुग्णावस्था, यथार्थ वाद तथा निराशावाद की प्रवृत्ति आ गयी है।

गुजराती साहित्य

पश्चिम और पश्चिमीय साहित्य संस्कृति से निकट सम्पर्क तथा उसके प्रभाव के फलस्वरूप गुजराती साहित्य भी विकसित हुआ। १८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर आठवें दशक तक आधुनिक गुजराती साहित्य की

नींव पड़ी। टेलर व स्काट आदि अंग्रेज मिशनरियों ने रणछोड़ भाई गिरधर भाई की सहायता लेकर बाइबिल का अनुवाद किया तथा पाठ्य पुस्तकें लिखीं। पर आधुनिक गुजराती साहित्य की वास्तविक नींव नर्मदा शंकर, नवलराम तथा नंद शंकर ने रखी। नर्मदा शंकर तो वास्तव में भारतेंदु की तरह आधुनिक गुजराती के निर्माता थे। वे बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे और भारतीय तथा पश्चिमीय साहित्यों के गम्भीर अध्येता थे। उन्होंने बम्बई में बुद्धिवर्धक सभा की स्थापना की। उन्होंने रूढ़िवाद तथा रीतिबद्धता के विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व किया। गद्य पद्य दोनों ही में नए नए विषयों, नई शिल्प विधियों का उन्होंने समावेश किया। उनकी रचनाएँ "हिन्दुओं-की-पदाति", "वैधव्य-चरित", "रामजानकी दर्शन" आदि युग निर्माता सिद्ध हुईं जिन्होंने प्राचीन धार्मिक व श्रृंगार परक रचनाओं को स्थानान्तरित कर सुधारवादी व राष्ट्रीय विषयों को काव्य में स्थान दिया। इस दृष्टि से उनके समसामयिक दलपतराम से उनका अन्तर प्रकट होता है जो प्राचीन शैली व शिल्प का ही अनुगमन करते रहे।

नवलराम एक श्रेष्ठ साहित्यालोचक थे और उन्होंने गुजराती साहित्य की उसी प्रकार से सेवाएँ कीं जिस प्रकार महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी की। वे संतुलित दृष्टि के व्यक्ति थे, उन्होंने गुजराती भाषा को शुद्ध किया तथा उसे साहित्य का उपयुक्त माध्यम बना दिया। अपने आलोचनात्मक विषयों में उन्होंने वाह्य एवं आन्तरिक दोनों प्रकार की समीक्षा का सहारा लिया। साहित्यालोचक के इतिहास में उनकी पुस्तक "नवल ग्रंथावली" का महत्वपूर्ण स्थान है। नंदशंकर आधुनिक गुजराती उपन्यास के जन्मदाता थे। उनकी तुलना हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासकारों राधाचरण गोस्वामी व श्रीनिवासदास से की जा सकती है। उन्होंने प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'केरमघेलो' लिखा जिसने वैसी ही हलचल मचादी जैसी 'चन्द्रकांता' ने हिन्दी में।

इन महान् लेखकों की चेष्टाओं के फलस्वरूप आधुनिक गुजराती साहित्य की सुदृढ़ नींव पड़ी। इस प्रारम्भिक विकास में सहायक अन्य लेखकों में नामांकन योग्य उपन्यासकार महीपतराम, नाटककार रणछोड़ भाई, दार्शनिक मनसुखराम व प्राच्यविद्याविशारद हरगोविन्द दास हैं। इस आरम्भ-काल में बंगाली व हिन्दी की तरह गुजराती में भी स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) का भी उत्थान हुआ।

द्वितीय साहित्य युग (१८८५ से १९१४) में गोवर्द्धनराम उपन्यासकार, मनिलाल निबन्धकार व दार्शनिक, नरसिंहराव कवि एवं भाषावैज्ञानिक, केशवलाल ध्रुव संस्कृत साहित्य ग्रंथों के अनुवादक, रमणभाई हास्यरसिक व श्रेष्ठ साहित्यालोचक, डा० आनन्द शंकर ध्रुव (भूतपूर्व प्रो० वाइसचांसलर बनारस विश्वविद्यालय) जो कि एक महान् दार्शनिक तथा साहित्य समीक्षक थे और जिनके संतुलित विचारों ने गुजराती साहित्य को अतिवादों से पृथक किया। इस काल के सर्वश्रेष्ट ग्रंथों में 'सरस्वतीचन्द्र' का नाम लिया जा सकता है जो कि गोवर्द्धन राम का प्रथम उत्तम उपन्यास था। यह चार भागों में प्रकाशित हुआ। यह समसामयिक सामाजिक दृश्य को केन्द्र बनाकर पूर्व और पश्चिम के उस मिलन को प्रत्यक्ष करता है जो उस समय आधुनिक भारतीय समाज में घटित हो रहा था। यह वास्तव में भारतीय जीवन की बृहत् कथा थी।

पारसियों ने भी गुजराती साहित्य के संवर्द्धन में योग दिया है। उनमें से खबरदार महाकवि हैं। वे सरल स्निग्ध रचयिता हैं। छंदों पर उनका प्रभुत्व है और अतुकान्त छन्द सर्वप्रथम गुजराती मे उन्होंने प्रसिद्ध किया। अन्य गण्यमान कवियों में कविशंकर भट्ट, सुरसिंह जी (कलापी) तथा बलवंतराय ठाकुर हैं।

पर इस युग की सर्वश्रेष्ठ प्रतिभा नानालाल हैं। उन्होंने नवीन शब्द-शिल्प तथा विविधता का निर्माण किया। उन्होंने लोकगीत परम्परा की आत्मा को पुनर्स्थापित किया। मधुर गीतों का निर्माण किया। उपन्यास निबन्ध तथा भाष्य रचना की। गुजरातियों के हृदय में उन्होंने अपने लिए एक स्थायी स्थान का निर्माण किया।

आधुनिक गुजराती साहित्य में सर्वाधिक प्रमुख व्यक्तित्व श्री कन्हैयालाल मुंशी का है जो के० एम० मुंशी के नाम से भारत भर में विख्यात हैं। उन्होंने साहित्य में क्रमागत प्राचीन रूढ़ियों व परम्पराओं को तोड़ दिया। उनका जोश व सजीवता तो बेजोड़ हैं। वे अपने समय के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास-कार हैं। उन्होंने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों पाटन का-प्रभुत्व, राजाधि-राज तथा पृथ्वीवल्लभ, जयसोमनाथ आदि में प्राचीन महागुजरात की सम्पूर्ण वैभवश्री को अंकित किया है। उनके दूसरे प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों में कौटिल्य, भगवान परशुराम, लोमहर्षणी आदि हैं। उनकी रचनाओं में

उपन्यास, नाटक, कहानियाँ, आलोचना, निबंध भाषण, जीवनी साहित्य तथा आत्मकथा आदि के लगभग ४५ ग्रंथ हैं। गुजराती साहित्य के अनेक आंदोलनों के ऊधम में वे रहे हैं तथा अनेक साहित्य--संस्थाओं के पीछे उनकी शक्ति कार्य कर रही है। उदाहरणार्थ वे गुजराती साहित्य परिषद के पथ-प्रदर्शक हैं, साहित्य संसद के सभापति है तथा भारतीय विद्या भवन, जो कि देश की सर्वप्रमुख सांस्कृतिक संस्थाओं में है, के संस्थापक-सभापति हैं। कार्लाइल का ओजस्वी गद्य तथा स्काट का रोमांसवाद दोनों उनकी रचनाओं में एक साथ मिलता है। मानव संस्कृति का लक्ष्य मानव व्यक्तित्व का पूर्णतम विकास उनकी रचनाओं में बार--बार बल पाता है। उनके नारी पात्र उदात्त वृत्ति के हैं। अपनी धर्मपत्नी के साथ उन्होंने आधुनिक गुजराती साहित्य में स्वर्ण युग का प्रारंभ किया है।

गुजराती साहित्य के संवर्द्धन में महात्मा गांधी ने भी सुयोग दिया है। अपने स्पष्ट, सरल तथा ओजस्वी गद्य से उन्होंने गुजराती गद्य को एक नई शक्ति दी है। उनकी आत्मकथा पत्रसाहित्य व निबंधों ने एक नवीन साहित्यिक मंडल स्थापित किया जिसमें काका कालेलकर तथा किशोरीलाल मशरूवाला जैसे ख्यातनामा व्यक्ति हैं। वे गंभीर विद्वान्, दार्शनिक तथा मौलिक, स्वतंत्र विचारों तथा दृष्टिकोणों से युक्त लेखक हैं।

आजकल के प्रसिद्ध उपन्यासकारों में रमणलाल देसाई, रामनारायण पाठक, इन्द्रवदन वसावा तथा धूमकेतु का नाम लिया जा सकता है। तथा हाल के विख्यात कवियों में कवेरचन्द मेवाड़ी जिन्होंने लोक साहित्य को उच्च साहित्य में अवतरित किया, सुन्दरम्, उमाशंकर जोशी, चन्द्रवर्द्धन मेहता, श्री धराणी आदि का नाम प्रमुख है। साहित्यालोचकों में गुजरात ने ध्रुव, रमणभाई, मणिलाल नभभाई आदि विद्वान् उत्पन्न किए। ऐतिहासिक गवेषणा के क्षेत्र में भगवनलाल इन्द्राजी, मुंशी, सैन्डिलियर आदि ने कार्यारम्भ किया। रमणलाल, मुंशी, चन्द्रवर्द्धन मेहता व उमाशंकर जोशी ने नाट्य रचना की है। आधुनिक साहित्यिक पुनर्जागरण का प्रत्येक पक्ष गुजराती साहित्य में प्रतिबिम्बित है। रोमांसवाद या स्वच्छदंतावाद जिसका केन्द्र मुंशी रहे हैं अब श्री बटु उमर वाडिया, यशवंत पंड्या, कांता, श्री लीलावती मुंशी आदि में अपना अनुगामी पा रहा है। स्नेहरश्मि, सुंदरम्, शेष प्रहलाद तथा रामप्रसाद में गांधीवाद का प्रभाव स्पष्ट है। प्रगतिगामी

सामाजिक प्रभाव इंदुलाल गांधी, मगनलाल देसाई, कालका रतुभाई देसाई तथा दर्शक में स्पष्ट है।

अन्त में, "नर्मद गुजराती गद्य के निर्माता थे। गोवर्द्धनराम मणिलाल, नरसिंहराव, रमनभाई तथा आनंदशंकर ने इसको पुष्ट किया, बल दिया तथा आकर्षण व गंभीरता प्रदान की। मुंशी ने इसे लोच, समासशक्ति तथा ओज प्रदान किया जिससे यह शैली-शिल्प की पूर्णता को अपना लक्ष्य बना सका। गांधी ने इसे सरल तथा जन–जन को आर्कषित करने वाला बना दिया। काका कालेलकर ने बिना विद्वता का प्रदर्शन करते हुए इसे संस्कृत की कोमलता व मुहावरों का सम्मोहन दिया।"[१३]

उर्दू साहित्य

उर्दू भाषा, मूलतः दिल्ली तथा मेरठ के आस-पास बोली जाने वाली पश्चिमी हिन्दी की एक अंग (भाषा) थी। १३वीं शताब्दी में भारतीय-तुर्कों ने इसे प्रोत्साहन दिया और इस प्रकार इसका तुर्की नाम उर्दू (शिविर) पड़ा। यह शीघ्र ही भारत में पहुंच गयी। और वहाँ सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दियों में विशेषतः गोलकुंडा तथा बीजापुर के मुसलमानों ने इसे पाला-पोसा। शाहजहाँ के बाद इसका उत्तरमें पुनः प्रसारहो गया। पहले इसका प्रसार दिल्ली में और उसके बाद लखनऊ में हुआ और लखनऊ उर्दू का प्रधान साहित्यिक केन्द्र हो गया। अब इसमें मूर्त रूप तथा फारसी भाषा के शब्द विन्यास आ गये। और इस प्रकार यह दरबारी कविता की चमकदार भाषा हो गयी। रामपुर, पटना, लाहौर तथा हैदराबाद इसके अन्य केन्द्र थे। इसके व्याकरण तथा हिन्दी के व्याकरण में सामंजस्य है। इसमें पुर्तगीज, फ्रांसीसी, अंग्रेजी आदि यूरोपीय भाषाओं के शब्द भी लिये गये हैं।

मुग़ल सत्ता के पतन के साथ उर्दू की भी बड़ी हानि हुई, क्योंकि उसे न तो पर्याप्त संरक्षण ही रह गया और न इतनी शान्ति ही थी कि जिससे उर्दू के साहित्यकार उसकी प्रगति कर सकते। सन १७८० में कलकत्ता मदरसा की नींव पड़ने के समय से उर्दू का आधुनिक काल प्रारंभ हुआ। मुस्लिम स्कूलों में भिन्न-भिन्न विज्ञानों के अध्ययन के लिए यह संस्था स्थापित की गई। किंतु उर्दू साहित्य के आधुनिक काल की वास्तविक नींव फोर्ट विलियम कालेज के डा० गिल क्राइस्ट के अधीन डाली गयी जिन्होंने हिन्दुस्तानी के व्यवस्थित अध्ययन को बड़ी शक्ति दी थी। उर्दू गद्य अंशतः इस कालेज के प्रति ऋणी है और इसका

आरंभ इसी कालेज से हुआ। किंतु वर्तमान साहित्यक उद्देश्य के लिए उर्दू गद्य की वास्तविक नींव उस समय डाली गयी जबकि सन् १८३९ में फारसी कानून प्रशासन तथा राजकीय उद्देश्यों की भाषा में बनायी गयी। उर्दू ने कानून में शुद्धता दी और उसे वाक्य-बाहुल्य से मुक्त किया और सभी वर्गों में प्रतिष्ठित किया। उर्दू समाचारपत्रों के विकास ने इसे और आगे बढ़ाया तथा भाषा की सीमा और शब्दकोष का विस्तार किया। सन् १८२२ ई० में फारसी साप्ताहिक "जामेजहान्नुमाँ" का उर्दू साहित्य-विशेषांक प्रकाशित हुआ।

लखनऊ उर्दू का सबसे प्रमुख साहित्यिक केन्द्र हो गया था। इसके नेता सैयद इंशा अल्लाह खां (१७५७-१८१७) थे। उनमें सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि, गंभीर विद्वत्ता तथा तीक्ष्ण बुद्धि और बहुमुखी प्रतिभा थी। संगीत, भाषा, विज्ञान, कला आदि किसी विषय को उन्होंने छोड़ा नहीं था। उर्दू या हिन्दी किसी भी भाषा में जनप्रिय वक्तृत्व ही उनका लक्ष्य था और हास्यरस में उनकी विद्वत्ता तथा शक्ति निहित थी। उन्होंने सर्वप्रथम उर्दू में अंग्रेजी शब्द प्रचलित किये। जिस प्रकार नजीर ने आगरा में उर्दू साहित्य की नई परम्परा चलायी उसी प्रकार लखनऊ में इंशा ने उर्दू साहित्य की नई परम्परा चलायी। उर्दू गद्य में सरल और सीधे शब्द विन्यास प्रचलित करने में उन्हें अत्यधिक सफलता मिली और इस प्रकार उन्होंने लखनऊ को भारत का (उर्दू का) खान बनाया। उन्हीं की भांति आगरा में नजीर ने उर्दू गद्य तथा पद्य में मिलावट और कृत्रिमता के विरुद्ध विद्रोह शुरु कर दिया था। वे धर्म या जाति का भेद किये बिना जनता का प्रतिनिधित्व करते थे और बरसात, आगरा के तैराक, होली, ताज, योगी आदि विपरीत विषयों पर उन्होंने पुस्तकें लिखी हैं। दूसरा महत्व-पूर्ण तथा प्रसिद्ध नाम गालिब का है जिन्होंने सन् १८५७ के विद्रोह में अपना सब कुछ गँवा दिया था। इनका काल सन् १७९७ से १८६९ तक का है इनकी कविता विचारपूर्ण थी पर उनका दर्शन या शैली "विद्रोह" के बाद के वातावरण के उपयुक्त न थी। आगे चलकर "हाली" में ग़ालिब के पक्ष की प्रतिक्रिया पायी जाती है। हाली की गजलें (गीत) साहित्यिक कारीगरी से परिपूर्ण हैं और उनके पत्रों ने उर्दू को एक नवीन शैली दी। उनकी शैली व्यंग्य (हास्य), मनोभाव तथा प्रत्यक्षता से परिपूर्ण है।

परन्तु उर्दू के आधुनिक विकास तथा पश्चिम से उसके सम्पर्क की गति केवल तभी तीव्र हुई जब कि सर सैयद अहमद ने अपने सहधर्मियों

(मुसलमानों) को यह नारा दिया कि "अन्धविश्वास (कट्टरता) और यह ख्याल छोड़ दो कि अंग्रेजी शिक्षा इस्लाम के विरुद्ध है।" उन्होंने सन् १८७५ में एक स्कूल स्थापित किया था जो बाद में अलीगढ़ विश्वविद्यालय हो गया। अब उसके साथ अलीगढ़ उर्दू साहित्य का केन्द्र बन गया। इसी समय मुहम्मद आजाद (जन्म—१८३२ दिल्ली में) के प्रयास के फलस्वरूप लाहौर में सांस्कृतिक पुनरुत्थान हुआ। वे लाहौर स्थिति डाइरेक्टर आफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन्स के कार्यालय में नौकरी करते थे। यहाँ उन्होंने एक नया साहित्यिक केन्द्र स्थापित किया जो अनुसन्धान करता था तथा इतिहास के नए आधार (तथ्य) प्रकट करता था, साहित्यालोचना करता था तथा काव्य के विषय एवं रूप के सम्बन्ध में खोज करता था। उन्होंने मुशायरे आयोजित किए और सन् १८७४ में "अंजुमने पंजाब" नामक एक संस्था स्थापित की जिसने उर्दू काव्य की नई परम्परा प्रचलित की।

अल्ताफ हुसेन हाली (१८३७—१९१४) ने उनको योग्य सहायता दी। उनके मुसद्दों (६ पंक्तियों के पदों की कविता) के प्रकाशन ने नए आन्दोलन को मुहर लगा दी। आजाद ने उर्दू में प्रथम आधुनिक साहित्यिक इतिहास लिखा। इस प्रकार उन्होंने पंजाब में साहित्यिक पुनरुत्थान शुरू किया था। हाली तथा अन्य लोगों ने उनके प्रयत्नों को और आगे बढ़ाया। हाली की सीधी, सरल और चुभने वाली कविता में यथार्थवाद के साथ—साथ आदर्शवाद का पुट था। उनकी इस कविता ने नई पीढ़ी को प्रभावित किया। इसका एक नया ढंग हो गया और इसके नए अनुयायी हो गए। इस्माइल ने भी इसे सौन्दर्य दिया और इसे घर—घर में पहुँचाया।

जिन लोगों ने उन्नीसवीं शताब्दी में उर्दू को आधुनिक रूप दिया है उनमें कुछ अन्य लोगों के नाम भी उल्लेखनीय हैं। उर्दू कथा—साहित्य में लखनऊ के पं० रतननाथ सरशार (१८४६—१९०२) ने नई शैलियाँ प्रचलित कीं और उर्दू को मध्यम श्रेणी की जनता में जनप्रिय बनाया। उनकी शैलियों का व्यापक प्रभाव पड़ा। पं० रतननाथ को केवल लखनऊ की उर्दू का ही नहीं अपितु वहाँ के रईसों, नवाबों और उनके पिछलगुओं के विलासी जीवन का भी अद्भुत ज्ञान था। इसलिए उनके उपन्यासों ने उर्दू जगत को नए शब्द—विन्यास, चमत्कारपूर्ण शब्द-चित्र, अनोखी संवाद-प्रणाली, और नाटकीय चरित्र-चित्रण दिया। उनके प्रसिद्ध उपन्यास "फ़साना-ए-आजाद" में यह सब

विशेषताएँ हैं और इसमें लखनऊ के रहन-सहन का सुन्दर चित्रण है। इसकी तुलना "पिकविक पेपर्स" से की जा सकती है। मुंशी नवलकिशोर द्वारा सन् १८५८ में स्थापित नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित "दैनिक अवधअखबार" नामक उर्दू पत्र के वे सम्पादक भी हो गए थे। मुन्शी नवलकिशोर ने भी उर्दू की बड़ी सेवा की है। दिल्ली में साहित्यिक पुनरुत्थान करने वालों में मौलवी जकाउल्लाह (१८३२-१९१०) तथा डा० नजीर अहमद के नाम प्रसिद्ध हैं। मौलवी साहब ने अपने आकर्षक व्यक्तित्व तथा अपने विस्तृत ज्ञान से साहित्यिकों को प्रभावित किया था। नजीर अहमद न सामाजिक उपन्यास लिख कर गद्य की नई शैली प्रचलित की थी। उन्होंने इण्डियन पेनल कोड (ताजीरात हिन्द), क्रिमिनल प्रोसीजर कोड (फौजदारी कानून) तथा कुरान का अनुवाद किया था। दाग़ (१८३१-१९०५) प्रेरणायुक्त कवि थे किन्तु हाली के बाद सब से प्रमुख व्यक्ति मौलाना शिब्ली नूमानी (१८५७-१९१४) हुए। इन्होंने अपने साहित्यिक तथा ऐतिहासिक आलोचनाओं के द्वारा उर्दू साहित्य को समृद्ध बनाया। अपनी अव्यक्तिगत तथा सन्तुलित आलोचना से उन्होंने नया स्तर प्रचलित किया। कहा जाता है कि ये आधुनिक से अधिक प्राचीनतावादी थे और इनमें तथा हाली में बड़ा अन्तर था। आजमगढ़ स्थित दारुल मुसंरिफिन (उर्दू अनुसन्धान-केन्द्र) से इनका नाम क़ायम है। यह केन्द्र उन्हीं के नाम पर स्थापित किया गया था। युवक वर्ग शेख अब्दुल क़ादिर द्वारा स्थापित "मखजान" से प्रभावित था। इन्होंने प्रगतिवादी परम्परा चलाई थी।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लाहौर, अलीगढ़, दिल्ली, कलकत्ता तथा लखनऊ में नए-नए लेखक हो गए थे। इनमें कुछ ऐसे थे जिन्हों ने प्राचीन शैली में साहित्यिक, सौन्दर्यपूर्ण तथा विद्वतापूर्ण लेख प्रचलित किए और कुछ ऐसे थे जिन्होंने पश्चिम से प्रभावित होकर गद्य में प्रवाह तथा सादगी को प्रचलित किया। प्राचीन परम्परा के लेखकों में अकबर (१८४६-१९२१), अबुल क़लाम आजाद, सुलेमान नक़वी, मुहम्मद अली और बृजनारायण चकबस्त (लखनऊ) तथा सज्जाद हैदर और क़ाजी अब्दुल गफ़्फ़ार प्रसिद्ध हैं। ये लोग ऐसी शैली के लेखक हैं जिन्होंने आजाद की भाँति शक्तिपूर्ण तथा पाँडित्यपूर्ण अथवा हैदर की भाँति चमकीली या जादू-टोने की रचनाएँ लिखी हैं। अकबर अपने ढंग के निराले लेखक थे। इन्होंने अपनी कविता में, जो हास्यपूर्ण और वाकचातुर्य से सम्पन्न थी, तत्कालीन विषयों पर

अनेकानेक टिप्पणियों की भरमार कर दी। उन्होंने पश्चिम की तथाकथित संस्कृति के विरुद्ध आवाज उठाई तथा भारत में धर्म एवं आस्था की पतितावस्था पर दुख प्रकट किया। जो परम्परायुक्त शास्त्रीय वर्ग के लेखक थे उनमें मौलवी अब्दुल हलीम शरार (१८६०-१९२६) का नाम महत्वपूर्ण है। वे आधुनिक उर्दू गद्य के एक स्तम्भ थे। उनका यश प्रधानतः उनके ऐतिहासिक उपन्यासों पर आधारित है। वे उर्दू के बंकिमचन्द्र थे। उन्होंने परदा-प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई तथा हिन्दू व मुसलमानों के मध्य निकट सम्पर्क का प्रतिपादन किया। वे कल्पनाशील लेखक थे। उनकी लेखनशक्ति लोकप्रिय एवं चित्रण वैभव से सम्पन्न थी।

लेकिन उर्दू साहित्य के उदीयमान नक्षत्र लाहौर के सर मुहम्मद इक़बाल थे। इनका कवित्व-काल सन् १८७६ से सन् १९३८ तक का है। इन्होंने देशभक्ति सम्बन्धी विषयों पर अपनी प्रारंभिक कविताएँ लिखी थीं। "हिन्दुस्तान हमारा" तथा "नया शिवाला" सरीखी ये कविताएँ भारत के सभी वर्गों में बहुत अधिक प्रचलित हैं। परन्तु, इनका सबसे अधिक गंभीर साहित्य फारसी भाषा में है। असरादे खुदी, रमूजे बेखुदी, पयामे मशरिक़ तथा जबरे-आजाम नामक इनकी चार पुस्तकें दर्शन की निश्चित व्यवस्था हैं। इनका सार-तत्व यह है कि हर व्यक्ति को अपनी आत्मा को इतना शक्तिशाली और सुदृढ़ बना देना चाहिए कि वह सबसे ऊँचे स्तर पर पहुँच जाय, सबसे अधिक पूर्ण और स्वनियंत्रित हो जाय। तभी किसी राष्ट्र की उन्नति हो सकती है। हमलोगों को अपनी विचार शक्ति से भी काम लेना चाहिए ताकि हम आत्मा तथा अनात्मा, आत्मा तथा अन्य आत्माओं एवं सीमित मानवात्मा तथा "अन्तिम आत्मा" में जो भेद है उसे देख सकें। मनुष्य कभी ईश्वर में मिल नही सकता। वह केवल उसके प्रतीकों को प्राप्त कर सकता है। इक़बाल का नारा था "कर्म करो, आत्मविश्वास रखो और आत्मविकास करो।" वे विश्वविख्यात प्रतिभावान कवि हो गये हैं।

प्रथम विश्वयुद्ध से लेकर द्वितीय विश्वयुद्ध तक उर्दू साहित्य में परम्परावाद तथा यथार्थवाद या प्रगतिवाद के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। इसकी क्रमिक प्रवृत्ति यथार्थवाद, नज्म, ताजगी, मौलिकता, सादगी तथा एकरूपता की ओर रही। इस अवधि में जो लेखक या कवि हुए उनमें हसरत, फ़ानी, अशग़र, जिगर तथा जोश प्रसिद्ध हैं। उर्दू में नाटक, उपन्यास, कहानी,

बाल-साहित्य, साहित्यालोचना तथा वैज्ञानिक साहित्य का भी विकास हुआ। हैदराबाद के उस्मानिया विश्वविद्यालय में उर्दू में सभी विषयों का अध्ययन कराया जाता है। अन्य प्रान्तीय तथा यूरोपीय भाषाओं के ग्रन्थों के उर्दू में अनुवाद भी हुए हैं। आजकल उर्दू में प्रगतिशील लेखक अधिक हैं जो अन्य भारतीय साहित्यकारों से अधिक सामाजिक तथा यथार्थतापूर्ण रचनाएँ लिखते हैं। ऐसे लेखकों में जोश अहसान, सागर, रविश, बकर, मीराजी फैज, तासीर, नून, बेदी, कृष्णचन्द्र, अनसारी, रशीदा जहाँ, अहमद अली तथा अख्तर हुसेन प्रसिद्ध हैं। मुक्त तथा अतुकान्त कविताएँ भी लिखी गयीं। गद्य भी सीधा, सरल और स्वच्छ तथा परिमार्जित हो गया है।

भारत के विभाजन के साथ-साथ अब उर्दू पाकिस्तान की राष्ट्रभाषा हो गयी है किन्तु भारत में इसका भविष्य अन्धकारपूर्ण है। फिर भी निराश होने का कोई कारण न होना चाहिए। उर्दू साहित्य में स्वाभाविक तथा असली गुण हैं जिनका विकास उस समय होगा जबकि वह राजकीय क्षेत्र से निकल कर अपने पैरों पर खड़ी होगी। यह पूर्व तथा पश्चिम के बीच नया समन्वय स्थापित करने में सहायक हो सकती है।

तामिल साहित्य

तामिल भारत के दक्षिणी भागों की भाषा है और यह वहाँ की २५० लाख से अधिक जनता द्वारा बोली जाती है। यह भाषा लगभग २००० वर्ष पुरानी है और यह उस प्राचीन परम्परा का प्रतिनिधित्व करती है जिसकी तुलना उत्तर में संस्कृत से हो सकती है। तामिल गद्य तथा उपन्यास का जन्म हाल में ही हुआ है। धार्मिक, देशभक्ति के तथा यूरोपीय प्रभावों के परिणामस्वरूप तामिल में आधुनिक पुनरुत्थान हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीयों के साथ विदेशी धर्म प्रचारकों (मिशनरियों) ने इस भाषा को आधुनिक रूप देने में प्रमुख भाग लिया। इससे पहले ही सन् १६७७ ई० में स्पेन के मिशन द्वारा तामिल की प्रथम पुस्तक छापी जा चुकी थी। पादरी (फादर) बेंशी तामिल गद्य के पिता माने जाते हैं। सत्रहवीं शताब्दी में उन्होंने बोली जाने वाली तामिल भाषा (racy) में एक कहानी-संग्रह लिखा था। उन्नीसवीं शताब्दी में एलिस, मैकेंज़ी, सुब्बाराया चेट्टियर, महामहोपाध्याय डब्ल्यू० व्ही० स्वामीनाथ ऐयर आदि कुछ विद्वानों ने प्राचीन लेखों (ग्रन्थों) का संग्रह करने तथा उनका सम्पादन करने में योग दिया था।

जाफना के "नावालार" सरीखे अन्य लोगों ने गद्य को सरल किया। नावालार ने रामायणम्, भारतम् तथा पेरियापुराणम् जैसे ग्रन्थ लिखे थे। कथा-कहानी लिखने के प्रथम प्रयत्न एक मुसलमान, जिसने "विक्रमादित्य की कहानियाँ" लिखी थीं, तथा "वेदनायागम पिल्लई" के प्रताप मुदालियर द्वारा किये गये थे। यह तामिल का प्रथम उपन्यास था किन्तु इसका गद्य पांडित्य तथा सादगी का समन्वय था। इस प्रारंभिक काल के अन्य प्रसिद्ध उपन्यासकार राजमऐयर तथा ए० माधवीया हैं। किन्तु अब तक यह तामिल साहित्य का आरंभमात्र था। इसके विषय अब भी धार्मिक तथा उपदेशपूर्ण थे तथा उसमें प्राचीनता थी और तामिल गद्य किताबी, पांडित्य-पूर्ण तथा परम्परागत था।

परन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से उग्र तथा क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। "तामिल विद्या का संसार उत्साहहीन था तथा उसमें (प्राण) नहीं था, और इस संसार में "भारती" का जन्म हुआ था ; और जब यह कवि बोला तब गीत (कविता) का उन्नतिशील रूप निखर आया तथा तामिल जगत रूपवान तथा सौन्दर्यपूर्ण हो गया। महाकवि कम्बन के बाद लगभग सात सौ वर्ष तक तामिल काव्य अनुर्वर रहा। उसमें सामंतों की प्रशंसा का गान तथा प्रेमरस का वर्णन होता रहा। पत्तिनाथर सरीखे सन्तों ने कुछ भक्ति विषयक गीत इस बीच अवश्य लिखे। सुब्रमण्य भारती ने तामिल को पण्डितों के पांडित्य तथा प्रभाव, पुराण की धार्मिकता तथा शुष्क ब्रह्मज्ञान की अस्पष्टता से मुक्त किया। बंगला में टैगोर तथा हिन्दी में मैथिलीशरण की भांति वे तामिल में राष्ट्रीय कवि हो गये और जनता के सुःख-दुःख के गीत गाते रहे। वे जनता को सत्यता तथा साधुता की प्रेरणा देते रहे। उन्होंने सिद्धांत के स्थान पर यथार्थवाद को प्रचलित किया। उन्होंने विद्वता की व्याख्या की। सरस्वती के समान उन्होंने तामिल साहित्य की मरुभूमि को जलपूर्ण बनाया और उसके प्राचीन गौरव को पुनर्जीवित किया। वे तिलक, लाजपतराय तथा श्री अरविन्द के समकालीन थे। उनमें ईश्वर की दी हुयी काव्य-प्रतिभा थी। साथ ही वे शक्तिशाली गद्य-लेखक भी थे। उन्होंने तामिल में गीता का अनुवाद किया था। उनका हृदय देशभक्ति से पूर्ण था। उन्होंने अपने देशवासियों को सीधा खड़ा होने, सीना तानकर चलने तथा लक्ष्य तक सीधे पहुँचने तक की प्रेरणा दी। उनका "पांचाली शपथम्" (द्रौपदी की प्रतिज्ञा) उस नवीन रचनात्मक तथा आत्मविश्वासपूर्ण

युग का प्रतीक है जिसे उन्होंने आरंभ कियाथा। द्रौपदी तबतक अबला (दुर्बल) रही जब तक वह रोती तथा दया की भीख माँगती रही किन्तु जब उसने अत्याचारियों के रक्त से न धोए जाने तक अपने केश न बांधने की प्रतिज्ञा की तब वह सबला हो गयी। उसमें आत्मविश्वास के साथ-साथ ईश्वर पर भरोसा था। यह राष्ट्रीय मुक्ति के लिए संघर्षरत भारतीयों के लिए पथ-प्रदर्शक रहा। भारती का जन्म दिवस प्रति वर्ष ३ अक्टूबर को मनाया जाता है और एट्टायापुरम स्थित भारती स्मारक हमारी राष्ट्रीय संस्कृति का सच्चा प्रतीक है।

तामिल साहित्य के विकास में कुछ पत्र-पत्रिकाओं ने भी प्रमुख योग दिया है। सबसे प्राचीन पत्र "स्वदेशमित्रम" है जिसका प्रकाशन जी० सुब्रमण्य ऐयर ने शुरू किया था। श्री ऐयर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापकों में थे। दीनसारी, दीनमणि, कालकी, आनन्द विकटन आदि अन्य प्रसिद्ध पत्र हैं।

इधर इस बात का खंडन करने कि तामिल संस्कृत का ऋणी है, या तामिल में संस्कृत के योगदान हल्का करने की प्रवृत्ति आ गई है। शुद्ध प्राचीनता तथा शुद्ध तामिल को अपनाने की मांग की जा रही है। कुछ भी हो, तामिल साहित्य अपने निजी स्वरूप में आ गया है। तामिल पद्य सीधा, तरल और यथार्थतापूर्ण हो गया है। गद्य भी शब्दाडम्बर तथा वाक्य-बाहुल्य से मुक्त कर दिया गया है और आधुनिक उपन्यास का भी प्रचलन हो गया है। अब हम इस साहित्य के विभिन्न स्वरूपों पर संक्षिप्त प्रकाश डालते हैं। सब से अधिक मांग कथा-कहानी की है कुप्पूस्वामी, डोरास्वामी तथा रंगराजू सरीखे लेखकों ने पश्चिम की अधिकांश छोटी-छोटी कहानियों को तामिल में ले लिया है। कुप्पूस्वामी ने कल्पनापूर्ण तथा अनमल ने भाव-पूर्ण उपन्यास प्रचलित किए हैं। सन् १९३० से १९३६ के बीच कालकी सरीखे लेखकों ने संसार की सब से अच्छी कहानियों को तामिल में ले लिया स्व०पुदुमइप्पिट्टन सर्वश्रेष्ठ कहानी लेखक थे। इनकी कृतियों में पौराणिक कथाओं की कल्पनापूर्ण पुनर्रचना तथा आधुनिक कहानियाँ हैं। इनकी कहानियाँ यथार्थतापूर्ण तथा उपदेशयुक्त दोनों प्रकार की हैं। इनमें भूत-प्रेत की कहानियाँ तथा वैज्ञानिक कथाएँ भी हैं। इन्होंने यथार्थवादी स्पष्ट भाषा में कहानियाँ लिखी हैं और उनकी रचनाएँ सदैव प्रेरणायुक्त रहीं। कुछ

लेखकों का एक अन्य वर्ग था। ये लेखक "मणिक्कोडी" नामक पत्रिका में, जो थोड़े दिनों तक प्रकाशित हुई, अपनी रचनाएँ प्रकाशित करते थे। ये लोग प्रचलित प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करने के विरोधी थे। स्व० के० पी० राजगोपालन की परम्परा तथा शैली में यूरोपीयता अधिक थी। इनकी शैली एवं परम्परा मुख्यतः रचनात्मक भावों से सम्बन्धित थी। एन० सुब्रमण्यम यथार्थवादी थे और दुःख वर्णन तथा निन्दा करने में पंडित थे। कालकी ऐतिहासिक उपन्यास लेखक थे। उनके उपन्यास "लिटन" का स्मरण कराते हैं। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी भी प्रसिद्ध कहानी लेखक हैं। अन्य प्रमुख लेखकों में एस० वी० वी०, ए० एस० पी० ऐयर, वी० वी० एस० ऐयर, आर० कृष्णमूर्ति, के० एस० करन्थ (विख्यात उपन्यासकार) डा० त्रिपुरासुन्दरी "लक्ष्मी", भारती तथा के० एस० वेंकटरमणी प्रसिद्ध हैं

तामिल में प्रसिद्ध साहित्यालोचक तथा कवि भी हो गए हैं। इनमें के०एस० वेंकटरमणी सर्वश्रेष्ठ है और वे दक्षिण भारत के टैगोर माने जाते हैं। वे कवि, निबन्धकार, कहानीकार तथा उपन्यासकार हैं। अन्य कवियों में गांधी वादी "कवि रार्मालिंगम", योगी शुद्धानन्द भारती, के० एस० नरसिंह स्वामी, के० श्रीनिवासम, जगन्नाथ ऐयर तथा कविमणि देसीकविनायगम पिल्लई प्रसिद्ध हैं। तामिल लोग बहुत संगीत-प्रेमी होते हैं, इसलिए, स्वभावतः वे नाटक बहुत पसन्द करते हैं। इसी लिए मद्रास के सभी नगरों मे ऐसे अभिनेता अधिक संख्या में पाए जाते है जो शौक़िया नाटकों में अभिनय करते हैं। सम्बन्द मुदालियर न केवल सुन्दर लेखक तथा नाटकों के अनुवादक थे अपितु वे नाट्यकला के सुधारक भी थे। ऐसे साहित्यिक नाटक भी लिखे गए जो अभिनय से अधिक अध्ययन के लिए उपयुक्त है। माधवीया, एफ० जी० नटेसा ऐयर तथा पार्थसारथी प्रसिद्ध नाटककार हैं। तामिल में संस्कृत के प्राचीन साहित्य तथा बंकिम, शरतचन्द्र, टैगोर, मुन्शी, खान्देकर तथा प्रसिद्ध यूरोपीय लेखकों के साहित्य के भी अनुवाद किए गए। परन्तु तामिल में वैज्ञानिक, आर्थिकता तथा राजनीतिक साहित्य बहुत थोड़ा लिखा गया। अन्य लेखकों में "वारा", टी० के० सी० मुदालियर, के० आर० श्रीनिवास आयंगर, पी० श्री, राइटआनरेबुल वी० एस० श्रीनिवास शास्त्रियर तथा प्रोफेसर वैयापुरी पिल्लई प्रसिद्ध हैं तथा ये बहुरूपी लेखक हैं।

तामिल साहित्य में भी अन्य भारतीय साहित्यों जैसी प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। इस साहित्य में भी कल्पनावाद तथा रहस्यवाद से लेकर यथार्थवाद

और प्रगतिवाद तक की प्रवृत्तियाँ आई हैं। इसी बीच गांधीवाद की भी प्रवृत्ति रही है। वर्तमान युग हृदयान्वेषण करने का युग है। इसमें पलायनवाद, निराशावाद, साम्यवाद, भावुकतावाद या आत्म-विश्लेषण के दृश्य दिखाई देते हैं। लेखकों को अब भी अपना मूल ढूँढ़ निकालना है। विभिन्न प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञानों पर वैज्ञानिक पुस्तकों की भारी कमी है। अन्य प्रान्तों के समान यहाँ भी सन् १९२० से सन् १९२८ के बीच सर्वश्रेष्ठ साहित्य की रचना की गई। परन्तु यहाँ साहित्यिक आग अभी बुझी नहीं है और तामिल प्रदेश की नई पीढ़ियाँ तामिल साहित्य के अमर पृष्ठ लिखने का निश्चय कर चुकी हैं।

तेलगू साहित्य

उन्नीसवीं शताब्दी में आन्ध्रों (तेलगू भाषी जनता) ने सांस्कृतिक पुन-र्जन्म को उद्यत नवीन भारत की पुनरुत्थान की इच्छा को महसूस किया। आन्ध्रों में कभी भी संकीर्णता या पक्षपात की भावना नहीं रही। इसलिए उन की आधुनिक साहित्यिक जागृति में प्राचीनता, यूरोप तथा अन्य प्रान्तों के आधुनिक ग्रन्थों तथा लेखकों का प्रभाव दिखाई देता है। इस नवीन पुनरुत्थान में विशेषतः टैगोर तथा शान्ति निकेतन ही प्रमुख निर्माणकारी शक्तियाँ रहीं।

गोदावरी के तट पर तथा पूर्वी चालुक्य नरेश राजा महेन्द्र के दरबार में आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व प्रथम महान् तेलगू कविता (भट्टारक की) की रचना की गई थी और यहीं से तेलगू काव्य का पुनरुत्थान प्रारम्भ हुआ था। वहाँ वीरेसलिंगम लक्ष्मी नरसिहम और वासुरापा कवि ने उस ज्योति को पुनः प्रज्वलित किया जिसे आगे चल कर वी० वेंकटराय शास्त्री, नेल्लोर के तिरुपति तथा वेंकट शास्त्री, गुरुजादा अप्पाराव, बी० अप्पाराव, एन० सुब्बाराव, बासवराजू, कृष्ण शास्त्री तथा सत्यनारायण सरीखे अन्य लोगों ने अपनाया वीरेसलिंगम आधुनिक आन्ध्र साहित्य (तेलगू) के पिता थे और लोग उन्हें "गद्यटिक्कण" अर्थात सर्वश्रेष्ठ गद्यलेखक कहते थे। वे ऐसा मार्ग छोड़ गये जिस पर अन्य लोग चले। सरलता, निर्मलता तथा आकर्षण आदि उनकी गद्यकी विशेषताएँ थीं। उन्होंने दूसरी भाषाओं की कृतियों को तेलगू में अपनाया अथवा उनका अनुवाद किया था। उन्होंनें उपन्यास लिखे, तेलगू पुस्तकों (रचनाओं) का इतिहास लिखा, कविताएँ लिखीं, एक साहित्यिक (साप्ताहिक) पत्रिका प्रकाशित की, सामाजिक सुधारों का समर्थन किय

और नाटक, पिंगल शास्त्र, विज्ञान तथा जीवनचरित्र संबंधी अन्य पुस्तकें लिखी हैं। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी और वे अपने युग के गतिशील व्यक्तित्व थे। उन्होंने तेलगू साहित्य को ह्रासोन्मुख प्राचीनता, पाँडित्य, तथा आडम्बर के बन्धन से मुक्त किया। हिन्दी के भारतेन्दु के समान वे नवीन साहित्यिक एवं सामाजिक जागृति के दूत बन कर आये थे। उनके मित्र तथा समकालीन विद्वान् चित्रकमूर्ति लक्ष्मीनरसिंहम ने, जो आधुनिक तेलगू नाटक तथा उपन्यास के जन्मदाता हैं, उनकी योग्य सहायता की थी।

परन्तु हिन्दी में जो काम महाबीर प्रसाद द्विवेदी ने किया है वह काम तेलगू में गुरुजादा अप्पाराव तथा गिडुगू राममूर्ति पान्तुलू ने किया। अप्पाराव ने नाटक के नए रूप तथा नई पदरचना को प्रचलित किया और गिडगू ने आधुनिक तेलगू लेख-कला की नींव रखी। स्कूल-कालेजों की पाठ्य पुस्तकों में जो पुरानी पाँडित्यपूर्ण तथा समझ में न आनेवाली भाषा प्रचलित थी उसके विरुद्ध गिडुगू ने विद्रोह किया। पुराने लोगों द्वारा हतोत्साहित तथा कभी-कभी पराजित होते हुए भी वे अपने पथ पर चलते रहे और सन् १९३०-३५ तक उन्हें अपने प्रयत्न में अद्‌भुत सफलता मिली जिसके प्रतीक के रूप में सन् १९३३ में बरहमपूर में नव्य साहित्य परिषद की स्थापना हुयी।

आधुनिक तेलगू काव्य में विश्वनाथ सत्यनारायण का स्थान सबसे आगे है। वे तेलगू के मैथिलीशरण हैं। उनकी कविता में चयन और संयम का आकर्षण है, उनकी भाषा निर्मल, सीधी और सरल है तथा उनकी कविता सुरीली है। वे तेलगू काव्य की सबसे सुन्दर परम्परा के प्रतीक हैं। लोक-गीत भी अत्यधिक प्रचलित हो गये हैं और इस क्षेत्र में एन० सुब्बाराव ने बहुत ख्याति प्राप्त कर ली है। हिन्दी काव्य में जो स्थान निराला का है वही स्थान तेलगू में श्रीरंग श्रीनिवासराव का है। इन्होंने कविता में नवीन स्वतंत्रता को प्रारम्भ किया है। अन्य प्रसिद्ध कवियों में तिरुपति-वेंकटेश्वर कावुलू (तेलगू काव्य के अश्विन कुमार) हैं जिन्होंने अतीतकाल की स्वतंत्र परम्पराओं को पुनर्जीवित किया तथा उन्हें आर० सुब्बाराव कृष्ण शास्त्री, के० वेंकटेश्वर तथा राव पिंगली लक्ष्मीकान्तम के लिए संभव बनाया। इन लोगों ने तेलगू में गीत-काव्य का बाहुल्य कर दिया। वेंकट पी० कावुलू तथा रामा प्रोलू ने आन्ध्र में टैगोर की काव्य-परम्परा को प्रचलित किया। सन् १९३० से १९३८ के बीच कुछ युवक कवि हुए जो "साहिति

समिति" के सदस्य थे। इन कवियों ने नयी शैलियों का प्रचार किया। इन कवियों के नेता टी० शिवशंकर शास्त्री थे। अन्य कवियों में आर० वी० एम० जी० रामाराव बहादुर, जी० वी० शेषशास्त्री तथा उन्हीं के गाँव के कवि प्रोड्डुटूर प्रसिद्ध हैं। सन् १९१५ से १९३५ तक का समय तेलगू काव्य का "पेरीक्लियन युग" था और इस अवधि में तेलगू काव्य अपने उच्चतम स्तर पर जा पहुँचा था। आत्मा सम्बन्धी कविता का इस अवधि में प्रभुत्व था। आनन्द एवं शोक के उद्गार, प्रेमी के प्रेम के उद्देश्य को आदर्श रूप देना, प्रेमी के मस्तिष्क एवं आत्मा के भावों का प्रभावपूर्ण वर्णन आधुनिक तेलगू काव्य के मुख्य तत्व थे। वर्तमान महायुद्ध ने दृष्टि-शक्ति में बहुत बड़ा परिवर्तन कर दिया है। प्रभाववाद तथा अतिरिक्त यथार्थवाद का प्रचार हो गया है। श्रीरंगम तथा रुक्मिणिनाथ सरीखे लोगों को रूस ने आकर्षित कर लिया है। मुक्त छन्द का खूब प्रयोग किया जा रहा है। नव-प्राचीनतावादी कवियों में जोशुआ प्रसिद्ध हैं जिनकी कविताएँ हिन्दी के बच्चन का स्मरण कराती हैं।

कविता के अतिरिक्त उपन्यास, नाटक तथा साहित्यालोचना का भी विकास हुआ। आलोचकों में बहुमुखी प्रतिभायुक्त सत्यनारायण के अतिरिक्त शिवशंकर शास्त्री, नारायण राव, रामकृष्ण राव तथा कृष्ण शास्त्री प्रसिद्ध हैं। अप्पाराव ने सामाजिक, निवासराय ने ऐतिहासिक विषयों पर नाटक लिखे। डी० एल० राय के नाटकों के अनुवाद भी तेलगू नाटक-साहित्य में महत्वपूर्ण हैं।

तेलगू साहित्य में श्री जी० वेंकटाचलम का वही स्थान है जो कि फ्रांस में मोपासाँ का है। वे क्रांतिकारी लेखक हैं और स्त्री-पुरुष समानता में उनका विश्वास है। वे नाटककार तथा कहानीकार दोनों हैं। श्री उन्नव लक्ष्मीनारायण के उपन्यास प्रेमचन्द्र की याद दिलाते हैं। "चिन्ता" कहानी लेखकों के राजा हैं। श्रीरंगम निवास प्रगतिवादी दल के हैं। गोपाल रेड्डी ने टैगोर के नाटकों का अनुवाद किया है।

इस प्रकार, तेलगू साहित्य की कहानी भी अन्य भारतीय साहित्यों की कहानी जैसी ही है। आसामी, कन्नड़, मैथली, मलयालम, उड़िया, सिंधी, पंजाबी आदि अन्य भाषाओं में भी इसी प्रकार प्रगति हुयी। सभी प्रकार की अन्तर्प्रान्तीय तथा पश्चिमी प्रवृत्तियाँ इस देश के समस्त साहित्य में

आ गयीं। इस समय अन्य साहित्य के समान तेलगू में भी निराशावाद तथा प्रयोगवाद का प्रभाव है। भविष्य कैसा होगा यह कोई नहीं बता सकता।

संस्कृत साहित्य

आधुनिक काल में मुख्यतः, संस्कृत साहित्य में अनुसंधान पर ओर दिया जाता रहा। इसका अध्ययन करने, इसका विकास करने तथा इसे जनता की भावना एवं आधुनिक रुचि के अनुकूल बनाने की मुख्य प्रवृत्ति रही है। और आजकल लोग संस्कृत को आधुनिक रूप देने की आवश्यकता को महसूस कर रहे हैं ताकि इसके अपरिमित साँस्कृतिक कोष का व्यापक क्षेत्र में प्रचार किया जा सके।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि संस्कृत मृत भाषा हो गयी है। हमारे अधिकांश स्कूल-कालेजों में यह पढ़ाई जा रही है; अनुसंधान–कार्य हो रहा है; पंडित संस्थाएँ, गुरुकुल, पाठशाला आदि में इसकी विशेष शिक्षा दी जाती है और स्वतंत्रता के बाद से यह अन्य भारतीय भाषाओं के लिए पारिभाषिक शब्द तथा अन्य प्रकार के शब्दविन्यास तैयार कर रही हैं। यह भाषा–विज्ञान का मुख्य आधार, भारतीय दर्शन तथा प्राचीनतावाद का मुख्य (मूल) स्रोत तथा रस, अलंकार आदि साहित्यिक विचारधाराओं का आधार है। केवल इसी भाषा में साहित्य के सूत्र, कहावत आदि रूपों के स्थिर करने की अद्‌भुत प्रतिभा है। यह भारत के भिन्न–भिन्न प्रदेशों के प्राच्य–विद्या के विद्वानों के समागम का माध्यम भी है। इसके अध्ययन तथा अनुसंधान से अतीत की कई ऐतिहासिक एवं साँस्कृतिक समस्याएँ काफ़ी हद तक हल हो सकेंगी।

आधुनिक युग में, संस्कृत में, सबसे महत्वपूर्ण अनुसंधान–कार "भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्‌यूट आफ पूना" ने किया है। इस इंस्टीट्‌यूट की स्थापना डा० रामकृष्ण गोपाल भंडारकर (१८३७–१९२५) के नाम पर सन् १९१७ ई० में हुयी थी। अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन भी, जो १९१९ से प्रारंभ हुआ, इसी के साथ सम्बन्धित है। डा० भंडारकर सबसे प्रसिद्ध प्राच्य शास्त्रियों में थे और काशीनाथ त्र्यम्बक तेलंग (१८५०–९४) के साथ उन्होंने संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों के अनुसंधान के क्षेत्र में नेतृत्व किया है। भंडारकर इंस्टीट्‌यूट ने १३० से अधिक ग्रंथों को प्रकाशित या सम्पादित किया है। और इस समय इनमें से दो प्रमुख तथा बृहत ग्रन्थ "इंडिक स्टडीज"

तथा "सम्पूर्ण महाभारत का आलोचनात्मक सम्पादन" हैं। इंडिक स्टडीज भाषा विज्ञान की कई शाखाओं में २५ वर्ष की अवधि (१९१७–१९४२) में भारत में तथा बाहर किये गये अनुसंधानों का संकलन है। इन अनुसंधानों को डा० दान्डेकर ने अधिकार पूर्ण रूप में घोषित किया था। संस्कृत की हस्तलिपियों की एक सूची भी प्रकाशित की जा रही है। इस इंस्टीट्यूट में भारत तथा विदेशों के अनुसंधान के छात्रों (Research Scholar) को अनुसंधान सम्बन्धी सुविधाएँ मिलती हैं और उनको अनुसंधान करने के अवसर दिये जाते हैं।

प्राच्य-विद्या संबंधी अन्य संस्थाएं भी हैं जिनमें अनुसंधान कार्य होता है। कुछ ऐसी नयी संस्थाएँ भी स्थापित की गयी हैं जिनमें प्राचीन हस्तलिपियों के अध्ययन तथा ऐतिहासिक सामग्रियों के संग्रह के लिए राजस्थान पुरातत्व मन्दिर, संस्कृत अध्ययन की उन्नति के लिए मिथला इंस्टीट्यूट, भाषाविज्ञान सम्बन्धी अध्ययन के लिए के० पी० जायसवाल रिसर्च इंस्टीट्यूट, तथा होशियारपुर के वैदिक संशोधक मंडल तथा विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इंस्टीट्यूट प्रसिद्ध हैं। मिथिला इंस्टीट्यूट तथा के० पी० जायसवाल रिसर्च इंस्टीट्यूट बिहार में हैं। इनके अतिरिक्त भारत के विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित संस्कृत विद्यालय तथा शिक्षा–संस्थाएँ भी हैं जहाँ संस्कृत का अध्ययन एवं अनुसंधान कार्य होता है।

अनुसंधान के साथ–साथ समस्त विषयों में संस्कृत के पाठकों को भी आधुनिक ज्ञान दिया जा रहा है और साहित्य के विभिन्न अंगों पर नए साहित्यिक ग्रंथ भी लिखे जा रहे हैं। इस संबंध में कुछ प्रसिद्ध व्यक्ति तथा उनके कार्य उल्लेखनीय हैं। कविराज गणराज सेन मानव–शरीर-रचना पर संस्कृत में ग्रंथ लिख रहे हैं जिसमें आधुनिक शरीर–विज्ञान पर विशेष प्रकाश डाला गया है। महाराष्ट्र के वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर, कलकत्ता के अनन्तकृष्ण शास्त्री, आन्ध्र के वेंकटरत्नम पान्तुलू तथा मैसूर के लक्ष्मीपुरम श्रीनिवासाचार्य ने भारतीय तथा पश्चिमी दर्शनों के विभिन्न स्वरूपों पर टिप्पणियां लिखी हैं। भतखंडे ने संगीत पर प्रसिद्ध ग्रंथ लिखे हैं। जोधपुर के पं० विश्वेश्वनाथ राव ने परिवर्तित सामाजिक स्थिति के अनुकूल नया विधान (क़ानून) लिखा है। ये दोनों तथा मद्रास विश्वविद्यालय के डा० राघवन अन्य प्रसिद्ध लेखक हैं। मेलकोट के कवि तथा नाट्यकार

जग्गू बकुलभूषण कवि, नन्दूकावेरी (तंजोर) के नारायण शास्त्री (१८६०–१९११), बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के पं० रामावतार शर्मा, मद्रास के कुलपति कुप्पूस्वामी शास्त्रियर तथा कुम्भकोनम के कृष्णमाचार्य सरीखे लोगों ने मौलिक पुस्तकें लिखी हैं। कहा जाता है कि नारायण शास्त्री ९२ नाटकों के लेखक हैं और पं० रामावतार शर्मा ने भारत का छन्द सम्बन्धी इतिहास लिखा है। कृष्णमाचार्य ने विभिन्न विषयों पर विद्वतापूर्ण तथा प्रवाहपूर्ण गद्य में अपने आधुनिक विचार प्रकट किये हैं। मैसूर की प्रसिद्ध लेखिका पं० क्षमाबाई राव सरीखी महिलाएँ भी सरलता से संस्कृत में लेख, पुस्तक, कविता आदि लिखती हैं।

संस्कृत की अनेक प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होती हैं जिनमें कलकत्ता की संस्कृत साहित्यपरिषद् पत्रिका, संस्कृत महापाठशाला मैसूर की त्रैमासिक पत्रिका, बिहार संस्कृत एकेडेमी की संस्कृत संजीवनम तथा अयोध्या (उ. प्र.) की "संस्कृतम" आदि पत्रिकाएँ उल्लेखनीय हैं। केन्द्रीय सरकार तथा समस्त राज्यों की सरकारें संस्कृत-शिक्षा की प्रगति के लिए आर्थिक सहायता दे रही है और उत्तर प्रदेश में संस्कृत विश्वविद्यालय स्थापित करने के अतिरिक्त अन्य योजनाएँ तैयार की जा रही हैं। इस प्रकार संस्कृत साहित्य का उत्पादन निरन्तर जारी है और इसका बहुत सम्मान किया जा रहा है।[१४]

अंग्रेजी साहित्य

अब हम भारतीय लेखकों द्वारा रचित अंग्रेजी साहित्य का वर्णन करते हैं। इस साहित्य को भारत-आँग्ल या भारत-अंग्रेजी (Indo-Anglian or Indo-English) साहित्य कहा जाता है और इसकी तुलना आँग्ल-भारतीय-साहित्य, जो अंग्रेजी या पश्चिमी विद्वानों द्वारा भारतीय विषयों पर लिखा गया है, से की जाती है। पिछले अध्याय में हम इस विषय पर प्रकाश डाल चुके हैं। अतः, यहाँ हम केवल इसकी मुख्य प्रवृत्तियों पर संक्षिप्त प्रकाश डालेंगे।

भारत-आँग्ल साहित्य का आरम्भ काफी पहले हुआ था। आरम्भ में गद्य लिखा गया और पत्र-पत्रिकाएँ, पत्र-संग्रह, स्मरण-पत्र (रोजनामचा), अंग्रेजी अनुवाद आदि लिखे गए। किन्तु जोन्स, लेडेन, डेरोजियो, मेरेडिथ

पार्कर, लेस्टर रिचार्डसन, एडविन अर्नाल्ड, लायल, ट्रेगो वेब, लारेन्स होप, तथा विलियम वाटरफील्ड सरीखे आंग्ल-भारतीय लेखकों ने भारतीयों को कविताएँ लिखने को प्रेरित किया। इसमें भी "दत्तों" और "घोषों" के परिवारों के साथ बंगाल ने नेतृत्व किया। तोरु दत्त प्रथम कवियित्री तथा भारत की कीट्स थीं। "एन्शेन्ट बैलेड्स एंड लीजेन्ड्स आफ हिन्दुस्तान" नामक उनकी प्रसिद्ध पुस्तक उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुई। इनकी मृत्यु २१ वर्ष की अल्पायु में ही हो गयी जिससे इस साहित्य की बड़ी भारी क्षति हुयी। अन्य दत्तों में आरु दत्त, शशिचन्द्र दत्त, रमेशचन्द्र दत्त तथा माईकेल मधुसूदन दत्त उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार घोष परिवार में मनमोहन तथा श्री अरविन्द प्रसिद्ध हैं। इन सब लेखकों ने यह सिद्ध कर दिया कि भारतवासी अंग्रेजी में रचनात्मक रूप में लिख सकते हैं। इनके बाद भारत के राजकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा "भारत की बुलबुल" (भारत कोकिला) सरोजिनी नायडू के नाम इस क्षेत्र में प्रसिद्ध हैं। टैगोर और नायडू की रचनाएँ इतनी अधिक विख्यात हैं कि उनका वर्णन अनावश्यक है। टैगोर और नायडू के प्रशंसक सहस्त्रों की संख्या में हैं और इनके नाम पर हजारों संस्थाएँ स्थापित हैं। के० एस० वेंकटरमणी, जो दक्षिण भारत के टैगोर कहे जाते हैं, सरीखे विद्वानों ने इनके बनाए हुए पथ का अनुकरण किया।

अन्य प्रसिद्ध कवियों में कंकिणी, हरीन्द्रनाथ, चट्टोपाध्याय, राम्मस्वामी शास्त्री, मंगलौर के प्रिन्सिपल चेत्तूर, पी० शेषाद्रि, बंगाल के शहीद सुहरावर्दी तथा हुमायूँ कबीर, गोआ के जोजेफ फर्टाडो और मेनेज़िस, प्रि० एन० बी० थदानी, मंजिरी एस० ईश्वरन्, खबरदार, के० डी० सेठना और दिलीप कुमार राय उल्लेखनीय हैं। यहाँ पर यह बता देना उचित है कि अधिकांश भारतीय लेखकों ने काव्य की कला का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने का कष्ट नहीं उठाया। परिणाम स्वरूप वे केवल बहुरूपी लेखक रह गये।

नाटक और कहानी के क्षेत्र में भी कुछ प्रसिद्ध लेखक हैं। नाटक सामान्यतः साधारण ढंग के हैं। नाटककारों में टैगोर, ए० एस० पी० एयर, बी० वी० श्रीनिवास आयंगर, फैजी-रहामीन, जे० भट्ट, बी० एन० भूषण तथा जे० डी० मेनज़िस प्रसिद्ध हैं। कथा-साहित्य में "गोरा",

"दि रेक्", "दि होम" तथा "दि वर्ल्ड" सरीखे टैगोर के उपन्यासों जैसी अच्छी रचनाएँ हैं। "हंग्री स्टोन्स", या "माशी" जैसी टैगोर की अन्यान्य कहानियाँ भी महत्वपूर्ण हैं। के० एस० वेंकटरमणी एक अन्य दिलचस्प उपन्यासकार हैं। उनकी दृष्टि-शक्ति (कल्पना-शक्ति) बड़ी तीक्ष्ण थी। ग्राम्य-जीवन के लेखक शंकरराम महान कलाकार हैं। इनका गद्य सरल, प्रभावपूर्ण तथा स्पष्ट है। जी० के० चेत्तूर तथा एस० के० चेत्तूर दोनों भाई चतुर कहानी-लेखक हैं। मस्ती वेंकटेश आयंगर (कन्नड़) प्रसिद्ध उपन्यासकार तथा कवि हैं। आजकल मुल्कराज आनन्द तथा आर० के० नारायण के उपन्यास यूरोप तक में विख्यात हैं। आनन्द पूँजीवादी समाज की भर्त्सना करने के उद्देश्य से लिखते हैं और वे पददलितों की दशा का सच्चा चित्रण करते हैं। "कुली" तथा "दि अनटचेबिल" नामक उपन्यासों में उन्होंने ऐसा ही चित्र प्रस्तुत किया है। नारायण उपदेशक नहीं किन्तु उज्ज्वल कलाकार हैं। अन्य उपन्यासकारों में पंचपाकेश ऐयर, शान्ता देवी, सीता देवी, चिन्तामणि, अहमद अली तथा राजाराव प्रसिद्ध हैं।

साहित्यालोचना, जीवन चरित्र तथा निबन्ध लेखक के क्षेत्र में, एन० के० सिद्धान्त, डा० अमरनाथ झा, प्रोफेसर वी० के० अयप्पन पिल्लई, डा० के० आर० श्रीनिवास आयंगर, प्रोफेसर एन० भट्टाचार्य, डा० सी० नारायण मेनन, डा० अमिय चक्रवर्ती, के० स्वामीनाथन तथा श्री अरविन्द सरीखे प्रसिद्ध साहित्यालोचक; के० ईश्वरदत्त, प्रो० पी० ए० वाडिया, प्रो० के० आर० एस० आयंगर, महात्मा गाँधी तथा जवाहर लाल नेहरू प्रसिद्ध जीवन चरित्र लेखक तथा सुब्रमण्य ऐयर, रमण एवं चटर्जी, सच्चिदानन्द सिन्हा, के० सी० राय, सी० वाई० चिन्तामणि, एन० सी० केलकर तथा के० नटराजन प्रसिद्ध निबन्धकार तथा पत्रकार हैं। "हिन्दू" के एस० वी० वी० रंगस्वामी तथा के० ईश्वरदत्त हास्य रस के प्रसिद्ध लेखक हैं। दार्शनिक तथा धार्मिक विषयों के लेखकों में स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द, एस० राधाकृष्णन, डा० एस० एन० दास गुप्ता तथा सोफिया वाडिया प्रसिद्ध हैं। इतिहास के क्षेत्र में सर यदुनाथ सरकार, के० एम० पणिक्कर, सरदेसाई तथा राधाकुमुद मुकर्जी तथा अर्थशास्त्र में वकील तथा राधाकमल मुकर्जी प्रसिद्ध हैं। देश में ऐसी कई संस्थाएँ भी हैं जो हमारी सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। इनमें "सर्वेन्टस आफ इन्डिया सोसाइटी,

(इंडिया), आल इंडिया प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन, गंगानाथझा रिसर्च इंस्टीट्यूट (इलाहाबाद), इंडियन इंस्टीट्यूट आफ कल्चर (बंगलौर), इंस्टीट्यूट आफ फिलासफी अमलनेर (पूर्वीखानदेश) तथा नागरी प्रचारिणी सभा बनारस प्रसिद्ध हैं। अब हम भारत-आँगल साहित्य के सर्वश्रेष्ठ प्रति-भावना को व्यक्त करने वाले श्री अरविन्द की कुछ रचनाओं (कृतियों) पर प्रकाश डालते हैं। श्री अरविन्द भी सबसे अधिक बहुमुखी, सबसे अधिक चमकीले तथा अंग्रेजी कविता के सर्वाधिक सफल लेखक और अंग्रेजी गद्य के सर्वश्रेष्ठ पंडितों में हैं।"[१५] श्री अरविन्द की मुख्य कृतियाँ (गद्य में) "दिलाइफ डिवाइन," "एसेज आफ दि गीता", "दि सिन्थेसिस आफ योग," "दि फ्यूचर पोएट्री," "दि ह्यूमन साइकिल," "दि आइडियल आफ ह्यूमन यूनिटी" तथा ए डिफेन्स आफ इंडियन कल्चर" एवं पद्य में "कलेक्टेड पोएम्स एंड प्लेज" (दो भाग), "सावित्री" तथा कुछ फुटकर रचनाएँ हैं।

श्री अरविन्द काफी समय तक इंगलैंड में रहे थे और वे लैटिन, ग्रीक आदि कई यूरोपीय भाषाओं के विद्वान् थे। बड़ोदा में अंग्रेजी के प्राध्यापक के रूप में वे (भारत में) निरंतर साहित्य-सेवा करते रहे थे। इन कारणों से वे ईश्वरीय शक्ति प्राप्त गद्यलेखक हो गये थे। वे भाषा के जन्मदाता पंडित हैं; क्योंकि वे शब्दों को संक्षिप्त रूप तथा उदारतापूर्वक बिखेर देते हैं; वे देखने में वाक्यचपल तथा प्रभाव में पक्के हैं; और इतने पक्के साहित्यिक कलाकार हैं कि उनकी कला में सदैव कला का मूल निहित रहता है और उनकी कला सुन्दर ढंग से बनाए गए हीरे के समान रहती है।" "अपने विचारों को प्रकट करने का श्री अरविन्द का विशेषतापूर्ण साधन कविता तथा उसकी इतनी सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण शैली है जिसे देख कर बर्टन, ब्राउन, लैम्ब तथा लैन्डर सरीखे अंग्रेजी के विद्वानों का स्मरण हो आता है।"[१६] इनकी रचनाओं में पेंच और सन्तुलन, रंग और रूपक, तीक्ष्णता तथा व्यंग, दृढ़ता और तीक्ष्णता है। यहाँ पर हम उनकी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं:—
ऐसी कौन सी नयी वस्तु है जिसे अभी हमें प्राप्त करना है! प्रेम, क्योंकि अभी तक हमने केवल घृणा तथा आत्म-तोष प्राप्त किया है; ज्ञान, क्योंकि अभी तक हमने केवल भूल, बोध और विचार प्राप्त किया है; परमानन्द, क्योंकि अभी तक हमने केवल आनन्द, कष्ट और उदासीनता प्राप्त की है; शक्ति, क्योंकि अभी तक हमसे केवल दुर्बलता और प्रयत्न तथा पराजित विजय पाई है; जीवन, क्योंकि अभी तक हमने केवल जन्म, वृद्धि और मृत्यु को प्राप्त

किया है; एकता, क्योंकि अभी तक हमने केवल युद्ध सम्मिलन को प्राप्त किया है। एक शब्द में, अपने को पुनः दैवी प्रतिमा के रूप में बनाने के लिए, देवता।" [१७] श्री अरविन्द उस प्रश्न का उत्तर देते हुए जो अनातोले फ्रान्स के "Dieux Out Soif" में ब्रोटियोक्स द्वारा ईश्वर के सम्बन्ध में किया है कहते हैं वह प्रश्न इस प्रकार है:—"यदि ईश्वर बुराई का निवारण कर सकता तो वह ऐसा कर देता, किन्तु वह ऐसा न कर सका, या वह ऐसा कर सकता था किन्तु उसने किया नहीं, या न वह कर सकता था और न उसने किया या वह कर सकता और कर देता। यदि वह कर देता पर कर न सका, तो इसका अर्थ है कि वह पुरुषत्वहीन है; यदि वह कर सकता था पर करता नहीं, इसका अर्थ है कि वह हठीला है; यदि वह न कर सकता है और न करता है तो वह पुरुषत्वहीन और हठीला है; यदि वह कर सकता है और करता है, तो वह संसार में (पृथ्वी पर) ऐसा क्यों नहीं करता? "(श्री अरविन्द उत्तर देते हैं)" कहा जाता है कि ईश्वर अनातोले के पास आया उसने कहा—"मैं कहता हूँ, अनातोले, कि तुम जानते हो कि तुमने अच्छा खासा मजाक किया है; लेकिन मेरे न हस्तक्षेप करने का एक अच्छा खासा कारण है। तर्क आया और उसने मुझसे कहा—देखो, तुम दुनियाँ को यह धोखा क्यों देते हो कि तुम्हारा अस्तित्व है। तुम जानते हो कि न तो तुम हो और न कभी रहे, या यदि तुम हो भी तो तुमने अपनी सृष्टि का ऐसा गड़बड़ कर रखा है कि अब हम तुम्हें सहना नहीं कर सकते। हम यदि तुम्हें अपने रास्ते से निकाल देंगें तब इस पृथ्वी पर सब कुछ ठीक हो जायगा। इस पर मैंने जवाब दिया—मेरी पुत्री विज्ञान और मैंने आपस में यह तै किया कि सृष्टि का प्रधान मनुष्य सम्मानित रूप में, स्वतंत्र और समान रूप से, भाई-भाई के रूप और प्रजातांत्रिक ढंग से अपनी गाड़ी चलायेगा, वह अपने को छोड़ कर किसी पर भी निर्भर नहीं रहेगा, दुनियाँ में कोई भी चीज उससे महान् न होगा······? अधिकांशतः, लगभग वैसा ही हुआ, अनातोले, और मैं इससे इतना अधिक प्रभावित हो गया······कि मैंने तुरन्त सब काम-धाम करना छोड़ दिया और अवकाश ले लिया······किन्तु मैं यह क्या सुन रहा हूँ? मुझे ऐसा प्रतीत नहीं होता कि तर्क ने विज्ञान की सहायता से भी अपने कथन के अनुसार कार्य किया है। और यदि नहीं, तो क्यों नहीं? क्या इसलिए कि उसने करना नहीं चाहा या इसलिए कि वह कर नहीं सका? या इसलिए कि न उसने चाहा और न वह कर सका?

या इसलिए कि वह करना चाहता था और कर सकता था पर किसी कारण से नहीं किया ? और मैं बताता हूँ अनातोले, कि तर्क और विज्ञान की सन्तानों–राज्य, औद्योगिकवाद, पूँजीवाद तथा अन्य––की अद्भुत शक्ल है; ये बुद्धि की समस्त शक्तियों तथा विज्ञान के समस्त शस्त्रास्त्रों एवं संगठनों से सुसज्जित भयंकर दानव सरीखे दिखाई पड़ती हैं। फिर भी ऐसा मालूम पड़ता है कि राजाओं और धर्मों के अधीन मानवता जितनी स्वतंत्र रही उससे अधिक स्वतंत्र इसके अधीन नहीं रही !! यह क्या हो गया ? या, क्या यह सम्भव है कि तर्क सर्वश्रेष्ठ और अजेय नहीं है और इसने अपना गड़बड़ उससे भी अधिक कर रखा है जितना मैं स्वयं कर सकता था ।"[१८]

उक्त पंक्तियों में कितनी उपहासपूर्ण तथा व्यंगपूर्ण कहानी चित्रित है।

काव्य––भावी काव्य–में श्री अरविन्द बेजोड़ हैं। वे काव्य को भावी काव्य कहते थे। उनके अनुसार भावी काव्य हमारे महानतर, पूर्ण तथा अपरिमित अस्तित्व का सुरीला उच्चारण तथा आवाज होगा और वह हमें दृढ़ तथा अपार ज्ञान, अध्यात्मिक तथा जीवनदायक आनन्द के वृहत श्वाँस की शक्ति देगा। काव्य-क्षेत्र में श्री अरविन्द ने तीन अनुपम तथा अनोखी वस्तुएँ प्राप्त की थीं । "प्रथमतः, उन्होंने अनेकानेक अतुकान्त कविताएँ लिखी हैं––इस प्रकार के कवि उँगलियों पर गिने जा सकते हैं । कुछ वर्षों पूर्व प्रकाशित "कलेक्टेड पोएम्स एंड प्लेज" की कम से कम ५,००० पंक्तियों में अद्भुत तथा अनुपम सौन्दर्य एवं शक्ति है । इन पंक्तियों ने उन्हें "कीट्स" की श्रेणी में पहुँचा दिया है । वृहत वीरगाथा "सावित्री" में लगभग २५,००० पंक्तियों की अतुकान्त कविता है। यह चमत्कारपूर्ण काव्य है और इसने श्री अरविन्द को सर्वश्रेष्ठ (चोटी के) कवियों की पंक्ति में पहुँचा दिया है । किन्तु असाधारण बात यह है कि इन पंक्तियों में ऐसे माध्यम से की गई सफल रचना है जिसे अंग्रेज कवि तक नहीं पा सके थे। वह माध्यम है संख्याबद्ध पद–रचना (quantitative matre) । तीसरी विशेषता यह है कि उन्होंने न केवल विचित्र छन्द को ही प्रकट किया है अपितु प्रेरित चेतनता, जिसके हम अभी तक अभ्यस्त हैं, की सीमा के परे काव्यमय जीवन को नग्न रूप में प्रस्तुत कर दिया है······ श्री अरविन्द काव्य के नये "वैदिक तथा औपनिषदिक युग के" स्रष्टा हैं।"[१९]

आयंगर ने भी यह लिखा है कि "छंदों के कारीगर के रूप में श्री अरविन्द भारत-आंग्ल साहित्य में बेजोड़ हैं" और "ईट्स" (Yeats) का कथन है कि 'अरविन्द अंग्रेजी में रचनात्मक रूप में लिखने वाले एकमात्र भारतीय कवि थे'।

अतः, यह कहा जा सकता है कि श्री अरविन्द के साथ ही भारत-आंग्ल साहित्य अपनी किशोरावस्था को पार कर के पूर्ण युवा हो गया था। इस साहित्य के विषय में प्रोफेसर एन. के. सिद्धान्त ने जो विचार व्यक्त किए हैं वे विचारणीय हैं:—"परन्तु, जहाँ तक योग्यता एवं विशेषता का प्रश्न है, यदि विदेशों के आलोचकों द्वारा निर्धारित स्तरों की दृष्टि से हम अपने साहित्य पर विचार करें, तो, मेरा विश्वास है कि हमारे लिए डरने की कोई बात नहीं है।" आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास का अध्ययन हो चुका है। अब हम भारत के वैज्ञानिक विकास का वर्णन करते हैं।

आधुनिक भारत में विज्ञान

प्राचीन काल में भारत में वैज्ञानिक ज्ञान का खूब विकास हुआ था, परन्तु, मध्यकाल में, इस ज्ञान की प्रगति अवरुद्ध हो गई थी। इसके कारण ये थे:—इस देश के बहुसंख्यक स्वतन्त्र नहीं रह गए थे, राजकीय संरक्षण नहीं था, विदेशी आक्रमण हो रहे थे तथा देश के अन्दर गड़बड़ी हो रही थी, प्राचीन जीवन शक्ति समाप्त हो गई थी, सन्यासवाद आ गया था और भौतिक सुख के विषय में चिन्ता करने की अनिच्छा पैदा हो गई थी, विदेशी शासन के विरुद्ध रक्षात्मक यन्त्र के रूप में भक्तिवाद प्रचलित हो गया था, फलस्वरूप अन्य हित उपेक्षित थे, विदेशी-यात्राओं पर रोक लग गई थी और इसके फलस्वरूप हमारा उस वैज्ञानिक प्रगति से सम्पर्क नहीं रह गया था जो पश्चिम में हो रही थी, तथा सामन्तवादी साम्राज्यवाद का विकास जिसने सारी शक्ति और प्रतिभा को केन्द्रित कर लिया था और शक्ति ही सब की पूज्य हो गई थी।

किन्तु पश्चिम से हमारा जब सम्पर्क हुआ तब उसने हमारी उत्सुकता को जागृत कर दिया और उसी ने भारतीय वैज्ञानिक प्रगति के पुनर्जन्म को उत्तेजित किया। फिर भी १९ वीं शताब्दी तक वैज्ञानिक प्रगति महत्वपूर्ण नहीं थी, क्योंकि राज्य का संरक्षण नहीं था। लेकिन व्यक्तिगत प्रयास का

अभाव नहीं था और यह दिखाया जा चुका है कि भारतीयों में विज्ञान की भी प्रतिभा है। प्रथम महान वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बोस ने सन् १८९६ में छोटे बे तार के तार (Short wave wireless) का प्रदर्शन कर के तथा बाद में यह आविष्कार कर के, कि पशुओं की भाँति पौधों में भी उत्तेजनाएँ होती हैं, और वे भी उत्तेजना का प्रत्युत्तर देते हैं, सम्पूर्ण विश्व को चकित कर दिया। उनके आविष्कार वेदों के इस सत्य को प्रकट करते हैं कि सारी प्रकृति एक है। कई संस्थाओं द्वारा विज्ञान सम्बन्धी अनुसन्धान किए जा रहे हैं। इनमें "दि इण्डियन इंस्टीट्यूट आफ साइन्स" (बंगलौर) प्रसिद्ध है। टाटा ने सन् १९११ में इसकी स्थापना की थी। सन् १९३१ में सर सी० वी० रमण इसके डाइरेक्टर थे। श्री रमण भौतिक विज्ञान सम्बन्धी अपने आविष्कारों पर सन् १९३० में नोबुल पुरस्कार पाने वाले प्रथम एशियाई तथा भारतीय थे। विद्युत सम्बंधी उनके आविष्कारों की मान्यता के फलस्वरुप यह पुरस्कार उन्हें दिया गया था। इनकी प्रतिभा आश्चर्यपूर्ण तथा बहुमुखी है। इस समय हमारे देश में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त अनेक भारतीय वैज्ञानिक हैं। इसमें सर सी० वी० रमण, वर्तमान भारत सरकार के औद्योगिक तथा वैज्ञानिक अनुसंधान विभाग के डाइरेक्टर सर शांतिस्वरूप भटनागर, कलकत्ता विश्वविद्यालय के शुद्ध भौतिक विज्ञान के प्राध्यापक एस० एन० बोस, सन् १९४३ में शिकागो विश्व विद्यालय के एस्ट्रोफिजिक्स के प्राध्यापक चंद्रशेखर (इन्होंने स्टेलर डाइनमिक्स में आविष्कार किए हैं) ड्रग रिसर्च लेबोरेटरी काश्मीर के डाइरेक्टर आर० एन० चोपड़ा, टेकनालाजिकल इंस्टीट्यूट खड़गपुर के डाइरेक्टर सर जे० सी० घोष, नेशनल फिजिकल लेबोरेटरी आफ इण्डिया के डाइरेक्टर सर के० एस० कृष्णन, भारत सरकार के आँकड़ा सलाहकार महलानोबिस, कलकत्ता विश्व विद्यालय के भौतिक विज्ञान के प्राध्यापक मेघनाद साहा तथा बंगाल केमिकल एण्ड फार्मास्यूटिकल वर्क्स (कलकत्ता) के संस्थापक तथा रसायन-शास्त्र के विशेषज्ञ स्वर्गीय पी० सी० राय प्रसिद्ध हैं।

इस क्षेत्र में सरकार भी सहायता देती आ रही है और सन् १९४७ के पूर्व इम्पीरियल एग्रीकलचरल रिसर्च इंस्टीट्यूट, फारेस्ट रिसर्च इंस्टीट्यूट, आल इण्डिया इंस्टीट्यूट आफ हाइजिन एण्ड पब्लिक हेल्थ, पेस्चर इंस्टीट्यूट, मैलेरिया इंस्टीट्यूट तथा इण्डियन रिसर्च फंड एसोसिएशन जैसी कई वैज्ञानिक तथा टेकनिकल संस्थाएँ (राजकीय) थीं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हमारे

देश में और अच्छी संस्थाएँ क़ायम हो गई हैं। विज्ञान के क्षेत्र में और अधिक प्रगति हुई है और विज्ञान के अनेक रूप हो गए हैं। केन्द्र तथा राज्यों की सरकारों ने भारत भर में वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं का जाल बिछा दिया है। इन संस्थाओं में नेशनल फिजिकल लेबोरेटरी (दिल्ली), नेशनल केमिकल लेबोरेटरी (पूना), नेशनल मेटलर्जिकल लेबोरेटरी जमशेदपुर), फ्यूएल रिसर्च इंस्टीट्यूट (झरिया), इण्डियन इंस्टीट्यूट आफ टेकनोलाजी (हिजली—बंगाल), मद्रास इंस्टीट्यूट आफ टेकेनोलाजी, इंस्टीट्यूट आफ रेडियो--फिजिक्स एण्ड इलेक्ट्रानिक्स (कलकत्ता), सेन्ट्रल ग्लास एण्ड सेरामिक रिसर्च इंस्टीट्यूट (कलकत्ता), सेन्ट्रल लेदर रिसर्च इंस्टीट्यूट (मद्रास), सेन्ट्रल फूड टेकनोलाजिकल रिसर्च इंस्टीट्यूट (मैसूर), सेन्ट्रल ड्रग रिसर्च, इंस्टीट्यूट (लखनऊ), सेन्ट्रल बिल्डिग रिसर्च इंस्टीट्यूट (रुड़की) तथा सेन्ट्रल पोटैटो (आलू) रिसर्च इंस्टीट्यूट (पटना) उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त दामोदर घाटी योजना, हीराकुंड बांध, तुङ्गभद्रा बाँध, रिहन्द बांध, मोर बाँध और कोसी नदी बांध आदि जल—विद्युत तथा नदी घाटी की योजनाएँ भी चल रही हैं। इन सब योजनाओं के फलस्वरूप, हम यह कह सकते हैं कि, भारत की वैज्ञानिक प्रगति, वास्तव में, अब प्रारम्भ हुई है और इनके परिणामस्वरूप भारतीय जनता का भौतिक कल्याण हो सकता है।

आधुनिक काल में "भारतीय पुनरोदय" का वर्णन समाप्त हो गया है। अब केवल यह देखना बाकी है कि हमने कितनी प्रगति की है और कहाँ हम सबसे अधिक कमजोर रहे हैं।

धर्म के क्षेत्र में हमने उस अनीश्वरवाद को रोक दिया जो पश्चिमवाद से हिन्दूधर्म के सम्पर्क का तात्कालिक परिणाम था और जिसका प्रसार तीव्र गति से हो रहा था। इस अनीश्वरवाद के स्पष्ट प्रतीक हिन्दू कालेज के छात्रों के "हिन्दू धर्म का नाश हो! रूढ़िवादिता-सनातन धर्म-का नाश हो!" के नारे थे। रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, दयानंद, रमण महर्षि तथा श्री अरविन्द ने हमारे धर्म के आभ्यान्तरिक तथ्य को निकाल कर जनता के सामने रख दिया था बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में नयी पीढ़ी हमारे धर्म (विश्वास) तथा अतीत की निन्दा नहीं करती थी। यह सच है कि आज हम पुनः बिना धर्म के हो गये हैं किंतु यह दुःखद स्थिति विश्व

भर में है। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हमारे देश की जनता अब भी अपने धर्मों के बंधन में बँधी है और इसका महत्व आगे चलकर होगा। इसके अतिरिक्त बुद्धिवादी लोग तक उस समय धर्म की वास्तविक महत्ता की क़द्र करेंगे जबकि समस्त संसार अखंड आध्यात्मिकता—धर्म का मूल-की ओर आकर्षित हो जायगा। और आध्यात्मिकता की ओर समस्त विश्व को आकर्षित करने के कार्य में उस अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय का योगदान महत्वपूर्ण तथा प्रमुख होगा जिसकी स्थापना श्री अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी, में की जा रही है। यह विश्वविद्यालय विश्व का आध्यात्मिक दीपागार होगा।

सामाजिक क्षेत्र में भी विभिन्न प्रकार की जो असमानताएँ तथा अंतर हैं वे तीव्र गति से समाप्त हो रही हैं। उनको वह सैद्धांतिक महत्व अब नहीं दिया जाता जो कि अतीत में दिया जाता था। महिलाएँ अपनी स्थिति में आ रही हैं; अस्पृश्य जातियों में आन्दोलन हो रहा है और उनमें आत्म-विश्वास आ रहा है तथा पिछड़े हुए वर्गों को सहानुभूति प्राप्त हो रही है। आर्थिक क्षेत्र में सामतंवाद का अंत हो गया है और उसके स्थान पर (विशेषतः शहरों तथा ब्रिटिश भारत में) पूँजीवाद आ गया है। स्वतंत्रता के बाद जमींदारी का उन्मूलन हो गया है तथा सामतंवाद के अवशेष देशी रियासतें भी भारत में मिल गयी हैं। हमारी सबसे अधिक गंभीर समस्या आर्थिक निर्धनता की है जो अभी तक नहीं हल हो पायी है किंतु स्वतंत्रता-प्राप्ति के फलस्वरूप इस संबंध में भी हमारा भविष्य उज्जवल हो गया है। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हमारी अनुभव-हीनता तथा विदेशी सरकार के असहानुभूतिपूर्ण रूख के कारण भारतीय पूँजीवाद ने कुछ बुराइयाँ पैदा कर दी हैं जो कि स्वाभाविक नहीं हैं। गरीबी के प्रति हमारी सूक्ष्म सतर्कता यह होनी चाहिए कि हम देखें कि सबके प्रति न्याय अवश्य किया जाय। कलाओं के क्षेत्र में भी नए-नए स्रोत खुल गये हैं और हैवेल, अवनीन्द्रनाथ तथा आनंद कुमारस्वामी ने हमारी कलात्मक विरासत की प्रशंसा की है। अब यही एक समस्या रह गयी है कि जनता में सौन्दर्यग्राही भावना कैसे पैदा की जाय और पूर्व तथा पश्चिम में सन्तुलित समता कैसे लाई जाय। साहित्य के क्षेत्र में भी इस युग ने समस्त भारतीय साहित्यकारों का प्रशंसनीय विकास किया है। किसी समय हम पश्चिम के लिए उपहास की वस्तु थे परंतु अब नहीं है। हमने पश्चिम की नक़ल भी की है किंतु पश्चिम की अच्छाई विश्वव्यापी है।

इसका कोई कारण नहीं है कि हम पश्चिमी साहित्य की धाराओं से प्रभावित न हों बशर्ते कि हम अपना निजत्व न खो दें और केवल पश्चिम के नक़ल करने वाले मात्र न बन जांय। विज्ञान के क्षेत्र में भी हमने बड़ी-बड़ी बाधाओं के रहते हुए भी प्रगति की है और यह सिद्ध हो चुका है कि यदि पर्याप्त धन और सुविधाएँ हों तो भारत वैज्ञानिक विकास का नेता हो सकता है।

परन्तु हमारी असफलताएँ भी रही हैं। हम दर्शन, निर्माण-कला तथा नाट्य कला में उतना विकास नहीं कर पाये हैं जितना कि हमने अन्य क्षेत्रों में किया है। संभवतः हम यह कह सकते हैं कि इन असफलताओं का एक सामान्य कारण है। इन सबके लिए समन्वयात्मक दृष्टिकोण आवश्यक है। दर्शन समस्त कलाओं तथा समस्त विज्ञानों का समन्वय है। निर्माण-कला सभ्यता की गर्भस्थली है। नाट्य-कला, संगीत-कला, नृत्य-कला, चित्र–कला आदि सब कलाओं का मेल-मिलाप है। परन्तु, हमारा यह युग विश्लेषण, तर्क और विज्ञान का युग है जिसमें सिद्धांतों और कल्पनाओं का बाहुल्य है, परन्तु मतैक्य, एकरूपता अथवा समता नहीं है। अतः हमें एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण बनाना चाहिए। दर्शन के क्षेत्र में हमें न केवल सिद्धांतवादी या पश्चिम के आलोचक अपितु वैसा ही रहस्यदर्शी बनना है जैसा कि प्राचीन काल में हमारे ऋषि-मुनि थे। भारतीय दर्शन का अतीत में इसलिए विकास हुआ था क्योंकि हमारे दार्शनिकों ने वैसा ही प्रकट किया था जैसा कि उन्होंने अनुभव किया था या अपनी आध्यात्मिक दृष्टि से देखा था और इसलिए हमारे दर्शन "दर्शन" (जो देखा गया है) कहे जाते थे। दर्शन सत्य के लिए अनुसंधान है और उसकी सत्यता निश्चित होने तथा उसका स्थायित्व निश्चित होने के पूर्व सत्य का अस्तित्व अवश्य होगा।

अब, निर्माणकला के लिए समस्त कलाओं का एक रूपी ज्ञान तथा किसी जाति की आत्मा में सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि आवश्यक होती है। प्राचीन काल में हमारी निर्माण कला का विकास इसलिए हुआ था क्योंकि हमारी जाति उस समय पूर्णतः जीवित थी और हमारे (निर्माण) कलाकार योगी और रहस्यदर्शी थे। श्री अरविन्द के शब्दों में "कला यूरोप तथा एशिया में दो पृथक धाराओं में प्रवाहित हुई है; सर्वश्रेष्ठ यूरोपीय कला सौन्दर्यग्राही भावना की भौतिक आवश्यकताओं, सौंदर्य के लौकिक नियमों, मानवता की भावपूर्ण

माँग और जीवन तथा वाह्य यथार्थता के चित्रण को सन्तुष्ट करती है; किंतु सर्वश्रेष्ठ भारतीय कला इन सबके परे पहुँच जाती है और आभ्यान्तरिक आध्यात्मिक सत्य को प्रकट करती है; वह वस्तुओं की सूक्ष्म यथार्थता को प्रकट करती है तथा वह संसार में ईश्वर के आनन्द को, उसके सौंदर्य को तथा इस वैचित्र्यपूर्ण सृष्टि में दैवी शक्ति के प्रकाश को प्रकट करती है।" [२०] हमारे आधुनिक कलाकार अभीतक अपने पैर नहीं जमा पाये हैं और संभवतः वे तब तक ऐसा न कर पायेंगे जब तक कि हम बिना धर्म के हैं।

हमारी नाट्य कला मृत, प्रभावहीन तथा सौंदर्यहीन हो गई है। चलचित्रों से इसे बड़ा धक्का लगा है किन्तु यदि हमारा दृष्टिकोण समन्वयात्मक हो जाय तो हमने इस क्षेत्र में जो खोया है उसे पुनः प्राप्त किया जा सकता है। अतीत की काल्पनिक दृष्टि या पश्चिम के अन्धानुकरण से इसका पुनर्जन्म न होगा। इसके लिए हमें सही ढंग से कुछ प्रयत्न करने होंगे। टैगोर का शान्ति निकेतन, इंडियन नेशनल थियेटर, बंबई, तथा पृथ्वीराज अपनी कलाओं में समन्वयकारी प्रयास कर रहे हैं। पूर्वी विषय तथा पश्चिमी कलाओं (टेकनिक) का सम्मिश्रण किया जा रहा है। छोटे-छोटे नाटक, रास तथा नृत्य अभिनीत किये जा रहे हैं। ये छोटे-छोटे नाटक या रास हमारी संस्कृति की आत्मा के प्रतीक हैं और इन्हें खूब सफलता मिल रही है क्योंकि इनमें हमारे कलाकार अपने सच्चे रूप में आते हैं। अस्तु, हमारे आधुनिक पुनरुत्थान का सबक़ यह है कि हम अपनी संस्कृति और उसके आधार अखंड आध्यात्मिकता के प्रति सच्चे रहें।

संक्षेप में:—"ग्रीस ने चरम सीमा तक बौद्धिक तर्क और समतापूर्ण सौंदर्य तथा रूप का सूक्ष्म ज्ञान विकसित किया, रोम ने शक्ति, सत्ता, देश-भक्ति, कानून और व्यवस्था की सुदृढ़ नींव डाली, आधुनिक यूरोप ने व्यवहारिक तर्क, विज्ञान, योग्यता और आर्थिक क्षमता की उन्नति की और भारत ने मनुष्य की अन्य शक्तियों पर काम करने वाले तथा सब शक्तियों में श्रेष्ठ आध्यात्मिक मस्तिष्क, सूक्ष्म तर्कशक्ति, धार्मिक आत्मा द्वारा प्रचारित धर्म की दार्शनिक समता तथा अनन्त और नैसर्गिकता के सूक्ष्म ज्ञान को विकसित किया।" [२१] इस समय भारतीय पुनरुत्थान का जो नया अध्याय प्रारम्भ हो रहा है उसका यह कर्तव्य है कि वह इन बातों का और अधिक व्यापक विकास करे और नवीन शक्तियों का विकास करे।

१—"दि ह्यूमन साइकिल"—श्री अरविन्द पृष्ठ २२४-२२५
२—दि कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया (वालूम II) पृष्ठ ५३९
३—इंडिया टु-डे आर० पामदत्त, पृष्ठ २५
४—ट्रेवेल्स इन इंडिया (वालुम I)-आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ २३८
५—दि माइग्रेशन आफ ब्रिटिश कैपिटल—एल०एच० जेंक्श—पृष्ठ २२३-२२४
६—दि वेल्थ एंड टैक्सेबिल कैपेसिटी आफ इंडिया—शाह एंड खंबाता —पृष्ठ २५३
७—एमंग दि ग्रेट—दिलीपकुमार राय—पृष्ठ ५०
८—कन्टेम्पोरेरी इंडियन पेन्टर्स—जी० वेंकटाचलम-पृष्ठ ११७-१२०
९—यूनिवर्सिटी एजुकेशन कमीशन रिपोर्ट (१९४९)—पृष्ठ ६७
१०—दि ह्यूमन साइकिल—श्री अरविन्द—पृष्ठ २५८
११—लिटरेचर एंड आथरशिप इन इंडिया—के० आर० श्री निवास आयंगर पृष्ठ—२८
१२—दि इंडियन लिटरेचर्स आफ टुडे—पी० ई० एन० से प्रकाशित पृष्ठ—३९
१३—लेखक गुजराती साहित्य के विषय में दिये हुए उपरोक्त लेख में श्री राज्यपाल कन्हैयालाल मणिकलाल मुंशी द्वारा प्रस्तुत सामग्री के प्रति अति अभारी हूं।
१४—इंडों—एंग्लियन लिटरेचर्स—डा० के० आर० श्रीनिवास आयंगर पृष्ठ—२३।
१५—आइबिड—पृष्ठ—२५५-२५६
१६—आइबिड—पृष्ठ—२६४
१७—एमंग दि ग्रेट—दिलीपकुमार राय—पृष्ठ २५१-५३
१८—दि पोएटिक जीनियस आफ श्री अरविन्द—के०डी० सेठना—पृष्ठ २-३
१९—दि नेशनल वैल्यू आफ आर्ट्स—पृष्ठ ४६-४७
२०—"आर्य VI"—पृष्ठ २२४-२५

अठारहवाँ अध्याय

पश्चादावलोकन

हमने विभिन्न युगों से गुजरती हुई भारतीय संस्कृति का चित्र की भांति अध्यापन कर लिया है। हमने इस बात पर जोर दिया है कि हमारी संस्कृति आध्यात्मिक सत्य से संबंधित विभिन्न प्रकार के गंभीर परीक्षण (प्रयोग) प्रकट करती है। भारत की आत्मा वेदों, उपनिषदों तथा गीता की विश्व-व्यापी और रचनात्मक आध्यात्मिकता में निहित है। यह संसार आत्मा का प्रकाश है और प्रकृति तथा जीवन इस आत्मा को भूत में अवतरित करने के प्रगतिशील प्रयास में संलग्न हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति का यही सन्देश था। इस बात की पुष्टि के लिए हम प्राचीन ग्रन्थों के निम्नांकित लेख उद्धृत करते हैं:—

"इस विश्व में जो ईश्वरीय शक्ति है उसके सबसे श्रेष्ठ जन्म तिगुने हैं, तीन प्रकार के हैं, वे सच्चे हैं, वे वांछनीय हैं ; वह इस "अनन्त" के अन्दर प्रकट रूप में चलता-फिरता है और बिजली के समान चमकता रहता है.........जो मरने वाले प्राणियों में अमर है और जिसमें सत्य है वह देवता है और हमारी दैवी शक्तियों में करने वाली शक्ति के रूप स्थापित है......ओ शक्ति ! ऊँची हो, उन्नत हो, सब आवरणों को हटा दे और हम लोगों में ईश्वर के पदार्थों को प्रकट कर दे।"[1]

"प्रकृति के उसी वृक्ष पर बैठी हुई आत्मा ध्यानमग्न है और माया जाल में फँसी है और वह दु:खित है क्योंकि वह ईश्वर नहीं है, लेकिन जब वह महानात्मा का और उसकी महानता का दर्शन करती है और उससे उसका एकीकरण हो जाता है तब दु:ख उससे दूर चला जाता है।"[2]

"वह आत्मा महान् है जिसके लिए सब "ईश्वरीय प्राणी" है। ऐसी आत्माएँ इस जगत में बहुत थोड़ी हैं।"[3]

"सभी वस्तुएँ उस 'ईश्वरीय ज्ञान' को अपने आप में प्रकट करने वाली हैं।"[4]

इस प्रकार ईश्वर का ज्ञान जीवन में केन्द्रीय विषय तथा सभी कार्यों का प्रेरक साँचा बना दिया गया था।

किंतु आध्यात्मिकता का लक्ष्य यह नहीं था कि भौतिकता की अच्छाइयों को अस्वीकृत किया जाय। कम से कम ४ हजार वर्ष तक भारतवर्ष संसार को प्रजातंत्र, साम्राज्य, दर्शन, विज्ञान, सिद्धांत, कला, साहित्य, स्मारक, समुदाय, नियम, विधान (कानून), उद्योग, वाणिज्य, विदेश जाने वाले प्रतिनिधिमंडल, योग तथा धर्म आदि भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुएँ देता रहा है। इनमें से प्रत्येक में भारत ने असंख्य स्वरूप दिये। भारतवर्ष ने अपनी सीमाओं के बाहर जूडिया, मिस्र, और रोम से लगे हुए तथा जावा, सुमात्रा, हिन्दचीन तथा लंका में प्रवाहित होने वाले सात समुद्रों के पार भी अपना प्रसार किया। भारतवर्ष के धर्म चीन, जापान, कोरिया, तिब्बत, लंका, नेपाल और बर्मा में गये और वहाँ उनका खूब प्रसार हुआ। भारतवर्ष के दर्शनों ने "नव प्लेटोवाद" को तत्व दिये। इस प्रकार भारत ने यह दिखा दिया कि जब राष्ट्र के लोग जीवित और समृद्ध थे तथा उनके विचारों में गांभीर्य था तभी आध्यात्मिकता का भी खूब विकास हुआ।

मध्यकाल में भी, कम से कम, जीवन के वाह्य तत्वों में हमारी प्रगति हुयी। पर, आध्यात्मिकता के क्षेत्र में ह्रास होता रहा केवल भक्ति आन्दोलन को छोड़कर। हमारी संस्कृति के पतन के फलस्वरूप १८वीं शताब्दी में अन्धकार-युग आ गया था और हमारी कमजोरियों से तथा हमारे ही सैनिकों के द्वारा भारत पर अंग्रेजों की विजय हो गयी। इस सांस्कृतिक पतन के आधारभूत कारण तीन थे। पहला कारण यह था कि सन्यासवाद, जो सांसारिकता को तिरस्कृत करता था और इसके बहुरंगी चमक-दमक को नहीं महसूस करता था, का खूब प्रचार हो गया था और इसके कारण हममें जीवनदायिनी शक्ति का अभाव हो गया था। जीवन को मायाजाल समझने का विचार तथा यह पारलौकिक दृष्टिकोण जनता के कार्यों और विचारों में प्रविष्ट हो गया जिससे जनता में गरीबी और कंगाली आ गयी। दूसरा कारण यह था कि बौद्धिक शक्ति का अभाव हो गया था और इसके फलस्वरूप हमारे वैज्ञानिक, आलोचक तथा सूक्ष्मदर्शी मस्तिष्क में मूर्छा, बेहोशी, आलस्य और नींद आ गयी थी। तीसरा कारण यह कि आध्यात्मिकता को भ्रम के कारण धार्मिकता, परम्परा-वाद और कर्मकाण्डवाद मान लिया गया। हमारे देश में उस समय जो अच्छे-

अच्छे मस्तिष्क थे वे स्वयं को निश्चित करने तथा जनता का नेतृत्व करने में असफल रहे। भक्ति और स्थिरता (शान्ति) धर्म या आध्यात्मिकता का सारतत्व हो गयी।

इसी समय पश्चिम का भारत में आगमन हुआ। उसने यहाँ आकर यहाँ की शांति को भंग कर दिया। उसने हमें ऐसा आवश्यक धक्का दिया जिसने हमें अपने अंधकार का अनुभव कराया और हम जाग उठे। हमारी बुद्धि तथा आलोचक गति को पुनर्जीवन मिला; हमारे जीवन में भ्रम का स्थान नहीं रह गया और हमारी आत्मा पुनरुत्थान की भावना से नहीं वरन् समन्वय की इच्छा से नवीन स्थिति तथा सिद्धांतों का सामना करने के लिए पुनर्जीवित हो गयी। फिर भी स्वतंत्रता के अभाव के कारण आधुनिक काल में हमारी संस्कृति का समुचित विकास न हो सका। परिणामस्वरूप आज स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद भी मतिविभ्रम, खिंचाव, दबाव—अतीत की विरासत—हमारे पीछे लगे हुए हैं। ऐसे भी लोग हैं जो धर्मनिरपेक्ष-वाद को अपना आदर्श मानते हैं किंतु यह आदर्श अकेले जनता को प्रेरणा देने और उसमें सबसे प्रधान रचनात्मक प्रयास की आवश्यक इच्छा पैदा करने के लिए पर्याप्त नहीं है। भारतीय संस्कृति के कथित समर्थक धर्म निरपेक्षवाद के अनुयायियों का विरोध करते हैं। हिन्दू कोड का इन लोगों द्वारा जो विरोध हो रहा है वह उनके संकीर्ण मस्तिष्क का प्रतीक है।

आखिर इस स्थिति से निकलने का क्या उपाय है? श्री अरविन्द का यह सुझाव है कि प्राचीन आध्यात्मिक ज्ञान तथा अनुभव, जो उसी प्रकार पूर्ण और गंभीर हों जैसे पहले थे, को फिर से जागृत किया जाय। इस जागृत आध्यात्मिकता को दर्शन, साहित्य, कला, विज्ञान तथा आलोचक ज्ञान के नये-नये स्वरूपों में प्रवाहित होने दिया जाय। हम भारतीय भावना को देखते हुए आधुनिक समस्याओं को अपने मौलिक उपायों से हल करने का तथा आध्यात्मवाद से प्रभावित समाज में वृहत्तर समन्वय लाने का प्रयास करें। ऐसा करने के लिए सर्वप्रथम हमें यह महसूस करना होगा कि मस्तिष्क तथा उसका पुत्र विज्ञान अकेले संसार की बुराइयों को मिटाने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। दीर्घकाल पूर्व हमारे प्राचीन ज्ञान ने यह बता दिया है कि मस्तिष्क अज्ञानता के हाथ का अस्त्र है और मस्तिष्क के समस्त सिद्धांत एक ओर को झुके हुए (एकतरफे) हैं। मस्तिष्क के स्तर

पर सब संघर्षरत सिद्धांतों का समीकरण नहीं हो सकता। मस्तिष्क के द्वारा मनुष्य जितनी प्रगति कर सकता था उतनी प्रगति वह कर चुका है। इस समय हम यह देखते हैं कि सारी प्रगति की कैसी विरोधी प्रतिक्रिया हो रही है। इसके कारण युद्ध और संकट मानवता के स्थायी रोग हो गये हैं। हमारा दूसरा कार्य एक नवीन चेतना उत्पन्न करना है। परिवर्तन या विकास के लिए नयी उछाल मारना आवश्यक है। प्रगति अन्तरात्मा से ही आ सकती है। "मस्तिष्क सबसे ऊँचा अवश्य है पर उससे भी परे एक मस्तिष्क या सत्य चेतना है जो जागरुक, निश्चित तथा ईश्वरीय ज्ञान की शक्ति है.........इसी उच्चतर मस्तिष्क के द्वारा वह पूर्णता आ सकती है जिसका सबने स्वप्न देखा है और जो मानवता में सबसे ऊँची है।"[१]

उपर्युक्त सुझाव में समाजवादी या साम्यवादी को हमारी आर्थिक समस्याओं का कोई हल नहीं दिखायी देता। हम आर्थिक संकट को हल करने की तात्कालिक आवश्यकता की उपेक्षा नहीं करते। परन्तु आर्थिक समस्याएँ भी केवल उसी समय पूर्ण रूपेण हल हो सकती हैं जब कि मनुष्य वासनाओं, लिप्साओं तथा पशु बुद्धि का शिकार न हो जाय। फ्रायड या जंग के विश्लेषण के बाद तथा अधिनायकों (तानाशाहों) द्वारा जनता पर बलात्कार किए जाने के पश्चात यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि आज मनुष्य ही केन्द्रीय समस्या है। उसमें पूर्णता आने पर ही वाह्य जगत में पूर्णता आ सकती है। अस्तु, आज मानवता का पहला कार्य गंभीर मनोवैज्ञानिक क्रांति करना है।

आध्यात्मिक क्रान्ति में यह विश्वास पश्चिम में भी बढ़ता जा रहा है। आल्डस हक्सले, जेराल्ड हर्ड, क्रिस्टोफर इशरउड तथा जान वान ड्रुटन सरीखे लोग भी यह मानते हैं कि मनुष्य की वास्तविक प्रकृति ईश्वरीय है तथा मानव-जीवन का लक्ष्य इसी ईश्वरीय प्रकृति को प्राप्त करना है। विज्ञान हमारी समस्याओं को हल करने में असफल रहा है। आल्डस हक्सले का मत है कि "हम इस समय विज्ञान की प्रारम्भिक सफलताओं के नशे में नहीं बल्कि उसकी खुमारी भरे प्रातःकाल में हैं, जबकि यह स्पष्ट हो गया है कि विजयी विज्ञान ने अभी तक जो कुछ किया है वह अनुन्नत या वास्तव में ह्रासमान साध्यों को प्राप्त करने के लिए साधनों को विकसित करना मात्र है।"

इसलिए, अब एक नये मनोवैज्ञानिक संयम (सदाचार) तथा अखंड योग के लिए समय आगया है। यह योग हममें नवीन सत्य–चेतना उत्पन्न करेगा। इस समय विश्व भर में ऐसे अन्वेषकों के छोटे–छोटे दल हैं जो ऐसी नवीन ज्योति या नये मार्ग को ढूँढ़ निकालने का प्रयास कर रहे हैं जो प्राचीन सत्यों को नवीन स्वरूप तथा सृष्टि और विकास की अनुपम शक्ति देता है। ये अन्वेषक अखंड पूर्णता प्राप्त करने के बाद शेष विश्व के लिए दीपागार तथा उदाहरण बन जायँगे। और तब विश्व यह महसूस करेगा कि जीवन वास्तव में मनुष्य तथा ईश्वर का सामान्य उद्योग (प्रतिष्ठान) तथा एक प्रकार की साझेदारी का व्यवसाय है तथा मनुष्य एवं ईश्वर–सीमित एवं असीमित-एक प्रकार के रचनात्मक बन्धुत्व के बन्धन में एक साथ बँधे हुए हैं।"

भारत का साँस्कृतिक इतिहास हमें साँस्कृतिक समन्वय, आध्यात्मिक गतिशीलता तथा जीवन की गतियों के सामंजस्य का सन्देश देता है और पूर्व तथा पश्चिम में एक नया समन्वय लाने की ओर विश्व का नेतृत्व करने के लिए भारत का आवाहन किया जाता है। यह नेतृत्व प्रवंचना की भावना से नहीं वरन दीनता और नम्रता की भावना से करना है पर इस दीनता या नमृता को भूल से स्व–पतन न समझा जाना चाहिए। यह कर्तव्य भारत का ही है। क्योंकि केवल उसीका इतिहास यह रहस्य प्रकट करता है कि भारतवर्ष निरन्तर आध्यात्मिक परीक्षणों के लिए विस्तृत प्रयोगशाला रहा है।

"भारतवर्ष के पास ज्ञान की तथा आदर्श को विवेक पूर्वक कार्यान्वित करने की कुंजी है। इसके करने के पहले भारत के लिए जो अन्धकार था वह अब उसे नवीन ज्योति से दीप्तिमान कर सकता है; उसके पुराने तरीकों में जो गलती थी वह अब उसे सुधार सकता है। आध्यात्मिक आदर्श की वाह्य उन्नति की सुरक्षा के लिए उसने जो घेरे बनाए थे और जो अब उसके प्रसार एवं विस्तार में बाधक हो गए हैं उन्हें अब तोड़ सकता है तथा अपनी आत्मा को वह स्वतंत्र क्षेत्र तथा प्रचुर ज्योति दे सकता है। यदि वह चाहेगा तो वह उन समस्याओं को निर्णयात्मक तथा नया रूप दे सकता है जिनको हल करने के लिए सारी मानवता सचेष्ट है और परिश्रम कर रही है, क्योंकि उन समस्याओं के हल की कुंजी भारत के प्राचीन ज्ञान में है। जो नवीन चेतना भारत में आ रही है उसका वह लाभ उठाएगा अथवा नहीं यह उसके भाग्य का प्रश्न है।

१—"वामदेव-ऋग्वेद ।" (४) १, ७; (४) २, १; (४) ४, ५; श्री अरविन्द द्वारा अनूदित ।

२—"श्वेताश्वतार उपनिषद ।" (४) ७-श्री अरविन्द द्वारा अनूदित।

३—"गीता" (७) १९-श्री अरविन्द द्वारा अनूदित।

४—"विष्णुपुराण" (II) १२.३९. श्री अरविन्द द्वारा अनूदित।

५—"एमंग दि ग्रेट"-दिलीपकुमार राय,-पृष्ठ-३६७

६—"दि रेनेसाँ इन इंडिया"-श्री अरविन्द, पृष्ठ-९०

परिशिष्ट "क"

हिन्दू धर्म का क्रमिक विकास

अभी तक हमने हिन्दू धर्म के विभिन्न सिद्धांतों पर विचार किया है किन्तु हमने हिन्दू धर्म के समन्वयात्मक दृष्टिकोण पर अभी तक विचार नहीं किया है। अस्तु, अब हम हिन्दू धर्म के क्रमिक विकास तथा महत्व पर प्रकाश डालेंगे।

हिन्दू धर्म "सबसे अधिक शंका करने वाला तथा सबसे अधिक विश्वास करने वाला (प्रतीतयोग्य) धर्म है, सबसे अधिक शंका करने वाला इसलिए है कि इसने सबसे अधिक तर्क (जिज्ञासा) तथा परीक्षण किये हैं; सबसे अधिक विश्वास करने वाला इसलिए कि इसको गहनतम अनुभव तथा भिन्न-भिन्न प्रकार का ठोस आध्यात्मिक ज्ञान है-यह वह विस्तृत हिन्दू धर्म है जो कोई एक सिद्धांत या सिद्धांतों का मिश्रण नहीं है वरन जीवन की एक विधि है; जो सामाजिक ढांचा नहीं वरन अतीत के और भविष्य के सामाजिक क्रमिक विकास की आत्मा है; जो किसी चीज को अस्वीकृत नहीं करता वरन हर चीज की परीक्षा करने तथा अनुभव करने पर जोर देता है और जब परीक्षण या अनुभव हो जाता है तब उसका आत्मा के लिए उपयोग करता है; इस हिन्दू धर्म में हम भावी विश्व धर्म का आधार पाते हैं।" इसलिए, हिन्दू धर्म उस अनवरत परीक्षण तथा जांच-पड़ताल की उपज है जो आज तक निरन्तर जारी है। हम यहां कुछ उन विशेष कालों का वर्णन करते हैं जबकि हिन्दू धर्म में कुछ सुस्पष्ट परिवर्तन हुए। इन कालो में द्रविड़-काल, आर्य-काल, दर्शन तथा जिज्ञासा का युग, ब्राह्मणवाद के पुनर्जन्म का युग, भक्ति-युग, इस्लाम का प्रभाव तथा आधुनिक युग उल्लेखनीय है।

द्रविड़ों ने हिन्दू धर्म के कई तत्व दिए हैं। ये तत्व जनता में अधिक पाए जाते हैं किन्तु शिक्षित लोग भी, विशेषतः दक्षिण में, उनसे प्रभावित हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि द्रविड़ लोग बहुईश्वरवादी थे और वे कुछ प्रकार के सींगदार जानवरों की भी पूजा करते थे। इससे यह माना जा सकता है कि गौ-पूजा उन्हीं के द्वारा प्रचलित है। सिन्धघाटी के निवासियों

के समान द्रविड़ लोग भी शिव तथा उनकी पत्नी–अर्द्धांगिनी की पूजा करते थे इस प्रकार तंत्र धर्म के कई तत्व द्रविड़ों की विरासत हैं। वृक्ष-पूजा, पशु–पूजा, नाग-पूजा भी सिंध घाटी की सभ्यता में पाई जाती है। हम यह देखते हैं कि आज भी हमारे गाँवों तथा शहरों के लोग वृक्ष, जल, नाग, पशु, शिव तथा उनकी पत्नी आदि इन समस्त तत्वों की पूजा करते हैं। इस प्रकार हमारे कई कर्मकांड द्रविड़ की प्राचीनतम संस्कृति से चले आ रहे हैं। बाद में द्रविड़ों ने हमें शंकराचार्य के अद्वैतवाद का दर्शन, रामानज, माधव और निम्बार्क द्वारा बताए गए भक्ति मत का दार्शनिक आधार, तथा शिव के पीछे छिपे हुए यौगिक विचार दिए हैं। द्रविड़ों ने हमें हरिहर, दत्तात्रेय, अर्धनारीश्वर तथा दक्षिण के मंदिरों में व्यवस्थित मूर्तिपूजा की गूढ़ विचार–धाराएँ दी हैं। हमारी धार्मिक भित्ति उनकी अत्यधिक ऋणी है।

हिन्दू धर्म को प्रभावित करने वाली दूसरी बड़ी शक्ति थी आर्यों का वैदिक धर्म। हिन्दू संस्कृति तथा दर्शन की नींव आर्यों द्वारा रखी गई। आर्यों ने ही हमें वर्णाश्रम धर्म, शुद्ध जाति व्यवस्था, हमारे धार्मिक साहित्य तथा हमारे बहुत से धार्मिक एवं सामाजिक कर्मकांड दिए हैं। आध्यात्मिकता की पूर्ण विचारधारा आर्यों की ही देन है। उन्होंने मनुष्य तथा जीवन में दैवत्य पर जोर देते हुए भौतिकवाद का खंडन नहीं किया। आज हम जिन देवी–देवताओं की पूजा करते हैं उनमें से अधिकांश आर्यों द्वारा पूजित देवी देवताओं से ही लिए गए हैं। आर्यों ने ही हमें एक ईश्वर की विचारधारा तथा इस विश्व और मनुष्य के जन्म के सम्बन्ध में निश्चित सिद्धांत दिए हैं।

इसके बाद दार्शनिक जिज्ञासा का युग आया जो उपनिषदों से प्रारंभ होकर बौद्धधर्म तथा जैनधर्म तक रहा और गीता में दीप्तिमान हुआ। उपनिषदों ने वेदों की पुनर्व्याख्या की तथा हमको ईश्वर जगत और आत्मा की बौद्धिक व्याख्याएँ दीं। उन्हें ये व्याख्याएँ बुद्धि से नहीं बल्कि तपस्या तथा योग से प्राप्त हुई थीं। इसलिए, हिंदूधर्म का दार्शनिक आधार इसी युग का परिणाम है। जैनधर्म तथा बौद्धधर्म ने हमें अहिंसा तथा नैतिकता के सिद्धांत एवं सन्यास–वाद की ओर मस्तिष्क का रुझान दिया। गीता ने हमारे दर्शनों में समन्वय करने का प्रयत्न किया और इसीसे भक्ति तथा ज्ञान योग, भक्ति योग, कर्म योग आदि भिन्न-भिन्न योगों के सम्बन्ध में सिद्धांत निकाले गए। गीता ने अवतार के सिद्धांत को भी और जोर देकर प्रचलित किया। वहाँ यह भी

उल्लेखनीय है कि गीता ने विशुद्ध सन्यासवाद पर जोर नहीं दिया है या अहिंसा का समर्थन नहीं किया है क्योंकि जब तक मनुष्य पूर्ण नहीं है रुद्र का ऋण अवश्य चुकाया जाना चाहिए। परंतु जनता में गीता का समन्वयात्मक दर्शन प्रचलित होने के पूर्व अशोक द्वारा प्रचारित बौद्धधर्म के प्रभाव ने भारतीयों को जकड़ रखा था और इसी के फलस्वरूप शंकर के मायावादी सिद्धांत का जन्म हुआ जो बौद्धधर्म का ही विपरीत रूप है।

जो लोकप्रिय हिन्दू धर्म पुराणों द्वारा प्रचारित ईश्वर के अवतारों तथा भक्ति के सिद्धांतों के साथ पुनर्जीवित हुआ उसके सामने बौद्ध तथा जैन धर्म को मैदान छोड़कर भाग जाना पड़ा। इसी समय पौराणिक हिन्दू धर्म का प्रचलन हो गया था और अधिकांशतः यह धर्म आज भी हम लोगों में वर्तमान है। इस युग में विष्णु, राम, कृष्ण तथा शिव की पूजा शुरू हो गई और उनके संबंध में विभिन्न प्रकार की कहानियाँ चल पड़ीं। वे कहानियाँ हमारे धार्मिक ग्रंथों में हैं। इसी युग में धर्म के क्षेत्र में ब्राह्मणों तथा पुरोहित वर्ग के हाथ में पूर्ण नेतृत्व आ गया और अस्पृश्यता, जाति-प्रथा में कठोरता आदि बातें शुरू हो गईं अन्तर्जातीय विवाह पर प्रतिबंध लग गया। किंतु पुराणों में भी हिन्दू धर्म के दार्शनिक आधार की उपेक्षा नहीं की गयी और उनमें भी आध्यात्मिक विचारधारा पायी जाती है।

इसके पश्चात् हम भक्तिवाद के युग में पहुँच गए और हमारे यहाँ इस्लाम के मूर्तिपूजा-विरोध की भावना भी प्रचलित हो गयी। शंकर का मायावाद भी इसी काल में आया और वह आज तक हिन्दुओं के साधारण विचार में तथा भारत के बृहत् भाग में पत्थर की भाँति जमा हुआ है। भक्तिवाद की दो मुख्य शाखाएँ थीं—शैव धर्म तथा वैष्णव धर्म। शैव लोग शिव तथा उनकी पत्नी या शक्ति के उपासक थे और वैष्णव विष्णु या उनके अवतारों (राम, कृष्ण आदि) के उपासक थे। हिन्दूधर्म पर इस्लाम का यह प्रभाव हुआ कि उसमें एकेश्वरवाद के सिद्धान्त प्रचलित हो गये। और कबीर, नानक तथा चैतन्य का भक्तिवाद चल पड़ा। इस काल में हमारे पुराण तथा अन्य धार्मिक ग्रंथ पुनः सम्पादित किये गये और उन पर टीकाटिप्पणियाँ की गयी, अनेक अन्धविश्वास प्रचलित हो गये, विदेश यात्रा धर्म विरुद्ध माना जाने लगा, जाति-व्यवस्था सख्त हो गयी तथा स्त्रियों में पर्दा-प्रथा प्रचलित हो गयी। बाल-विवाह पवित्र माना जाने लगा। भिन्न-भिन्न

साधु-सन्तों ने इस सिद्धान्तवाद के विरुद्ध संघर्ष किया पर उन्हें आगे चल कर सफलता नहीं मिली क्योंकि उनके मृत्यु के बाद उनकी प्रेरणा का अन्त हो गया।

इसके पश्चात् ईसाई धर्म तथा पश्चिमी भौतिकवाद आया। कुछ समय के लिए हमने अपने को खो दिया था और कुछ समय तक हम अपनी संस्कृति-धर्म आदि सब-कुछ को भूल बैठे थे। परन्तु इसी समय रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द तथा दयानन्द सरीखे आध्यात्मिक नेताओं के पैदा हो जाने से धर्म-विरोध की भावना की गति में रुकावट आ गयी। उन्होंने नए स्वरूप के हिन्दू धर्म को अपनाने पर जोर दिया। कठोर जाति-प्रथा की भर्त्सना की गयी। स्त्रियों को स्वतन्त्रता तथा शिक्षा की सुविधा दी गयी। अस्पृश्यता का उन्मूलन आवश्यक माना गया। बाल-विवाह राष्ट्र के लिए अहितकर तथा अनुपयुक्त माना गया। विशेषतः आर्य समाज ने वेदों की पुनर्व्याख्या की जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि हिन्दू धर्म में जो त्रुटियां आ गयी थीं उन्हें दूर किया जाय। इस प्रकार इस स्वरूप में नया परिवर्तन शुरू हो गया।

वर्तमान युग हृदयान्वेषण का युग है। हमें एक ऐसे समन्वयात्मक दर्शन की आवश्यकता है जो पूर्व तथा पश्चिम में सामंजस्य स्थापित करेगा तथा हिन्दू धर्म के अत्यावश्क अंगों को बाहर निकाल कर रख देगा। मूर्ति-पूजा, धार्मिक सिद्धांत, अन्ध-विश्वास तथा जाति-प्रथा आदि हिन्दू धर्म के सारतत्व नहीं हैं। हिन्दू-धर्म का सार है आध्यात्मिकता तथा आत्मा (जो मस्तिष्क, जीवन तथा उसके अलावा कोई दूसरी वस्तु है)। हिन्दू धर्म का सार आभ्यंतरिक सत्य तथा उससे परे के परम सत्य से सम्पर्क स्थापित करना तथा उसी में मिल जाना है।

हर मत के तथा हर युग के सन्तों, विचारकों, ऋषियों तथा रहस्यदर्शियों का यह मुख्य उपदेश रहा है कि "अपने को जानो" यही सिद्धांत केवल मात्र हिन्दू धर्म में जीवन का सर्वस्व रहा है। पश्चिम ने अपने आत्म-विश्लेषण के विज्ञान की सहायता से हाल में ही यह आविष्कार किया है कि मनुष्य का व्यक्तित्व, उसका बाह्य मस्तिष्क तथा उसके कर्म ही एकमात्र सत्य नहीं हैं। और एक अर्द्ध-जागृति की अवस्था है जिसका बाह्य मस्तिष्क के कार्यों से अधिक प्रभुत्व है और बाह्य मस्तिष्क भी उसी

से घिरी हुई है। किन्तु पश्चिम ने यह कहकर अपने को भ्रम में डाल दिया कि गुप्त चेतना पर स्त्री-पुरुष भाव का प्रभुत्व है या वह जागृत चेतना से कुछ ही नीचे है। हिन्दुओं ने दीर्घकाल पूर्व इस विचार का तथा इससे भी अधिक का आविष्कार कर लिया था। वेदों तथा उपनिषदों ने हमें यह बताया है कि मनुष्य व्यक्तित्वों का एक गुच्छा है। मनुष्य के वाह्य शरीर, मस्तिष्क तथा शक्ति के पीछे अन्य शरीर, मस्तिष्क एवं शक्ति है और उनके पीछे आत्मा है। विश्लेषण तथा समन्वय की विलक्षण शक्ति के द्वारा भारतीय ऋषियों ने इससे भी आगे यह आविष्कार किया कि मनुष्य एवं मनुष्य, मनुष्य एवं प्रकृति तथा मनुष्य एवं ईश्वर में आध्यात्मिक समता है। उन्होंने यह भी प्रकट कर दिया था कि वही ईश्वर इन सब में है और क्रमिक विकास न केवल जीवन अपितु जागृति का भी होता है। जागृति, या परिस्थितियों की जागरूकता तथा सही रूप में काम करने की इच्छा जो भूत में छिपी थी प्रकट हो गयी। मनुष्य ने उसे अच्छी तरह पहचान लिया किंतु वह मनुष्य उसे पूर्ण-रूपेण पहचान सकता है जो शरीर, मस्तिष्क एवं जीवन की सीमाओं से ऊपर उठ चुका हो। आध्यात्मिकता के इस लक्ष्य का मार्ग योग अर्थात आत्मा का परमात्मा से एकीकरण है। हिन्दू ऋषियों द्वारा कर्म भक्ति, ज्ञान, हठयोग (तन्त्र में) तथा शाक्त धर्म में योग के विभिन्न मार्ग बताए गए हैं। पूर्ण योग श्री अरविन्द का है जिसमें उक्त योग के अच्छे तत्वों का मिश्रण है और जिसकी अपनी विशेषताएँ एवं नवीन-ताएँ भी हैं।

यद्यपि हमारे अतीत की पुनर्व्याख्या करना और उसकी जो अच्छाइयां थीं उन्हें पुनर्जीवित करना अत्यावश्यक है, फिर भी हमें यह न भूल जाना चाहिए कि हमें गतिशील तथा पूर्ण बनना है और भविष्य की सोचना है। "पूरे जीवन के तीन अंग हैं, निश्चित और स्थायी आत्मा, विकासशील आत्मा तथा क्षणभंगुर परिवर्तनशील शरीर। आत्मा को हम बदल नहीं सकते, हम केवल उसे खो सकते हैं और अस्पष्ट कर सकते हैं; आत्मा के साथ सख्ती न की जानी चाहिए; न उसे नए रूप में सताया जाना चाहिए और न उसके स्वतन्त्र प्रसार एवं विस्तार में बाधा डालनी चाहिए; तथा शरीर का केवल एक साधन के रूप में उपयोग किया जाना चाहिए और उसे बहुमूल्य वस्तु मानकर उसकी

अधिक इच्छा न करनी चाहिए।"[2] हिन्दूधर्म में परिवर्तन की आवश्यकता है। अतः हमारी कई सामाजिक प्रथाओं, धार्मिक कर्मकाण्डों या अन्ध-विश्वासों का उन्मूलन करना अत्यन्त आवश्यक है ताकि हमारा धर्म लोगों का कल्याण कर सके और वह प्रेरणादायक शक्ति के रूप में कार्य कर सके।

१—दि आइडियल आफ दी कर्मयोगिन् – श्री अरविन्द, पृष्ठ ८-९।

२—दि आइडियल आफ दि कर्मयोगिन् – श्री अरविन्द, पृष्ठ ४५-६।

परिशिष्ट "ख"

भारतीय कला का क्रमिक विकास

इस परिशिष्ट में हम भारत की उस निर्माण कला, शिल्पकला एवं चित्रकला का वर्णन करेंगे जो भिन्न-भिन्न कालों की इमारतों में प्रकट है। भारतीय कला के जो अवशेष प्राप्त हैं उनमें भारतीय कला की जो शैलियाँ एवं परम्पराएँ दृष्टिगोचर होती हैं उनका निम्न रूप में वर्गीकरण किया जाता है :—

(१) पूर्व-बौद्धकला; (२) प्रारंभिक बौद्धकला (३०० वर्ष ई० पू० से सन् ५० ई० तक); (३) कुशान (ग्रीक बौद्धकला सन् ५० ई० से सन् ३२० ई० तक); (४) गुप्त-कला (सन् ३२० ई० से सन् ६०० ई० तक); (५) सर्वोत्तम (प्राचीन) भारतीय कला (सन् ६०० ई० से सन् ८५० ई० तक); (६) मध्य युगीन कला (नवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक); (७) आधुनिक कला (सन् १८०० ई० से....)।

यहाँ यह बता देना उचित होगा कि उक्त परम्पराओं में से हर एक दूसरे के साथ-साथ भी प्रचलित हो गई थी इसलिए उक्त वर्गीकरण ऐसा नहीं है जिसमें कठोरता हो। यह वर्गीकरण केवल मात्र संकेत के रूप में है। यह बात माननी ही होगी कि भारतीय कला की परम्पराएँ किसी मत से सम्बन्धित नहीं थी। विशेषताओं के अध्ययन से ही यह जाना जा सकता है कि जैन स्तूपों तथा बौद्ध स्तूपों में क्या अन्तर है और बौद्ध शिल्पकला हिन्दू शिल्पकला से क्यों और कहाँ भिन्न है। भारतीय कला के आवश्यक अंगों का वर्णन किया जा चुका है। "हमारे कलाकारों में ऐसा स्रोत बनने की सदैव इच्छा रही जिसके द्वारा सिद्धान्तों का दैवी जगत से भौतिक जगत में आवागमन हो सके; सब लोगों ने वैयक्तिक तथा बौद्धिक कार्यों को सत्य से संघर्ष न करने योग्य माना। सूक्ष्मदर्शिता (अन्तर्दृष्टि) की यह प्रक्रिया आधुनिक सिद्धांत

का ठीक विपरीत रूप है जो कि अपने को प्रकट करने को ही कला का सही लक्ष्य मानता है।

(१) पूर्व-बौद्धकला :—वेदों या उपनिषदों के युग में हिन्दू-कला नहीं मिलती है। इसका कारण यह है कि उस समय मूर्ति-पूजा नहीं थी या कला के माध्यम नष्ट हो जाते थे। मुख्यतः सिन्धु-घाटी में अनार्य-कला पायी जाती है। इस कला में भी तत्कालीन प्रचलित धर्म तथा कथा-कहानियों के ही तत्व रहते थे। सिन्धु-कला का प्रतिनिधित्व बड़े-बड़े नगर, कई मुद्राएँ, शिल्प, बर्तन, आभूषण तथा मूर्तियाँ करती हैं। सिन्धु घाटी की सभ्यता की कला में स्वार्थपरता की भावना अधिक पायी जाती है। इसके प्रतीक स्नानागार, खलिहान (अन्न-भंडार) आदि हैं। भारतवर्ष के केन्द्रीय मैदानी प्रदेश के चट्टानों में भी चित्रकला पायी जाती है। मिर्जापुर (यू० पी०) में, सोन नदी की घाटी में, माणिकपुर तथा उसके आस-पास (बाँदा, यू० पी०) में, सिंहनपुर, कबड़ा पहाड़ तथा होशंगाबाद एवं पंचमढ़ी (मध्य प्रदेश) में यह चित्रकला मिलती है। इस चित्रकला में शिकार खेलने के दृश्य, खेतिहर जीवन, चरवाहों के जीवन तथा नृत्य आदि के चित्र पाये जाते हैं। साथ ही प्रारंभिक कला में यक्षों, नागों आदि भिन्न-भिन्न देवताओं तथा उर्वरा शक्ति की प्रतीक देवियों के चित्र मिलते हैं। दक्षिण भारत में इसी प्रकार के चित्रों तथा देवी–पूजा के उदाहरण मिलते हैं। प्रसिद्ध देवताओं में आम तौर से पृथ्वी पर तथा पर्वतों में रहने वाले लोग पाये जाते हैं जैसा कि बारहूत के शिल्पों में देखा जाता है। धन के देवता कुबेर के सेवक (जो ईश्वरीय प्राणी हैं) यक्षों के सिद्धांत के फलस्वरूप देवताओं की प्रतिमाओं का निर्माण हुआ और उसमें कला को प्रकट किया गया। ये प्रतिमाएँ मथुरा, बड़ोदा तथा बेसानगर में पायी जाती हैं। यह कला सभ्य तथा सुसंस्कृत लोगों की उस कला से पहले प्रचलित थी जिसका अशोक काल में खूब विकास हुआ था और जो अशोक के स्तंभों में प्रकट है।

(२) प्रारंभिक बौद्ध कला:—इस कला के प्रतिनिधि धार्मिक स्मारक हैं। ये स्मारक दो प्रकार के हैं—एक तो वे जो चट्टानों से काट कर बनाए गए हैं और दूसरे वे जिनका निर्माण किया गया है। जिन स्मारकों का निर्माण किया गया है वे भी मुख्यतः दो प्रकार के हैं। ये स्मारक स्तूप तथा मन्दिर

हैं। साथ ही, इसमें भगवान बुद्ध को प्रस्तुत नहीं किया गया है बल्कि उनके कुछ चिन्ह, जैसे पदचिन्ह, दिखाये गये हैं। साँची, सारनाथ, भारहुत, तक्षशिला, अमरावती तथा नागार्जुनकोंडा में स्तूपों के उदाहरण मिलते हैं। बाराबार और नागार्जुनी पहाड़ी (बिहार), भज, बेदसा, एलिफेन्टा, अजन्ता और एलोरा (पश्चिमी भारत), महाबलीपुरम, उन्दवल्ली तथा भैरवकोंडा (मद्रास) में चट्टानों को काट कर बनायी हुयी इमारतें मिलती हैं। साँची, बेसानगर, तक्षशिला, देवगढ़, भीतरगाँव, बादमी, बोधगया तथा नालन्द में मन्दिर के उदाहरण मिलते हैं। किंतु प्राचीनतम उदाहरण (इमारतें) साँची, बोधगया, मथुरा, अमरावती तथा भारहुत में ही मिलते हैं। इस प्रारंभिक विकास में शिल्पकला को बहुत पूर्णता प्राप्त हुयी थी। इस संबंध में मार्शल ने यह मत प्रकट किया है कि "अशोक कालीन शिल्प-कला शैली एवं टेकनीक की दृष्टि से सबसे अधिक सुन्दर कृति है। वास्तव में भारत ने अभी तक जितनी सुन्दर चित्रकारी प्रस्तुत की है उतनी सुन्दर किसी भी देश ने नहीं प्रस्तुत की और वह अद्वितीय है। प्राचीन संसार में उनके समान एक भी उदाहरण नहीं मिलता। "अशोक कालीन स्तंभ, सारनाथ आदि स्थानों में पाये जाते हैं, विद्वतापूर्ण कला के अद्वितीय उदाहरण हैं। पूर्ण स्वाभाविकता, भावपूर्णता, लकड़ी की चित्रकारी तथा अधिकांशतः विदेशी प्रभाव का न होना आदि प्रारंभिक बौद्धकला की विशेष-ताएँ हैं। पशुओं के चित्रों में भी अनुपम सौन्दर्य है।

(२) कुशन या ग्रीक-बौद्ध कला :—इस क्षेत्र में यह विवाद चल पड़ा कि बुद्ध की मूर्ति कैसे विकसित हुई। यह अपने देश की वस्तु है या विदेशों से लाई हुई है। हम जानते हैं कि पहले बुद्ध के स्थान पर उनके चिन्ह, उनकी व्यक्तिगत वस्तुएँ तथा पेड़, बाद में उनका जीवन और तत्पश्चात् उनकी भौतिक आकृति आदि चित्रित की गई। मथुरा तथा गान्धार दोनों कलाओं का यह दावा है कि उन्होंने ही बुद्ध की भौतिक आकृति को प्रचलित किया। अतः यह हो सकता है कि इन दोनों कलाओं ने इसका प्रचलन साथ-साथ या अलग-अलग किया हो और दोनों कलाओं ने इसके प्राचीन तथा प्रारम्भिक स्वरूप को नवीन सौन्दर्य दिया। गान्धार कला में बुद्ध की मूर्ति में जो उनकी मूंछें दिखाई गई हैं वह ग्रीक शैली है। भारतीय परम्परा में उनकी यह आकृति सोची भी नहीं जा सकती है क्योंकि भारत में बुद्ध को योगी के रूप में चित्रित किया गया है और उन्हें इस रूप में देखकर

वैदिक सिद्धान्तों का स्मरण हो जाता है। मथुरा कला की आकृतियाँ भारत के देवताओं तथा ऋषियों के चित्रों जैसी हैं। मुद्राओं में भी, जैसे कि कैडफाइसेस की मुद्राओं में, भारतीयता का विकास मिलता है। "इस प्रकार, विचार में एवं मूलतः बुद्ध की मूर्ति भारतीय है और उसे प्राचीन भारतीय कलाकृतियों की परम्परा के अनुसार निर्मित किया गया है।" -(राधाकुमुद मुकर्जी)। कुशान कला अफगानिस्तान, मथुरा, काश्मीर, बेसानगर तथा अमरावती में पाई जाती है। गांधार कला दोनस्ली है और इसमें भारतीय रूपक के उद्देश्यों के लिए रोम की प्रान्तीय आकृतियाँ ले ली गई हैं। इसलिए हम एपोलो को बुद्ध के सदृश पाते हैं। मथुरा कला स्वाभाविक एवं प्रत्यक्ष है और यह जीवन से भरी हुई है।

(४) गुप्त कलाः—यह कला उसी रूप में शिल्पों एवं इमारतों में प्रस्तुत की गई है जैसी सारनाथ तथा अजन्ता में पाई जाती है और आगे चल कर यह प्राचीन (सर्वोत्तम) कला में विलीन हो जाती है। यह कला भारतीय कला के भिन्न–भिन्न तत्वों का सम्पूर्ण समीकरण प्रस्तुत करती है। हम इस विषय पर इस पुस्तक के "स्वर्ण युग" नामक अध्याय में सविस्तार प्रकाश डाल चुके हैं।

(५) प्राचीन (सर्वोत्तम) भारतीय कलाः—अजन्ता' एलोरा, एलिफैन्टा, महाबलीपुरम तथा बोरोबुदूर में इस कला का प्रतिनिधित्व है। इस कला की विशेषता सन्तुलन, समता, निर्मलता, स्वच्छता और नम्रता (कोमलता) है। अजन्ता में बौद्ध धर्म तथा एलोरा में ब्राह्मणवाद का अधिक प्रभाव है। एलोरा की विशेषता शक्ति तथा अजन्ता की विशेषता चमक-दमक है। इसमें निर्माण करना और साज–सज्जा सजावट का भी और अधिक विकास हुआ। इस कला की सब से अच्छी शैली की विशेषता सब से अधिक निर्मलता है। इसमें कलाकृति की आत्मा चमकती रहती है और भाव प्रकाशपूर्ण होते हैं। उनमें तरुणाई रहती है। एलोरा के कैलाश मन्दिर की शिव की मूर्ति इसकी प्रतीक है। शरीर तथा आत्मा को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। ए० के० कुमार स्वामी ने अजन्ता की चित्रकला का वर्णन करते हुए कहा कि इन महान मूर्तियों में जो रोब, भाव एवं निर्मलता है, उनकी प्रत्येक भावभंगिमा में जो प्रेम भरा हुआ है, हर्ष के समय में भी उनमें जो गम्भीर उदासी है वह दर्शकों पर ऐसी छाप डालती है जिसे कभी भी भुलाया नहीं जा सकता।

(६) मध्ययुगीन कला:—इस युग की कलाकृतियों में हिन्दू इमारतें, मुख्यतः उनके मन्दिर तथा मुस्लिम इमारतें, मुख्यतः मस्जिद और मक़बरे आदि हैं। राजपूत चित्रकला और मुगल चित्र-कला का भी इस युग में विकास हुआ। इस युग में जो क़िले बनवाए गए उनमें सामान्य कला विकसित हुई। इनकी शैली तथा टेकनीक में हिन्दू-मुस्लिम समन्वय दिखाई देता है। हम इनका यहाँ पूर्ण विवरण नहीं दे रहे हैं क्योंकि मध्यकालीन संस्कृति सम्बन्धी अध्यायों में हम उन पर सविस्तार प्रकाश डाल चुके हैं। भुवनेश्वर, पुरी, कोनारक, खजुराहो, ग्वालियर, जोधपुर, उदयपुर, माउन्ट आबू, पाटन, मुढेरा, थाना, बल्साणा, पेड़गाँव, पालिताणा, वृन्दावन, विष्णुपुर, बरानगर, मैसूर, मारवाड़, महाबलीपुरम, कांजीवरम, तन्जोर, त्रिचिनापल्ली, चिदाम्बरम, हाम्पी, रामेश्वरम तथा मदुरा में सबसे अधिक महत्वपूर्ण मन्दिर पाये जाते हैं। इसी प्रकार दिल्ली, आगरा, मुल्तान, गौड़, अहमदाबाद, चम्पानेर, धार, मान्डू, जौनपुर, दौलताबाद, बीजापुर, गोलकुन्डा, श्रीनगर, सहसराम, फतेहपुर सीकरी, इलाहाबाद, अजमेर, औरंगाबाद तथा लखनऊ में सबसे सुन्दर मुस्लिम इमारतें तथा स्मारक पाये जाते हैं। सर्वश्रेष्ठ मन्दिर निर्माणकला उच्चकोटि की अर्थात् सर्वोत्तम है किन्तु १४ वीं शताब्दी के बाद इसमें कठोरता एवं साज-सज्जा का बाहुल्य हो जाता है और दक्षिण की शिल्पकला में सनकीपन, हिंसा तथा अतिशयोक्तियाँ आ जाती हैं। राजपूतों के राजप्रसादों के समान अन्य इमारतें भी इस युग में बनवायी गयीं। "ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों तथा चट्टानों के ऊपर, झीलों तथा जलाशयों के किनारे बने हुए और हर तरफ से घिरे हुए ये राजप्रसाद जिस भूमि पर बने हुए हैं उसके जीवित भाग प्रतीत होते हैं और इनमें पर्वतीय महानता तथा रोब है। वक्राकार अधर, झूलती हुई कार्निसें, छोटे-छोटे गुम्बज और बड़ी-बड़ी इमारतों का विस्तृत घेरा बन्दी आदि इनकी सबसे स्पष्ट विशेषताएँ हैं।" सबसे प्रसिद्ध राजपूत राजप्रसाद चित्तौड़, ग्वालियर, अम्बेर, जोधपुर, बीकानेर तथा उदयपुर में हैं। मुस्लिम निर्माण-कला का सबसे ज्वलन्त और शानदार प्रतीक ताजमहल है। "यह स्वयं मुमताज है तथा उसकी यौवनपूर्ण चमकती हुयी सुन्दरता है जो आज भी चमकती हुई यमुना नदी के तट पर, प्रातः काल मध्यान्ह तथा चाँदनी रात में, झूलती हुयी दिखायी पड़ती है।" (ए० के० कुमारस्वामी)।

(७) आधुनिक कला:–आधुनिक काल के प्रारंभ में तो निर्माण-क
शिल्पकला, चित्रकला आदि कला-कौशल का पतन हो गया था। प
१९ वीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दी में ये कलाएँ, विशेषतः चित्रक
पुनर्जीवित हो गईं और उसके बाद संगीत तथा नृत्य कला में भी
जागृति आ गई। निर्माण-कला तथा शिल्प-कला का बहुत अधिक विक
नहीं हुआ। इनमें प्राचीनता ही जारी रही। शहरी इमारतों के निर्माण
पश्चिमी की नकल करने की प्रवृत्ति आ गयी। फिर भी हमारे देश
प्राचीन निर्माण-कला के अच्छे ज्ञाता हैं जैसा कि शान्ति निकेतन में प्र
है। चित्रकला के क्षेत्र में, अजन्ता की कला को पुनर्जीवित करने में बंग
ने नेतृत्व किया है। अन्य स्थानों में भी प्राचीन कला के अलावा पश्चि
कला नकल की जा रही है। राजकीय कला विद्यालय तथा सार्वजनिक क
संस्थाएँ हैं जो इस दिशा में सक्रिय कार्य कर रही हैं। अजायबघरों, सा
जनिक संस्थाओं तथा व्यक्तिगत लोगों के पास कलाकृतियों के संग्रह
कला सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होती हैं जिनमें "मार्ग" (बम्ब
तथा "जर्नल आफ ओरिएन्टल आर्ट" (कलकत्ता) प्रमुख हैं। आधुनि
भारतीय निर्माण–कला के नमूने बेलूर मठ (बंगाल), बिड़ला मन्दि
(दिल्ली), हिन्दू विश्वविद्यालय (बनारस), कांच-मन्दिर (कानपुर) अ
राजपूताना के राजमहलों के अतिरिक्त शान्ति निकेतन तथा विक्टोरि
मेमोरियल में पाये जाते हैं।

यह भारतीय कला के क्रमिक विकास की रूप रेखा है। प्राचीन त
मध्यकाल ने सर्वश्रेष्ठ तत्व प्रस्तुत किये। वर्तमान काल अब भी अपना रा
ढूँढ़ रहा है। हम अभी-अभी दासता के बन्धन से मुक्त हुए हैं और आ
है कि भविष्य में एक नवीन भारतीय कला होगी जिसमें भारत और पश्चि
की सर्वश्रेष्ठ कलाओं का समन्वय होगा।

परिशिष्ट "ग"

भारतीय राष्ट्रवाद के प्रवर्तक

आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म हो जाने से भारतीय सांस्कृतिक जागृति की अत्यधिक प्रगति हुयी। भारतीय राष्ट्रवाद ने, पहली बार, सभी जातियों और धर्मों तथा सिद्धांतों को अपने में मिला लिया। भारत में राष्ट्रवाद का सबसे अधिक ज्वलन्त तथा जीवित प्रतीक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस थी जिसकी स्थापना सन् १८८५ ई० में हुयी थी पहले तो यह उदारपन्थियों (नरमदल) तक ही सीमित रही किंतु धीरे-धीरे इसमें उग्रवादियों का प्रभाव हो गया। उग्रवादियों के प्रभाव को उस समय से महत्व दिया जाने लगा जबकि सन् १९०५ ई० में बंगाल का विभाजन हुआ। सन् १९१८ ई० के बाद, अंतिमरूप में, कांग्रेस में उग्रवादियों का आधिपत्य हो गया और महात्मा गांधी के हाथों में नेतृत्व की बागडोर आ गई। अनेक परीक्षाओं और कसौटियों से गुजरते हुए गांधी जी ने हमको सन् १९४७ ई० में स्वतंत्रता दिला दी। परंतु, इसके साथ-साथ स्वतंत्रता के लिए क्रांतिकारी आन्दोलन भी चलता रहा और सन् १९४२ में दोनों परस्पर मिल गये। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस का आजाद हिन्द युद्ध इस क्रान्तिकारी आंदोलन की चरम सीमा थी।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने हम भारतीयों को ह्यूम, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, दादा भाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, एम० जी० रानाडे, जी० के० गोखले, बी० सी० पाल, शंकरन नायर, सी० आर० दास, मोतीलाल नेहरू, मदन मोहन मालवीय, लाजपतराय, श्रीमती एनी बेसेन्ट, बी० जी० तिलक, श्री अरविन्द, महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू तथा सुभाषचन्द्र बोस सरीखे महान् नेता एवं व्यक्तित्व दिए हैं। इनमें से तिलक, गांधी तथा श्री अरविन्द, जो आज भी सब की दृष्टि में त्यागी पुरुष हैं, के सम्बन्ध में सविस्तार विवरण प्रस्तुत करने और उनके विषय में अधिक अध्ययन करने की आवश्यकता है। ये लोग, वास्तव में, आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के पैगम्बर हैं। हम यहाँ पर इन महा पुरुषों के मुख्य विचारों एवं सिद्धान्तों जो स्थायी हैं, पर प्रकाश डाल रहे हैं।

बाल गंगाधर तिलक (१८५६-१९२०)

बाल गंगाधर तिलक भारतीयों की आँखों में स्वतन्त्रता के लिए राष्ट्रीय प्रेरणा तथा राष्ट्रीय प्रयत्न के प्रतीक हो गए थे। उनका यह नारा था कि "स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है और हम उसे प्राप्त कर के रहेंगे।" यह नारा पूर्व के सारे देशों में गूँज उठा और यही नारा ब्रिटिश साम्राज्य-वाद की अर्थी [जनाज़ा] में ठोंकी गई पहली कील था। भारतीय राजनीति के मञ्च पर तिलक का आगमन भिखारीपन की उस नीति पर एक गहरी चोट थी जो कांग्रेस के तत्कालीन प्रमुख नेताओं की विशिष्ट नीति थी। तिलक का जन्म साधारण परिवार में हुआ था, वे जनता के बीच से आये थे और वे रुपयों की गोद में नहीं पले थे। उनके सुनहले चरित्र, उनकी धार्मिक भक्ति तथा उनकी गहरी देशभक्ति ने उन्हें सब से ऊँचे स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया और वे जनता के हृदय सम्राट हो गए। वे संस्कृत के श्रेष्ठ विद्वान, पंडित, शक्तिशाली लेखक तथा गम्भीर एवं सुदृढ़ विचारक थे। विद्वता के क्षेत्र में वे अद्वितीय थे। ओरिएन, आर्कटिक होम तथा गीता उनके प्रसिद्ध पांडित्य पूर्ण ग्रन्थों में हैं और उनकी विद्वता के प्रतीक हैं। ओरिएन में उन्होंने वेदों की प्राचीनता के विषय में ठोस और निश्चित प्रमाण दिए हैं तथा उनके आधार पर यह सिद्ध किया है कि ईसा से ४००० वर्ष पूर्व वेदों का समय था। सिन्ध घाटी की सभ्यता की खोज उनके इस कथन की पुष्टि कर सकती है। आर्कटिक होम में उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आर्यों की आदि भूमि आर्कटिक में थी। गीता सम्बन्धी उनका ग्रन्थ मौलिक समालोचना है और इसमें उन्होंने नैतिक सत्य को प्रस्तुत किया है। यह स्मारक-ग्रन्थ है और इसका गद्य उच्च कोटि का प्रथम गद्य है। यह ग्रन्थ मराठी भाषा में सर्वोत्तम तथा शास्त्रीय है। उनकी गीता कर्म-फल की प्राप्ति के विषय में सोच-विचार किए बिना निःस्वार्थ भाव से अपना कर्तव्य पूरा करने का उपदेश देती है। उन्होंने उस पश्चिमी दर्शन पर भी विचार प्रकट किए हैं जिसे पश्चिम के महान दार्शनिकों ने प्रकट किया है। उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि गीता का सब से बड़ा गुण परिणाम को सोचे बिना कर्तव्य करने की प्रेरणा देता है। भारत के राजनीतिक जीवन पर इसका प्रभाव बहुत गहरा हुआ। इसने हमारे देश की जनता को दीर्घकालीन मूर्छा "निद्रा" से जगा दिया। इसने भारतीय नेतृत्व में भारतीय स्वतन्त्रता के लिए "करो या मरो" की भावना भर दी।

"केसरी" के सम्पादन के द्वारा उनका तत्कालीन सत्ता के विरुद्ध सिद्धांतमक तथा शक्तिशाली राजनीतिक प्रचार कई दशाब्दियों तक होता रहा। पूना के उस शैक्षिक आन्दोलन से उनका निकट सम्बन्ध रहा जिसके फलस्वरूप फर्गुसन कालेज की स्थापना हुई। यह कालेज आत्म बलिदान में सहयोग का एक स्मारक है। शिवा जी तथा गणपति उत्सवों का संगठन कर के उन्होंने जनता की सोयी हुई आत्मा को पुनः जागृत करने का प्रयास किया।

इस प्रकार तिलक ने "नए राजनीतिक उत्साह को ऐतिहासिक अतीत की भावना तथा परम्परा से और इन दोनों को जनता की उस धार्मिक मनोवृत्ति से सम्बन्धित कर दिया जो इन उत्सवों के प्रतीक थी। राजनीतिक आन्दोलन को जनता में लाकर उन्होंने उसे भारतीय रूप दिया। इस प्रकार तिलक में वह राजनीतिक प्रतिभा थी जिससे उन्होंने युग के प्रवाह को समझा था और भारत के राजनीतिक आन्दोलन को सही दिशा दिखाई थी। उनके कारावासों ने, पहली बार, जनता को इस सत्य के प्रति जागृत किया कि स्वतन्त्रता आराम की राजनीति के द्वारा नहीं बल्कि मंत्रणा और बलिदान के द्वारा प्राप्त होगी। वे कठोर, लड़ाकू, शक्तिशाली, प्रजातान्त्रिक, बुद्धिमान, व्यावहारिक तथा कूटनीतिक मराठा जाति के सच्चे प्रतिनिधि थे। उनमें ये सभी गुण थे और इनके साथ-साथ उनमें अपूर्व आत्म बल, इच्छाशक्ति, आध्यात्मिक जोश तथा लक्ष्य के प्रति एकाग्रता थी। उन्होंने स्वराज, स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा तथा बहिष्कार के नारों को कार्य रूप में परिणित किया। संक्षेप में, तिलक सर्व श्रेष्ठ हिन्दू धर्म के जीवित प्रतीक थे।

महात्मा गांधी (१८६९-१९४८)

महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत को एक जीवित प्रश्न बना दिया। उनके शक्तिशाली व्यक्तित्व तथा भारत की स्वतन्त्रता के लिए उनके जोरदार आन्दोलन ने हमारे आत्म-सम्मान को पुनः जागृत कर दिया और पश्चिम भी भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति से सम्बन्धित अपनी धारणाओं का फिर से मूल्यांकन करने लगा। सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षिक तथा आर्थिक विषयों पर उनके सुन्दर लेख आधुनिक भारतीय साहित्य के बहुमूल्य अंग हैं। राजनीति के क्षेत्र में उनका महत्वपूर्ण योगदान यह रहा कि उन्होंने धर्म की उस भावना को पुनः प्रचलित किया जिसे उनसे पहले तिलक ने प्रकट किया था। साथ ही उन्होंने जनता

को स्वतन्त्रता तथा उसके लिए संघर्ष के मूल्य का ज्ञान कराया। गाँधी जी का यह कहना था कि "सर्वव्यापी एवं जगत व्यापी "सत्य" की आत्मा का साक्षात दर्शन करने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने ही समान इस जगत के छोटे से छोटे (तुच्छ से तुच्छ) प्राणी को प्रेम करने के योग्य हो जाय। और जो व्यक्ति इसके बाद किसी उपाय की खोज करता है वह जीवन के किसी क्षेत्र को सुरक्षित नहीं रख सकता। यही कारण है कि सत्य की मेरी आराधना मुझे राजनीति में खींच लायी; और मैं बिना किसी हिचकिचाहट के, फिर भी पूरी दीनता से, यह कह सकता हूँ कि जो लोग यह कहते हैं कि धर्म का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है वे यही नहीं जानते कि धर्म का अर्थ क्या होता है।"

उनके अनुसार सत्य के अतिरिक्त कोई दूसरा ईश्वर नहीं है और उस सत्य की प्राप्ति का एक मात्र साधन प्रेम या अहिंसा है। इस सत्य की प्राप्ति के लिए हृदय की पवित्रता, साधनों की पवित्रता या उद्देश्यों की पवित्रता अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए वे जीवन में ब्रह्मचर्य, निर्भयता, निर्लिप्तता और नम्रता पर अधिक जोर देते थे। सत्य के प्रति उनका प्रेम मौसमी राजनीतिज्ञ के सत्य-प्रेम के समान केवल मात्र सैद्धांतिक नही था। वे जैसा करते थे वैसा ही उपदेश देते थे। यद्यपि वे बड़े अनुशासनवादी (शिष्टाचारी) थे, फिर भी उनमें भावना की कठोरता नहीं थी और उनमें हास्य एवं व्यंग्य का सूक्ष्म ज्ञान था। उन्होंने भारत को विषमताओं तथा फूट से मुक्त करने, जनता को अपने पैरों पर खड़ा होना सिखाने, स्त्रियों को सब क्षेत्रों में पुरुषों के समान स्तर पर पहुँचाने, हिन्दू-मुस्लिम को एक करने तथा हिन्दूधर्म को अस्पृश्यता की सामाजिक बुराई से मुक्त करने का प्रयास किया।

आर्थिक क्षेत्र में वे उद्योगों के विकेन्द्रीकरण, ग्रामोत्थान तथा जनता की आर्थिक दशा सुधारने के समर्थक थे। उनके अनुसार "शहरों का सही काम गाँवों की बनी हुयी वस्तुओं का उपभोग" करने का है। खादी या हाथ के कते-बुने कपड़े पर उनका जोर देना जनता की आर्थिक दशा सुधारने की उनकी इच्छा का प्रतीक है।

अहिंसा पर उनके जोर देने के फलस्वरूप उन्होंने सत्याग्रह का तरीका निकाला। गाँधी जी का हमारे लिए यह उपदेश है कि हम लड़ाई-भिड़ाई अमानवीय तत्वों के लिए छोड़ दें, मनुष्य के समान व्यवहार करें और शांत

रह कर यंत्रण-सहकर सत्य की सेवा करें। प्रेम या आत्मा-पीड़ा शत्रु पर विजय प्राप्त कर सकता है। शत्रु को नष्ट करके नहीं बल्कि उसका हृदय-परिवर्तन करके उसे पराजित किया जा सकता है।

प्रसिद्ध दार्शनिक तथा भारत के वर्तमान उपराष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने गांधी जी के प्रति निम्न मत प्रकट किया है:—

"गांधी स्वतंत्र जीवन के पैग़म्बर थे। अपनी पवित्रता तथा वीरता के द्वारा, जो अद्वितीय थी, वे करोड़ों मनुष्यों पर शासन करते थे। सच्चे बनो, सादे बनो, शुद्ध बनो और नम्र हृदय के बनो, दुःख तथा आपत्ति में सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रहो, जीवन को प्रेम करो, मृत्यु से न डरो, आत्मा की सेवा करो, मृतात्मताओं से भयभीत न हो—ये उनके उपदेश थे।" "जबसे संसार का आरंभ हुआ है इससे अच्छी कोई बात नहीं दिखाई गई है और न इससे अच्छी कोई थी.........गांधी की मृत्यु उनके जीवन का सबसे उत्तम अन्त थी। वे भगवान का नाम जपते हुए और हृदय में प्रेम लिए हुए मरे। यहाँ तक कि उन्हें ज्योंही गोलियाँ लगीं उन्होंने अपने हत्यारे को आर्शीवाद दिया और उसके लिए शुभ कामना प्रकट की।"

श्री अरविन्द (१८७२–१९५०)

श्री अरविन्द आज की नई पीढ़ी अर्थात् युवकवर्ग के लिए एक स्मृति तथा नाम मात्र है परन्तु हमारे पूर्वजों के लिए वे देशभक्ति पूर्ण कविता के कवि तथा राष्ट्रीयता के दूत थे। कलकत्ता में १५ अगस्त सन् १८७२ ई० को अरविन्द घोष का जन्म हुआ था। पाँच वर्ष के पश्चात् वे शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंगलेंड चले गये जहाँ वे १४ वर्षों तक रहे। सन् १८९३ में वे इंगलेंड से चले आये। वे वहाँ सेन्ट पाल्स स्कूल (लन्दन) तथा किंग्स कालेज (कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय) में पढ़ते रहे। साहित्य में उनकी अधिक रुचि थी और इसलिए इसमें उन्होंने विशेषता प्राप्त की। अंग्रेजी, फ्रांसीसी, लैटिन, ग्रीक, जर्मन, स्पेनिश आदि कई विदेशी भाषाओं का उन्होंने गहन अध्ययन किया। लन्दन में ही बड़ोदा के महाराजा (गायकवाड़) से उनकी भेंट हो गई और उन्हें बड़ोदा में प्रशासकीय नौकरी मिल गई। सन् १८९३ ई० से सन् १९०६ ई० तक अर्थात् तेरह वर्षों तक वे बड़ोदा में रहे। पहले वे वहाँ के सेटिलमेन्ट एंड रेवेन्यू डिपार्टमेंट और बाद में महाराजा के सेक्रेट्री रहे। उसके बाद बड़ोदा कालेज में वे अंग्रेजी के प्रोफेसर रहे और अन्त में उस कालेज

के वाइस–प्रिन्सिपल भी रहे। यहाँ रहकर उन्होंने भारतीय संस्कृति तथा साहित्य का गंभीर अध्ययन किया और संस्कृति, मराठी, गुजराती, बंगला और हिन्दी भाषाओं का पूर्णज्ञान प्राप्त किया। इस अवधि में वे नाटक, निबन्ध और कविताएँ भी लिखते रहे। उन्होंने आमतौर से अंग्रेजी भाषा में ही अपने साहित्यिक लेख लिखे। सन् १९०० ई० से वे गुप्तरूप में भारत को विदेशी शासन के चंगुल से छुड़ाने के लिए हिंसात्मक क्रान्तिकारी आन्दोलन में काम करने लगे।

सन् १९०५ ई० में बंगाल का विभाजन हुआ और वे अंग्रेजों से लड़ने के लिए खुल कर मैदान में आ गये। सन् १९०६ ई० में उन्होंने बड़ोदा छोड़ दिया और वे कलकत्ता के नए बंगाल नेशनल कालेज के प्रिन्सिपल हो गए। उनके कार्य तीन प्रकार के थे। पहला काम था गुप्त क्रान्तिकारी प्रचार एवं संघटन जिसका मुख्य लक्ष्य सशस्त्र विद्रोह की तैयारी करना था। दूसरा काम था सार्वजनिक प्रचार जिस का लक्ष्य था समूचे राष्ट्र में स्वतंत्रता की भावना भरना। तीसरा काम था सार्वजनिक और संयुक्त सहयोग एवं मौन प्रतिरोध के द्वारा विदेशी शासन को कमजोर बनाते रहने के लिए जनता का संगठन। उनके भाषणों तथा लेखों ने भारतीय राष्ट्र को जागृत कर दिया और देश में एक हलचल मचा दिया। इसके फलस्वरूप अंग्रेजी सरकार ने उन्हें गिरफ्तार करके अलीपुर जेल में बन्द कर दिया। उन पर उनके भाई के द्वारा संचालित क्रान्तिकारी आन्दोलन से सम्बन्धित आरोप लगाए गए थे। मुकदमे में सी० आर० दास ने उनकी ओर से पैरवी की और उन्होंने न्यायाधीश के समक्ष श्री अरविन्द को निर्दोष सिद्ध कर दिया। परिणाम स्वरूप क्रान्तिकारी अरविन्द बरी कर दिए गए। सन् १९०८ से १९१० तक वे ब्रिटिश भारत में ही रहे और बाद में पाँडिचेरी चले गये और वहाँ उन्होंने अपना आश्रम स्थापित कर लिया। आज यही आश्रम श्री अरविन्द आश्रम के नाम से प्रसिद्ध हैं। सन् १९१९ में एक फ्रांसीसी महिला उनकी शिष्या हो गयीं। सन् १९२६ में श्री अरविन्द ने अपने साधकों या शिष्यों से सीधा सम्पर्क रखना छोड़ दिया। उसी समय से उक्त फ्रांसीसी महिला, जो "माताजी" के नाम से विख्यात हैं, के हाथ में आश्रम की व्यवस्था का पूरा भार है। माताजी बाल्यावस्था से ही "योगी" रही हैं। उन्होंने जापान, मिश्र आदि कई देशों में रहकर योग की शिक्षा प्राप्त की है। उनके पास जो आध्यात्मिक ज्ञान है वह वर्तमान विश्व में किसी

से भी कम नहीं है। श्री अरविन्द की मृत्यु के बाद "माताजी" ने एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय स्थापित करने की योजना प्रारम्भ की है। इस विश्वविद्यालय की शिक्षा आध्यात्मिकता तथा श्री अरविन्द के उपदेशों पर आधारित होगी।

क्रमिक विकास के दृष्टिकोण से श्री अरविन्द के जीवन का अध्ययन करना उचित होगा। सन् १८७९ ई० से सन् १९०५ तक उनका जीवन स्व-संस्कृति में लगा रहा, सन् १९०५ से सन् १९१० तक वह देश सेवा में लगा रहा और सन् १९१० से सन् १९५० तक उनका जीवन ईश्वर की सेवा तथा उसके द्वारा सब की सेवा में लगा रहा। इस पूरी अवधि में वे मानवता को दैवत्व में परिवर्तित करने की दिशा में काम करते रहे। "बन्देमातरम," "कर्मयोगी" तथा "धर्म" नामक उनके पत्र यह बताते हैं कि वे किस प्रकार मानवता से दैवत्व की ओर विकसित हो रहे थे। आन्ध्र विश्वविद्यालय के उपकुलपति सी० आर० रेड्डी ने उनके सम्बन्ध में कहा है कि "मैं श्री अरविन्द को इस युग की एकमात्र पर्याप्त प्रतिभा मानता हूँ। वे राष्ट्र के नायक (योद्धा) से भी अधिक हैं। वे मानवता के उन रक्षकों में हैं जो समस्त युगों और समस्त राष्ट्रों से सम्बन्धित रहते हैं। वे उन सनातनों में हैं जो अपनी उपस्थिति से हमारे जीवन को ज्योतिर्मय करते हैं, चाहे हम इसे जानते हों या नहीं।"

श्री अरविन्द अपने युग की सबसे बहुरूपी प्रतिभा थे और आधुनिक काल में कोई भी ऐसी मानवी शक्ति पैदा नहीं हुई है जिसकी तुलना उनसे की जाय। उन्होंने राजनीति, धर्म, दर्शन, इतिहास, संस्कृति, काव्य, कला, नाटक और खेल-कूद तक पर विस्तारपूर्वक और क्रियात्मक लेख लिखे हैं। कोई भी चीज ऐसी नहीं बची जिसका उन्होंने वर्णन नहीं किया। हमारी पुस्तक उनकी बहु-रूपी प्रतिभा की निश्चित प्रमाण है। "लाईफ डिवाइन," "एसेज आन दि गीता," "सिन्थेसिस आफ योग," "आइडियल आफ ह्यूमन यूनिटी," "ह्यूमन साइकिल" तथा "सावित्री" उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं। कुछ महत्वपूर्ण विषयों पर उनके कुछ विचारों को हम यहाँ पर प्रस्तुत कर रहे हैं।

क्रमिक विकास

मानवता के समूह का धीरे-धीरे विकास होता है और इसमें भौतिक

मनुष्य से लेकर आध्यात्मिक मनुष्त तक के समस्त चरण होते हैं। कुछ लोग अवृश्य एवं आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारों को खोल कर सीमा से परे पहुँच गये हैं। हम लोग भूत में जीवन के क्रमिक विकास तथा भूत में मस्तिष्क के क्रमिक विकास की बातें करते हैं, परन्तु क्रमिक विकास एक ऐसा शब्द है जो केवल मात्र अद्‌भुत घटना का उल्लेख करता है, उसकी व्याख्या नहीं करता। जब तक हम वेदान्त के इस हल को नहीं स्वीकार करते कि जीवन भूत में तथा मस्तिष्क जीवन में निहित है तब तक इस बात का कोई कारण नहीं दिखाई देता कि जीवन का विकास भौतिक तत्वों से या मस्तिष्क का विकास जीवित स्वरूपों से क्यों होता है। सारतत्व यह है कि भूत आवरण-युक्त जीवन का तथा जीवन आवरणयुक्त चेतना का एक रूप है। और तब इस गति में आगे क़दम बढ़ाने या इस बात को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं जाती कि मस्तिष्क की चेतना स्वयं उन उच्च स्तरों का एक पर्दा या रूप हो सकती है जो कि मस्तिष्क से परे हैं। उस दशा में, ईश्वर, ज्योति, परमसुख, मुक्ति तथा अमरत्व की ओर मनुष्य की अजेय गति उस शक्ति के समान अपने समुचित स्थान को प्राप्त कर लेती है जिसके द्वारा प्रकृति मस्तिष्क से परे विकास करना चाहती है और उतना ही स्वाभाविक एवं सच्ची दिखाई देती है जितना कि उस जीवन की ओर की गति, जिसे उसने भूत के रूपों में उपस्थित किया है या उस मस्तिष्क की ओर गति, जिसे उसने जीवन के कुछ रूपों में दिया है। इस स्थिति में भी गति न्यूनाधिक अवृश्य और भिन्न-भिन्न रूपों में रहती है और वह अपनी इच्छाशक्ति के द्वारा ऊपर उठती है। इस स्थिति में भी वह आवश्यक अंगों तथा इन्द्रियों का विकास करती रहती है और उसे यह बाध्य होकर करना पड़ता है। पशु एक ऐसा जीवित प्रयोगशाला है जिसमें, कहा जाता है कि, प्रकृति ने मानव की रचना की है। मानव स्वयं वह विचारक एवं जीवित प्रयोगशाला हो सकता है जिसमें प्रकृति उसके चेतन सहयोग से परम मानव—परमात्मा—की रचना करना चाहती है।

संसार में भारत का मिशन (कार्य)

श्री अरविन्द का विश्वास था कि राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति से भारत के नेताओं पर बड़ा भारी उत्तरदायित्व आ जाता है। उनको सदैव इस बात का ध्यान रखना होगा कि भारत का संसार में महान् कार्य है और वह शान्ति, प्रगति और समता की अद्‌भुत विश्व-शक्ति है। कुछ बातें ऐसी हैं जिनको भारत ने सबसे अधिक महत्व दिया है और जो उसके महान् पैग़म्बरों

के सबसे प्रधान प्रयत्न रहे हैं। भौतिक हितों की उपेक्षा किये बिना इन बातों पर प्राथमिक ध्यान देना चाहिए। श्री अरविन्द के शब्दों में "कष्टों पर विजय प्राप्त किये हुए बुद्ध की शान्ति एवं दया, आत्मा का परमात्मा से एकीकरण में मग्न विचारक की तपस्या, आत्मा की प्रधान ज्योति के सदृश हो जाने की इच्छाओं से परे पहुँच जाना, शुद्ध हृदय के प्रेम तथा विश्वव्यापी प्रेम में मग्न ऋषि का परमानन्द तथा अहम् की भावना से पूर्ण इच्छा एवं वासना से ऊपर पहुँचे हुए कर्मयोगी की इच्छा," आदि वे बातें हैं जिन्हें भारत ने सबसे अधिक महत्व दिया।" भारतवर्ष में समस्त मानवता को अपने आप नष्ट होने से बचाने तथा सभ्यता की उस स्थिति तक ले जाने की शक्ति है कि वह पूर्ण और गौरवयुक्त हो जाय (श्री अरविन्द–दि प्राफेट आफ लाइफ डिवाइन–हरिदास चौधरी पृष्ठ ७८)।

आज का विश्व-संकट

इस समय मानवता उस विकासशील संकट–काल से गुजर रही है जिसमें उसका भविष्य छिपा हुआ है.........मानव ने सभ्यता की ऐसी व्यवस्था बनायी है जो उसके मस्तिष्क की सीमित क्षमता से बहुत बड़ी हो गई है...... विज्ञान ने मनुष्य को विश्वव्यापी शक्ति की अनेक शक्तियां दे दी हैं और मानवता के जीवन को भौतिकरूप में एक बना दिया है; परन्तु जो इस विश्वव्यापी शक्ति का उपयोग करता है वह छोटा सा मानव है या सामुदायिक अहम्वाद है जिसमें उसके ज्ञान एवं गतिविधि को देखते हुए कुछ भी विश्वव्यापकता नहीं है और जिसमें ऐसा आभ्यन्तरिक ज्ञान या शक्ति नहीं है जो इस भौतिक जगत में जीवन की सच्ची एकता, मस्तिष्क की सच्ची एकता या आध्यात्मिक एकता पैदा कर सके। केवल संसार में मस्तिष्क की संघर्षरत विचारधाराएँ वैयक्तिक या सामूहिक (भौतिक) चाह, इच्छा तथा आवश्यकता, जीवन सम्बन्धी इच्छाओं या लिप्साओं, अज्ञानतापूर्ण जीवन की गति, व्यक्तियों, जातियों एवं राष्ट्रों की क्षुधा एवं मांग, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक सिद्धांतों के संघर्ष और ऐसे नारों तथा विकारों का बोलबाला है जिसके लिए लोग मारने–मरने को तत्पर हैं.........मानवीय मस्तिष्क तथा जीवन के विकास को बढ़ती हुयी विश्वव्यापकता की ओर जाना ही होगा; परन्तु अहम्वाद या विभाजित मस्तिष्क के आधार पर विश्वव्यापकता की ओर जाने से प्रतिकूल विचारधाराओं तथा गतियों का जन्म होगा, भयंकर शक्तियों की उलट-पुलट होगी तथा ऐसी अराजकतापूर्ण स्थिति हो जायगी जिसमें समतापूर्ण

जीवन की सृष्टि असंभव हो जायगी क्योंकि उसमें समता लाने वाली सक्रिय भावना का अस्तित्व नहीं होगा। क्रमिक विकास की ज्योति भौतिक जीवन में उस विकास की ओर बढ़ रही है जिसकी सहायता के लिए और अधिक व्यापक मस्तिष्क, जागरूक आत्मा की आवश्यकता है और उसको व्यवस्थित रखने के लिये आध्यात्मिक आत्मा को उन्मुक्त करने की आवश्यकता है......... सम्पूर्ण जीवन तथा सम्पूर्ण प्रकृति को आध्यात्मिक दिशा में पूर्णरूपेण ले जाने से ही मानव मानवता से परे की स्थिति में पहुंच सकता है।" (दि लाइफ डिवाइन–श्री अरविन्द–पृष्ठ ९३३–९३८, अमरीकी संस्करण)।

परिशिष्ट "घ"

आदिवासी तथा क़बायली संस्कृति

भारत में भिन्न-भिन्न प्रकार की अनेक जातियाँ रहती हैं और उनका किसी प्रकार के सम्बन्ध के अनुसार वर्गीकरण करना अत्यन्त कठिन है। इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में उन जातियों का वर्णन किया जा चुका है जो इस देश में रहती हैं। भारत की आदि वासी या क़बायली जातियाँ प्रोटो आस्ट्रोलाइड, नेग्रिटो तथा मंगोलायड जातियों से सम्बन्धित हैं।

कई शताब्दियों से गुजरती हुई इन तीन जातियों की असंख्य जातियाँ हो गई जिनमें परस्पर विवाह सम्बन्ध होते थे। आगे चलकर इन जातियों की अनेक उप जातियां हो गयीं। इन उप जातियों में अपने ही अन्दर विवाह सम्बन्ध करना निषिद्ध हो गया। इन उप-जातियों के लोगों के प्राचीन नाम तथा पुराने रस्म-रिवाज आज तक प्रचलित हैं।

इस समय भारतवर्ष में २५० लाख से अधिक आदिम जातियाँ हैं जो देश भर में बिखरी हुई हैं। इनमें से नागा, गारो, कट्टारी, खासी, मिकिर तथा लुशाई नामक आदिम जातियाँ अधिक प्रसिद्ध एवं मनोरंजक हैं।

बिहार में मुख्य आदिम जाति "सन्थालों" की है और इनकी जन संख्या दस लाख से अधिक है। उड़ीसा तथा भारतवर्ष के कुछ अन्य भागों में भी यह जाति पाई जाती है। छोटा नागपुर के मैदानी प्रदेश में "उड़ाओं," मुंडों, हो, कुछ संथालों, खरिया तथा अन्य छोटी-छोटी आदिम जातियों की आबादी है। इन छोटी जातियों में "असुर" भी शामिल है जो बहुत प्राचीन है। उड़ीसा में आदि वासियों की संख्या अधिक है। इनमें भुईया, भूमिज, खोंड (जिसमें किसी समय नर बलि की प्रथा प्रचलित थी), सवरा, गड़ाबा तथा रोपोजा नामक जातियाँ उल्लेखनीय हैं। कहा जाता है कि सवरा जाति के एक व्यक्ति ने रामचन्द्र के बनवास के समय उन्हें एक बार भोजन कराया था। पोरोजा जाति के लोगों में आभूषण पहनने तथा शृङ्गार आदि करने की अधिक रुचि है। बंगाल नागपुर रेलवे के दक्षिण के पहाड़ों

म जुआंग नामक प्राचीन जाति के लोग रहते हैं। ये लोग आज भी कपड़ों के स्थान पर पेड़ों के पत्ते पहनते हैं।

मध्य प्रदेश में बीस लाख से अधिक गोंड रहते हैं। यह जाति किसी समय राजवंश की थी और उसी के नाम पर इस प्रदेश का नाम गोंडवाना पड़ गया। इसी जाति में "परधान" नामक एक उपजाति होती है जो उत्तर भारत की भाट जाति के समान हैं। इस उप जाति के लोग गाना गाते हैं, तथा कविता कहानी आदि सुनाते हैं। बैंगा नामक एक अन्य जाति के लोग जंगली प्रदेशों में रहते हैं। उन्हें जंगलों के विषय में अत्यधिक ज्ञान होता है और वे अपने जादू-टोना आदि के लिए भी प्रसिद्ध हैं। महादेव पहाड़ी में कोकू नामक आदिम जाति के लोग रहते हैं।

बम्बई प्रान्त तथा राजपूताना के राज्यों (राजस्थान) में भील लोग रहते हैं। पश्चिमी भारत में भी ढोड़िया, ठाकुर, वर्ली, कटकरी आदि कुछ आदिम जातियां रहती हैं।

आधुनिक विश्व में जितनी आदिम जातियां हो सकती हैं उन सब से अधिक प्राचीन कुछ आदिम जातियां दक्षिणभारत में हैं। इन जातियों के नाम कुरुम्बेर कानिकर, इरुलर तथा यनादी हैं। इन जातियों के लोग पूर्वी मैसूर के जंगल के बीच और नल्लमलय पहाड़ी के ऊपर से होते हुए कार्डमय पहाड़ी से लेकर नीलगिरि पहाड़ तक में रहते हैं।

उनकी संस्कृति

आदिम जातियों की सामान्य संस्कृति के विषय में कुछ कहना अत्यन्त कठिन है। उनमें सांस्कृतिक विकास के विभिन्न स्तर के लोग मिलते हैं। सुविधा की दृष्टि से हम मुख्यत: उनके चार सांस्कृतिक वर्ग करते हैं। प्रथम दो वर्गों में वे लोग आते हैं जो पहाड़ों में रहते हैं और वास्तव में प्राचीन जाति के लोग हैं। वे लोग आज भी अपनी प्राचीन प्रथाओं को मानते हैं और उनके रहन-सहन के तौर-तरीके भी प्राचीन हैं। उनके धार्मिक जीवन, उनके परिवारिक संघटन, उनकी कलाकृतियों एवं कला सम्बन्धी रुचि तथा उनकी पौराणिक कथाओं में आज भी वही प्राचीनता पाई जाती है। इन सरल आदिवासियों को दो भागों में बाँटा जाता है। एक "सब से प्राचीन" और दूसरा उससे "कम प्राचीन"। सब से प्राचीन आदि वासियों में

निम्नलिखित विशेषताएँ पायी जाती हैं। इन लोगों का सामुदायिक जीवन सुसंगठित और सुदृढ़ होता है। कहा जाता है कि ये लोग एक चौकोर मैदान के चारों ओर अपने घर बनाते हैं। इनमें से कुछ लोग एक घेरे के अन्दर अपने घर बनाते हैं और एक के घर के दरवाजे के सामने दूसरे के घर का दरवाजा होता है। इन सब लोगों का एक सामान्य क्लब (समाज) होता है जिसमें सब का आर्थिक योग रहता है। उनके सामाजिक जीवन में यह क्लब महत्वपूर्ण भाग लेता है। इस प्रकार, उनके गाँवों की बनावट उनके सामुदायिक रहन-सहन पर जोर देती है। यह उनकी पहली विशेषता है। उनकी दूसरी विशेषता यह है कि वे लोग आज भी आर्थिक दृष्टि से एक दूसरे का हाथ बटाते हैं और परस्पर सहयोग करते हैं।

आदिवासियों के गाँवों में बड़ी एकता रहती है। उनके गाँवों में सरकारी तथा सम्मिलित खलिहान तथा अन्न भंडार होते हैं। करों में अर्थात् लगान में समानता रहती है। समुदाय के गरीबों की आवश्यकताओं के लिए सामान्य अन्न तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के भंडार होते हैं। सम्पत्ति सामान्य होती है तथा भूमि का वितरण समुदाय के द्वारा होता है। संक्षेप में यह कहना चाहिए कि इन आदिम जातियों में प्राचीन साम्यवाद है। इनका जीवन अब खेती तक सीमित है। इन लोगों ने खेती करने के अपने कुछ निजी तरीके भी निकाले हैं। इनके खेती करने का एक तरीका विशिष्ट है जिसे "कुदाल-खेती" कहा जाता है। उदाहरणार्थ, आसाम का "झूम" खेतिहर पहले जंगल में एक भाग की सफाई करता है; उसके बाद गिरे हुए पेड़ों और डालों में आग लगा देता है और तदुपरान्त उनकी राख में बीज बोता है। इसमें मिट्टी को गहराई तक नहीं जोता जाता। सेम, लोबिया, दाल आदि के पौधे लगाने के लिए केवल ऊपर की मिट्टी खुरच दी जाती है। जिस जंगल को खेती के लिए साफ किया जाता है उसमें दो या तीन वर्ष तक खेती होती है। बाद में उसे छोड़ दिया जाता है और जंगल के नये टुकड़े में खेती की जाती है। इस प्रकार की खेती उनके जीवन का अंग और पौराणिक परम्परा बन गयी है। उनके जीवन का अधिक भाग इसी व्यवसाय में व्यतीत होता है।

ये लोग व्यवहार में ईमानदार, सच्चे, खरे, भोले तथा आडम्बरहीन होते हैं। नवागन्तुकों से वे सकुचाते और शरमाते हैं। इनमें अपराध बहुत कम

होते हैं और व्यभिचार (परस्त्रीगमन) बहुत ही कम होता है अर्थात् इसकी संख्या नगण्य है। व्यभिचारी को तिरस्कृत किया जाता है और उसे कठोर दंड दिया जाता है। उसे नंगा करके कोड़े लगाए जाते हैं और गाँव भर में घुमाया जाता है। इनके पारिवारिक जीवन में भी अधिक विलासिता या असंयम नहीं होता। ये लोग विश्वासपात्र तथा वफादार होते हैं। इनमें कपड़े नहीं पहने जाते। यहाँ तक कि स्त्रियाँ तक कपड़े नहीं पहनतीं। इस प्रकार के आदिवासी बस्तर रियासत की पहाड़ी मरिया, केंवझर की जुआंग तथा उड़ीसा की कुछ आदिमजातियों में पाये जाते हैं।

"कम प्राचीन" आदिम जातियाँ भी भारत के दूरस्थ भागों में पायी जाती हैं और ये भी रूढ़िवादी हैं। सबसे अधिक प्राचीन लोगों को देखते हुए इनमें कुछ-कुछ परिवर्तन हो रहा है। उदाहरणार्थ, ये लोग सामुदायिक समाज से व्यक्तिवादी समाज में आ रहे हैं। अब, चौकोर मैदान के चारों ओर या एक घेरे में घर नहीं बनाये जाते। अब, वे गाँव के सामान्य भवनों (क्लब) में नहीं रहते। आर्थिक रूप में अब वे साम्यवाद में विश्वास नहीं करते। उनके जीवन में प्रतियोगिता की भावना आ गयी है। उनमें गरीब-अमीर का भेद भी आ गया है और सम्पत्तियाँ भी वैयक्तिक हो गयी हैं। अब कुदाल-खेती भी धार्मिक परम्परा नहीं बल्कि आदत मात्र रह गयी है। खेती के नये तरीकों या हल के उपयोग करने पर अब कोई प्रतिबन्ध (धार्मिक) नहीं रह गया है। पशुधन का भी विकास हुआ है। नवागन्तुकों से शरमाने की भावना भी अब समाप्त हो गई है। सभ्य जीवन से उनका सम्पर्क बढ़ता जा रहा है। वेश-भूषा में नये-नये ढंग प्रचलित हो गये हैं। उनमें ईमानदारी तथा सादगी कम रह गयी है। कहा जाता है कि यह सब शहरों की तथा कथित सभ्य जनता के साथ उनके सम्पर्क होने का परिणाम है।

तीसरे वर्ग में वे आदिवासी आते हैं जो संख्या में सबसे अधिक हैं। इनकी संख्या संभवत २०० लाख से ऊपर है। वे अपने पुराने रस्मरिवाजों को छोड़ रहे हैं और अपने सभ्य पड़ोसियों के विकृत तरीकों को अपना रहे हैं। भारत में सम्पर्क तथा यातायात साधनों को विकसित हो जाने के कारण उनका सरकार तथा व्यापारियों या महाजनों से भी सम्पर्क हो गया है। उदाहरणार्थ, जंगलों को साफ करने तथा खनिज धातुओं का विकास करने के प्रयत्नों में सरकार को इनकी भूमि में अनाधिकार प्रवेश करना पड़ा तथा

उनकी प्रथाओं एवं रस्मरिवाजों को दबाना पड़ा। उदाहरण के रूप में भूमि स्वामित्व तथा हस्तांतरण के सम्बन्ध में आदिवासियों के जो नियम थे उनका स्थान उस कानून ने ले लिया जिसने आदिवासियों को उनकी सम्पत्ति से वंचित कर दिया। आदिवासी लोग अब ऋण भी लेते हैं। सरकार का अपराध संबंधी (फौजदारी) कानून कई रूप में उनकी प्रथाओं के विरुद्ध है। इन सब का परिणाम यह हुआ कि वे लोग न्याय की नयी व्यवस्था से भ्रमित हो जाते हैं और कानून से बचने के लिए बेईमानी का सहारा लेते हैं। इन सब के परिणामस्वरूप उनकी सामाजिक एकता, उनकी ईमानदारी तथा उनकी वफादारी का अन्त हो गया। साथ-साथ उनमें अन्यान्य सामाजिक बुराइयां भी पैदा हो गयीं। इन्द्रिय संबंधी रोग, यक्ष्मा, संक्रामक रोग आदि भिन्न-भिन्न रोग उनमें फैल गये। वेश्या-वृत्ति जैसे सामाजिक पापाचार भी उनमें बढ़ते जा रहे हैं। चूंकि वे प्रायः कपड़े नहीं उतारते इसलिए उनमें गंदगी बढ़ती है। उनके कपड़ों के गीले रहने के कारण उनमें खुजली, चर्मरोग तथा अन्यान्य रोग फैल जाते हैं। भद्दे तथा विदेशी ढंग के मकानों के बनते जाने से उनके प्रदेश का सौन्दर्य विकृत होता जा रहा है। जिस आदवासी-जीवन में एकता, पूर्णता तथा समता थी उसके अब टुकड़े-टुकड़े होते जा रहे हैं। उनका जीवन व्यक्तिवादी बनता जा रहा है। उनमें आधीनता, कायरता और गरीबी आ गयी है। सभ्य जीवन से उनका सम्पर्क उस प्राचीन आदिवासी जीवन को समूल छिन्न-भिन्न तथा नष्ट कर रहा है जिसमें परम्परागत नृत्य होते थे, जिसका रहन-सहन स्वस्थ था और जिसकी पृष्ठभूमि प्राकृतिक थी।

अन्त में आदिवासियों का जो चौथा वर्ग है उसमें आदिम जाति के उच्च वर्ग के (धनी-मानी) लोग हैं। इनमें बड़े-बड़े भील तथा नागा सरदार, जमीन्दार, जागीरदार तथा कुछ राजा लोग भी हैं। ये लोग अधिकांशतः सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत हैं। उदाहरण के लिए इनमें से एक आज भारतीय संसद के सदस्य हैं। वे आदि-वासियों के हितों के पक्ष में जोरदार आवाज बुलन्द करते हैं और इसके लिए बहुत लड़ते रहते हैं। ये लोग हिन्दू बना लिए गए हैं और इनमें से कुछ लोगों ने हिन्दू नाम तथा रहन-सहन के आधुनिक तरीकों को अपना लिया है। उनके प्रदेश या घरों के कुछ भागों में अब भी पुरानी प्रथाएँ कायम हैं। उदाहरणार्थ, सारंगगढ़ के गोंड राजा ने अपने महल में अपने प्रिय पशु कछुए के चित्र अंकित कराए हैं और सारे

महल में ऐसी ही चित्रकारी की सजावट है। उस महल के बीचोबीच में फूस की एक छोटी सी झोपड़ी है जिसमें पुराने आदिम जाति के देवताओं की पूजा की जाती है। इस आदिम जाति के लोगों में से बहुत से ईसाई हो गए हैं। इनमें से कुछ लोगों ने सरकारी नौकरियां कर ली हैं। इन लोगों ने सकुचाने या शरमाने की आदत छोड़ दी है। ये लोग संस्कृति–सम्पर्क के युद्ध में विजयी हुए हैं। अपनी विशेषता, मौलिकता, तथा चरित्र को क्षति पहुँचाए बिना ये लोग सभ्य हुए हैं।

ये शिकार बहुत खेलते हैं, और मृतात्माओं को रिझाते हैं। भूत–प्रेत, जादू–टोना तथा अन्यान्य अन्धविश्वास इनमें बहुत प्रचलित हैं। इनमें गाय की कुरबानी भी प्रचलित है। ये लोग राक्षसों की भी पूजा करते हैं और उत्सव–समारोहों पर रक्त-पान तथा मद्य-पान करते हैं। अस्तु हम यह कह सकते हैं कि इनकी धार्मिक प्रथाओं तथा शैव धर्म की कुछ प्रथाओं में निकट सामंजस्य है।

इन लोगों की दिनचर्या यह है कि ये लोग नित्य सबरे उठते हैं। तूंबी के पानी से हाथ–मुँह धोकर बासी माड़ (चावल का) पीते हैं और तत्पश्चात् अपने-अपने काम पर जाते हैं। बुड्ढे लोग चटाइयाँ और टोकरियाँ बुनते हैं, स्त्री–पुरुष खेती करते हैं और बच्चे भेड़–बकरी चराते हैं या छोटी-छोटी चिड़ियों का शिकार करते हैं। बाद में वे खेलते-कूदते तथा बंसी आदि वाद्य यंत्र बजाते हैं। सायंकाल सूर्यास्त के बाद ये लोग ताड़ी पीटते हैं। फिर बच्चों का आमोद-प्रमोद होता है। उत्सव या समारोह का दिन हुआ तो बालक–बालिकाएँ फूलों तथा आभूषणों से सुसज्जित होकर नृत्य करते हैं। और वयस्क लोग पूजा-पाठ करते हैं। विवाह भी आनन्ददायक उत्सव हैं। खुले मकानों में अतिथि तथा अन्यान्य लोग एक साथ भोजन करते हैं, नृत्य करते हैं और अन्य प्रथाएँ मनाते हैं। अविवाहित युवक पत्नी की खोज में तथा अविवाहित युवतियाँ पति की खोज में नृत्य करती हैं।

इनकी भाषाएँ अनेक हैं। पुरानी भाषाओं को अब अपने को जीवित रखने के लिए संघर्ष करना होगा। इनकी भाषाओं में सब से प्रमुख गोंडी है जिसका उपयोग १५ लाख आदि–वासी करते हैं। इसकी कई शाखा-भाषाएँ हैं और यह द्रविड़ तथा आन्ध्र भाषाओं से मिलती जुलती है। इन शाखा–भाषाओं में कुरुख और कोंध प्रमुख हैं। मुण्ड भाषाओं की एक

दूसरी श्रेणी है। ये भाषाएँ छोटा नागपुर तथा उसके आस-पास के स्थानों में बोली जाती हैं। ये भाषाएँ अपनी-अपनी जातियों की पृथक-पृथक हैं। जैसे संथाली भाषा संथालों द्वारा बोली जाती है। "सवर" तथा "गड़ाबा" आदि जातियों की विशेष भाषाएँ हैं। आसाम में शाखा-भाषाओं के अतिरिक्त आदि वासियों की १६ भिन्न-भिन्न भाषाएँ हैं। बहुत से आदिवासी एक से अधिक भाषाएँ बोलते हैं और अपनी पुरानी भाषाओं को तेजी से भूलते जा रहे हैं। यह स्थिति सुविधाजनक नहीं है। पुरानी भाषा में परम्परागत स्मृतियाँ होती हैं और उसके भूलते जाने से उनकी प्रथाओं तथा परम्पराओं पर विस्मृति का पर्दा पड़ता जा रहा है।

आजकल भारत में सांस्कृतिक समन्वय की जो माँग की जा रही है उसमें इन लोगों को भी अवश्य शामिल कर लिया जाना चाहिए। किन्तु अभी तक इन लोगों को सुसंस्कृत बनाने का कार्य अच्छी तरह विचार किए जाने के बाद सुनियोजित रूप में नहीं किया गया है। इसका परिणाम न केवल यही हुआ कि उनमें बुराइयाँ और बीमारियाँ बढ़ गयी, या उनमें विदेशी वेश-भूषा का प्रसार हो गया, या उनमें शहरों के लोगों की धूर्तता और चालाकी आ गयी, होली की अश्लीलता फैल गयी, जूआ खेलना, वेश्यावृत्ति आदि फैल गयी या पुराने गीत-नृत्यों का अन्त हो गया, अपितु उनकी परम्परागत परिस्थिति और पृष्ठ-भूमि का तीव्रगति से अन्त हो गया और उसके स्थान पर कोई समन्वयकारी संस्कृति नहीं आयी। इस प्रकार प्राचीन आमोद-प्रमोद के स्थान पर एकरंगी और दुःखद ग्राम्य जीवन आ गया। अतः, इन आदिम जातियों के रहन-सहन की सही जाँच-पड़ताल करने की आवश्यकता महसूस की जा रही है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि "जो जाति नृत्य करती है वह मरती नहीं है।" उनकी संस्कृति में ऐसे अनेक तत्व हैं जिनको बनाए रखना उचित है और जो बनाए रखने के योग्य हैं। उदाहरण के लिए, उनका सादा तथा स्वाभाविक जीवन, उनके सुन्दर नृत्य, उनके आकर्षक एवं मधुर गीत-संगीत, बच्चों के मनोरंजक खेल-कूद, उनके रंग बिरंगे उत्सव, सामुदायिक जीवन की उनकी परम्परा, सबके सुःख-दुःख में सबका हाथ बंटाना, उनकी सुन्दर कलाकृतियाँ, उनके मकानों में की हुई चित्रकारी व सजावट, उनके कंघे आदि अन्य वस्तुएँ, स्त्रियों के प्रति उनका सम्मानपूर्ण भावना, आदि बातें ऐसी हैं जिनको सुरक्षित बनाए रखना चाहिए। उनमें बाल-विवाह या छोटी अवस्था में ही गर्भवती हो जाना हेय माना जाता है। उनमें सम्पत्ति सम्बन्धी कोई

प्रतिबन्ध नहीं और उनमें आजीवन विधवा रहने का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। उनमें पारिवारिक भक्ति है। उनकी स्त्रियाँ सभी कार्यों में पति का हाथ बंटाती हैं। कई आदिम जातियों में बच्चों को सामान्य शिक्षण देने तथा अनुशासित बनाने की व्यवस्था है। उनमें शिरच्छेद करने, भूत-प्रेत में विश्वास, अंधकार से डरने, अनेक अन्ध विश्वास, जादू-टोना, आदि अन्य असभ्य धार्मिक प्रथाओं जैसी बुराइयाँ भी हैं। इनमें से कई बुराइयाँ मिटती जा रही हैं और जो शेष रह गयी हैं उनके विषय में उनको सच्चा ज्ञान कराने से ही उनकी मुक्ति हो सकती है। जब उन्हें सहानुभूतिपूर्वक सच्चा धर्म बताया जायगा, सच्ची शिक्षा दी जायगी और उनका वास्तविक सुधार किया जायगा तब ये सभी बातें समाप्त हो जायेंगी। अतः इन लोगों का तीव्रगति से जो आर्थिक ह्रास तथा नैतिक पतन होता जा रहा है उसे हमें रोकना चाहिए। उनमें जो मनोवैज्ञानिक निराशा फैलती जा रही है उसको भी रोकना अत्यन्त आवश्यक है। "आदिवासी लोग भारत की बनी हुई वास्तविक स्वदेशी वस्तुएं हैं जिनके समक्ष और जिनकी उपस्थिति में हर एक विदेशी है। ये लोग यहाँ के प्राचीन निवासी हैं और यहाँ पर उनके हजारों वर्ष पुराने नैतिक अधिकार हैं। वे यहाँ सबसे पहले आये थे; इसलिए, हमें पहले उनका सम्मान करना चाहिए।" (वेरियर एल्विन)

भारतीय ग्राम संस्कृति

आदिवासियों की संस्कृति कई रूपों में उस ग्राम-संस्कृति की नींव (आधार) है जो हमारे देश की साधारण जनता में प्रचलित है। हमारी साधारण जनता का बहुत बड़ा बहुमत गाँवों में रहता है। वे भारत की प्राचीन संस्कृति के उत्तराधिकारी हैं। उनकी जड़ें यहाँ की प्राचीन मिट्टी में जमी हुयी हैं। ऐसे लोगों के लिए देश की परम्पराओं या हमारे अतीत से सम्पर्क करने के लिए जागरूक प्रयत्न करने की आवश्यकताओं का बौद्धिक विचार-विमर्श करने का कोई प्रश्न नहीं है। यहाँ के एक ग्रामीण के लिए पुरानी संस्कृति स्वाभाविक, उसके जीवन का एक अंग तथा उसके जीवन का एक ढाँचा है।

भारतीय संस्कृति का आधार धार्मिक है और इसीलिए यहाँ का ग्राम्य-जीवन भी मौलिक रूप में धार्मिक है। गाँवों में धर्म के सम्बन्ध में बहुत अन्धविश्वास भी हैं फिर भी ग्रामीण लोग भारत के महान् सत्यों से

परिचित हैं। और वे अपने ढंग पर अपने कर्मकाण्ड, पूजा-पाठ, नृत्य, गीत, नाटक आदि में उन सत्यों को प्रकट करते हैं।

भारतीय ग्रामीण की अपनी निजी कलाएँ हैं और उनमें सादगी है। इसके साथ-साथ ग्रामीणों के जीवन में अत्यधिक सौन्दर्य है। वे प्रकृति की आधारभूत गतियों के अनुकूल रहते तथा चलते हैं। उनमें शहर के लोगों जैसी परेशानी और बेचैनी नहीं रहती। उनका जीवन स्वच्छ तथा निर्मल होता है जिसके कारण वे स्वभावतः सौन्दर्यग्राही होते हैं और उनमें सुन्दर शृंगार आदि का स्वाभाविक ज्ञान होता है। भारतीय कलाओं में संगीत-कला सबसे महान् है। गांवों के जर्रे-जर्रे में संगीत भरा हुआ है—प्रेम-गीत, बच्चों को सुलाने के गीत, शोक-गीत, विरह-गीत, हल जोतने के गीत, बीज बोने तथा फसल काटने के गीत, जन्म-विवाह सम्बन्धी गीत, ईश्वर-भक्ति के गीत आदि तरह-तरह के गीतों से गांवों का वातावरण गूंजता रहता है इनमें से कई गीत वहीं के बनाए हुए होते हैं और कई भारत के धार्मिक महापुरुषों के बनाए हुए हैं। इस प्रकार संगीत इस देश में विभिन्न युगों से प्रवाहित हो रहा है। रामायण और महाभारत सरीखे सर्वोत्तम ग्रन्थ ग्रामीणों की सम्पत्ति के अंग बन गए हैं। उनके कई गीतों में गूढ़ उपदेश निहित हैं। धर्म, उत्सव, त्योहार, जन्म, विवाह, बीज बोने आदि भिन्न-भिन्न उत्सवों से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के नृत्य भी होते हैं। इनमें से कई नृत्य सामूहिक होते हैं और कुछ नृत्यों के साथ संगीत (सामूहिक) भी होता है। और इस प्रकार के नृत्यों में पूरी कहानी सुनायी जाती है। कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त ही गीत बनाए भी जाते हैं। इन नृत्यों में पश्चिमी तट का फसल काटने के समय नृत्य की कला बहुत विकसित कला है। गोलाकार में खड़ी लड़कियाँ यह नृत्य करती हैं। उसमें अंग-प्रत्यंग तथा हाथों की भाव-भंगिमा और पैरों की ताल बड़ी ही सुन्दर और रोचक होती है। कला-कौशलों में भारतीय दस्तकारी (कला-कौशल) बहुत प्राचीन है। किसी मुहल्ले या गांव में पुराने जमाने से कई कारीगर रहते आ रहें हैं। इनकी हुनर और कारीगरी परम्परागत है और इनमें चक्र, स्वस्तिका या कमल जैसी कुछ कारीगरियों का धार्मिक महत्व है। भारत का वस्त्रोद्योग तो बहुत ही विख्यात है। यहाँ कढ़ाई, पच्चीकारी आदि का काम भी बहुत सुन्दर होता है। काश्मीर के दुशाले या पंजाब में हाथ के कते-बुने कपड़ों पर होने वाले कढ़ाई, पच्चीकारी तथा जरी के काम, बंगाल के

"कंठा" तथा उत्तर प्रदेश के "चिकन" के काम आदि पुराने जमाने से यहाँ होते आ रहे हैं। गुजरात में एक अन्य प्रकार की कढ़ाई का काम होता है जिसमें किसी फूल या चिड़िया की आँख के बीच में गुंथी हुयी जंजीर में कांच के छोटे-छोटे टुकड़े गुथे रहते हैं। यह बहुत सुन्दर और आकर्षक होते हैं। सुन्दर खिलौने, मिट्टी के बर्तन, पीने के घड़े, लकड़ी के सामान, कढ़े हुए बिछौने, सुन्दर टोकरियां, मकानों के दरवाजों तथा दीवालों पर चित्रकारी आदि अन्य दस्तकारी के भी काम भारतीय गाँवों में होते हैं। घर-घर में स्त्रियां भिन्न-भिन्न त्योहारों पर दीवालों पर देवताओं, मनुष्यों, पशु-पक्षियों आदि के ऐसे-ऐसे सुन्दर-सुन्दर चित्र बनाती हैं जिनमें उन त्योहारों से सम्बन्धित परम्परागत कहानियों से सम्बन्ध रहता है।

धर्म के क्षेत्र में, बड़े-बड़े देवताओं के अतिरिक्त गाय, सर्प आदि पशुओं तथा पेड़ों की भी गाँवों में पूजा होती है। वास्तव में, सभी प्रकार के पशु-पक्षियों तथा प्रकृति की सभी चीजों को हमारे देश में देवता का रूप दे दिया गया है और उन सब की पूजा की जाती है। इन सभी विषयों तथा नृत्यों और गीतों में यहाँ के ग्रामीण आदिवासियों से मिलते-जुलते हैं। इन सब की पूजा की दार्शनिक पृष्ठभूमि यह है कि सभी वस्तुएँ ईश्वर के प्रकट स्वरूप हैं इसीलिए उनकी पूजा के द्वारा परमात्मा की पूजा की जाती है।

ग्राम्य जीवन किसी भी माने में बहुत आदर्श जीवन नहीं है। आजकल आर्थिक समस्याओं, नैतिक पतन तथा हमारी संस्कृति के वर्तमान संक्रान्तिकाल से जनित बुराइयों के कीटाणु हमारे गाँवों में भी प्रविष्ट हो गये हैं। मशीन की बनी हुयी सामग्रियों की प्रतिद्वन्द्विता के साथ-साथ पतन के बीज ग्राम्य-जीवन में भी प्रविष्ट हो गए हैं। ग्रामवासी मशीनों की बनी हुई सस्ती वस्तुओं को खरीदना पसन्द करते हैं और इस प्रकार वे अपनी संस्कृति के सौन्दर्य को गवां रहे हैं। धर्म के मामले में गाँव वाले रूढ़िवादी तथा प्रतिक्रियावादी हो गए हैं। अतः ग्राम्य-संस्कृति के स्थायी तत्वों को अस्थायी एवं अन्ध विश्वासपूर्ण तत्वों के चंगुल से छुड़ाने की आज बड़ी आवश्यकता है। आधुनिक भारत में ग्राम्य संस्कृति को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया जा रहा है। टैगोर, उदयशंकर, जैमिनीराय सरीखे व्यक्तियों ने अपने संगीत, नृत्य, चित्र आदि के द्वारा इस दिशा में बड़ा योग दिया है।

इस प्रकार आधुनिक भारत में आदिवासी तथा ग्राम-संस्कृति की अच्छाइयों को बनाए रखने के लिए गंभीर प्रयत्न हो रहे हैं।

परिशिष्ट "ङ"

भारतीय संगीत की सुर-व्यवस्था

भारतीय संगीत की सुर-व्यवस्था उत्तरी अर्थात् हिन्दुस्तानी पद्धति तथा दक्षिणी अर्थात् कर्नाटक की पद्धति में विभाजित है। इन दोनों पद्धतियों में सैद्धान्तिक के बजाय व्यावहारिक अन्तर अधिक है और इनमें भिन्न-भिन्न प्रकार के सुर, राग और ताल हैं। निम्नांकित चित्र में उत्तरी सुर-व्यवस्था की पश्चिमी (योरोप) सुर-व्यवस्था से तुलना की जा रही है :—

भारतीय सुरों के नाम	संकेत	श्रुतियाँ या "अन्तर"	हिन्दू सरगम के तुलनात्मक आरोहावरोह	पश्चिमी नाम	पश्चिमी आरोहा-बरोह
षड्ज्	सा	४	२४०	डो	२४०
ऋषभ्	रे	३	२७०	रे	२७०
गान्धार	गा	२	३००	मि	३००
मध्यम	मा	४	३२०	फा	३२०
पंचम	पा	४	३६०	सोल	३६०
धावत	धा	३	४०५	ला	४००
निषाद	नि	२	४५०	सि	४५०

दक्षिणी पद्धति निम्न रूप में इससे भिन्न है :—

सा (डो), रे (रेब), गा (रे), मा (फा), पा (सोल), धा (लैब), नि (ला)।

हिन्दू संगीत की पौराणिक विद्या के अनुसार इन सातों सुरों के सात निश्चित रंग हैं और वे निम्न पशुओं की बोलियों के समान हैं :—

सुरों के नाम	रंग	पशुओं की बोली
सा	कमल के पत्ते का रंग	मोर की बोली
रे	लाल रंग	चंडूल पक्षी और गाय की बोली
गा	सुनहला रंग	बकरे की बोली
मा	पीलापन सहित सफेद रंग	बगुला की बोली
पा	काला रंग	बुलबुल की बोली
धा	पीला	घोड़े की बोली
नि	सब रंगों का मिश्रण	हाथी की बोली

यह स्मरण रखना चाहिए कि पश्चिमी पद्धति से हमारी पद्धति की पूरी तुलना नहीं हो सकती क्योंकि हमारे मद्धिम और तेज सुरों की तुलना कभी भी पश्चिमी सुरों से नहीं हो सकती।